नागार्जुन की काव्य-भाषा

पीएच.डी. (हिंदी) उपाधि के लिए प्रस्तुत शोध-प्रबंध

शोध निर्देशक

डॉ. ओमप्रकाश सिंह

शोधार्थी

कमलेश कुमार वर्मा

भारतीय भाषा केंद्र

भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

नई दिल्ली-110067

2009

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
Centre of Indian Languages
School of Language, Literature & Culture Studies
New Delhi-110067, INDIA

Dated: 04/ 12 / 2009

DECLARATION

I declare that the work done in this thesis entitled - **"NAGARJUNA KI KAVYA-BHASHA"** by me is an original work and has not been previously submitted for any other degree in this or any other University/Institution.

KAMLESH KUMAR VERMA
(Research Scholar)

DR. OMPRAKASH SINGH
(Supervisor)
Centre of Indian Languages
School of Language, Literature and
Culture Studies
Jawaharlal Nehru University
New Delhi-110067

PROF. CHAMANLAL
(Chairperson)
Centre of Indian Languages
School of Language, Literature and
Culture Studies
Jawaharlal Nehru University
New Delhi-110067

GRAM: JAYENU, TEL: (91-011) 26107676, 26167557 Extn.: 2217, Fax: (91-011) 26165886, 26106025

डॉ. ओमप्रकाश सिंह

के प्रति

सादर...

भूमिका

'नागार्जुन की काव्य-भाषा' वस्तुतः आधुनिक हिंदी कविता की भाषा की एक महत्वपूर्ण कड़ी है। खड़ी बोली हिंदी को काव्य-भाषा का दर्जा दिलाने का काम द्विवेदी युग में संपन्न हुआ। छायावादी दौर में इस काव्य-भाषा में अनेक विशिष्टताएँ उत्पन्न हुई। किंतु तब तक हिंदी को काव्य-भाषा का एक सहज, टिकाऊ रूप नहीं मिल पाया था। प्रगतिवादी दौर से लेकर आगे की कई काव्यधाराओं ने हिंदी काव्य-भाषा को स्वाभाविक रूप से विकसित किया। छायावाद के बाद हिंदी काव्य-भाषा जनता की भाषा से तो जुड़ी ही, उसका कलात्मक पक्ष भी सँवर गया। द्विवेदी-युग की काव्यभाषा जहाँ अभिधात्मक थी, छायावादी काव्यभाषा अतिरिक्त रूप से व्यंजनात्मक थी। द्विवेदी युग की काव्यभाषा का एक रूप आम आदमी की भाषा से जुड़ा हुआ जरूर था, परंतु उसका कलात्मक पक्ष उपेक्षित था। छायावादी काव्यभाषा का कलात्मक-पक्ष उच्च कोटि का था, तो उसका जुड़ाव आम आदमी की भाषा से प्रायः नहीं था। प्रगतिवादी दौर ने काव्य-भाषा की दृष्टि से एक नयी राह बनायी। हिंदी के लोक प्रचलित रूप को नयी कलात्मकता के साथ प्रगतिवादी कवियों ने प्रस्तुत किया। आधुनिक हिंदी कविता की भाषा के इतिहास में यह रेखांकणीय तथ्य है कि भविष्य की काव्य-भाषा को दिशा प्रदान करने का काम छायावादोत्तर काव्य-भाषा ने किया।

'नागार्जुन की काव्य-भाषा' का अध्ययन आधुनिक हिंदी कविता की भाषा के विकास-क्रम से जुड़ा है। प्रस्तुत शोध-प्रबंध में काव्य-भाषा के सैद्धांतिक-पक्ष, हिंदी काव्य-भाषा की विकास-प्रक्रिया और नागार्जुन की काव्यभाषा के विभिन्न पक्षों को विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है। प्रथम अध्याय 'काव्य-भाषा का स्वरूप' में कविता और भाषा के पारस्परिक संबंध पर विचार किया गया है। हिंदी में काव्य-भाषा-चिंतन की क्षीण परंपरा के बावजूद इसके महत्त्वपूर्ण पक्षों पर विद्वानों के विचार उपलब्ध हैं। यहीं यह भी विचारणीय है कि साहित्य की अन्य विधाओं की भाषा से काव्य-भाषा किस तरह अलग और विशिष्ट होती है।

द्वितीय अध्याय 'आधुनिक हिंदी काव्य भाषा और प्रगतिशील काव्य' में खड़ी बोली हिंदी के काव्य भाषा के रूप में विकास को रेखांकित किया गया है। भारतेंदु युग में खड़ी बोली हिंदी को काव्य-भाषा के रूप में स्वीकृति प्रदान करने पर असमंजस की स्थिति दिखाई पड़ती है। द्विवेदी-युग में खड़ी बोली हिंदी को काव्य-भाषा के रूप में प्रायः अपना

लिया गया, किंतु अभिधात्मकता और सपाटबयानी के कारण उसका स्तर ऊपर नहीं उठ पाया। छायावादी कविताओं में यह भाषा वैविध्यपूर्ण हुई। इसके बाद प्रगतिवादी कवियों ने कई तरह से हिंदी काव्य-भाषा को समृद्ध किया। शमशेर, मुक्तिबोध, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन आदि कीं देन को इस अध्याय में संक्षेप में मूल्यांकित किया गया है।

नागार्जुन हिंदी के अतिरिक्त संस्कृत, बँगला और मैथिली में कविताएँ लिखते हैं। चार भाषाओं में कविता लिखने वाले वे हिंदी में दुर्लभ कवि हैं। उनका बहुभाषी कविकर्म उनकी काव्य-भाषा की निर्मिति में किस तरह की भूमिका निभाता है - यह इस अध्याय में संदर्भ सहित प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। नागार्जुन की जातीय भाषा हिंदी और जनपदीय भाषा मैथिली का काव्य-भाषा के स्तर पर जो अंतःसंबंध है, उसके सूत्रों की तलाश तृतीय अध्याय में की गयी है।

चतुर्थ अध्याय इस शोध-प्रबंध की आत्मा है। नागार्जुन की काव्य भाषा का वर्गीकरण करके सोदाहरण विश्लेषण-व्याख्या करते हुए प्राप्त स्थापनाओं को इसमें प्रस्तुत करने का विनम्र प्रयास किया गया है। विरासत में प्राप्त काव्य भाषा की परंपरा के बीच नयी काव्य-भाषा के लिए आत्मसंघर्ष करते हुए नागार्जुन सामाजिक, राजनीतिक और आंदोलनधर्मी काव्य भाषा के रचयिता रहे हैं। उनकी काव्य-भाषा के विविधवर्णी स्वभाव को यह अध्याय बड़े फलक पर सामने रखने की एक कोशिश है।

अंतिम अध्याय में नागार्जुन की काव्य-भाषा के कला-पक्ष को प्रतीकों, बिम्बों, अप्रस्तुत योजना, शैली आदि के माध्यम से रखते हुए प्रयास किया गया है कि विश्लेषण से नए पक्षों का उद्‌घाटन हो सके।

नागार्जुन की काव्य-भाषा के बहुपक्षीय रूप की प्रस्तुति इस दृष्टि से की गई है कि हिंदी काव्य भाषा की विकास-परंपरा में नागार्जुन के योगदान को समझा जा सके। नागार्जुन केवल प्रगतिवादी-जनवादी कवि के रूप में नहीं जाने जा सकते। उनकी भाषा का दायरा इन राजनीतिक प्रतिबद्धताओं की सीमा के परे जाकर कवि की स्वतंत्र पहचान का प्रमाण प्रस्तुत करता है।

कमलेश कुमार वर्मा
02 दिसंबर 2009

आभार

प्रोफेसर मैनेजर पांडेय के प्रति, जिन्होंने प्रस्तुत विषय पर पीएच.डी करने का आदेश दिया।

डॉ. ओमप्रकाश सिंह के प्रति जिनके स्नेह के अभाव में यह शोध-प्रबंध पूरा हो ही नहीं सकता था।

भारतीय भाषा केंद्र के गुरुजनों एवं स्टाफ के प्रति, जिन्होंने इतने लंबे 'गैप' के बावजूद 'पहली-सी मुहब्बत' बिना माँगे दी।

* * *

पं. दीनदयाल उपाध्याय राजकीय बालिका महाविद्यालय, सेवापुरी, वाराणसी के सदस्यों के प्रति जिनके साहचर्य में जीवन बीत रहा है।

पूर्व प्राचार्य आदरणीय डॉ. महेन्द्र राम जी के प्रति, जो इस शोध-प्रबंध को देखकर मुझसे ज्यादा खुश होंगे।'

प्राचार्य डॉ. लालजी मिश्र के प्रति जिनकी कृपा बनी रहती है।

प्रिय मित्र डॉ. रवि प्रकाश गुप्त के प्रति जो मुझसे भी ज्यादा मेरे हितैषी एवं शुभचिंतक हैं।

बड़ी बहन सुश्री गीतारानी शर्मा के प्रति जिन्होंने हर कठिन वक्त में मुझे सहारा दिया है।

उदय जी, विजय जी एवं विक्रम जी के प्रति, जिन्होंने परिश्रमपूर्वक टाइपिंग का कार्य पूरा किया।

* * *

पूरे परिवार के प्रति जिसके बिना सुख-दुख का कोई अर्थ नहीं होता।

स्वर्गीय बाबूजी के प्रति, जिनकी सेवा से वंचित रहा।

माँ, पापा एवं मम्मी के प्रति जिनका होना मेरे लिए व्यापक अर्थ रखता है।

बड़े भैया, भाभी के प्रति जिनका प्रेम सदैव मिला है।

मिथिल भाई के प्रति जिन्होंने मानसिक मजबूती दी है।

अमिष (सोमू) के प्रति जो धीरे-धीरे मेरा अभिभावक बनता जा रहा है - चाइल्ड इज द फादर ऑफ द मैन।

सहधर्मिणी सुचिता के प्रति जिनका प्रभाव मेरे ऊपर ईमाँ और कुफ्र की चौहद्दी के बाहर तक फैला है।

बेटा चारु और बिटिया कांक्षी की मनोहर मुस्कान के प्रति जो ऊर्जा का अक्षय स्रोत है।

विषय-सूची

		पृष्ठ संख्या
भूमिका		i-iii
1.	**काव्य-भाषा का स्वरूप**	1-29
	(क) काव्य और भाषा	
	(ख) संवेदना और भाषा	
	(ग) हिंदी में काव्य-भाषा–चिंतन	
	(घ) काव्य-भाषा और अन्य विधाओं की भाषा	
2.	**आधुनिक हिंदी-काव्य-भाषा और प्रगतिशील काव्य**	30-73
	(क) आधुनिक हिंदी काव्य-भाषा और छायावाद	
	(ख) प्रगतिशील काव्य-भाषा की भूमिका	
	(ग) प्रगतिशील कवियों की काव्य-भाषा और प्रगतिशील आंदोलन	
3.	**नागार्जुन का बहुभाषी कविकर्म और काव्य-भाषा**	74-94
	(क) बहुभाषी कविकर्म का स्वरूप और महत्त्व	
	(ख) जनपदीय और जातीय भाषा में कविकर्म की संगति	
4.	**नागार्जुन की काव्य-भाषा**	95-167
	(क) नयी काव्य-भाषा के लिए आत्मसंघर्ष	
	(ख) सामाजिक जीवन की कविता और भाषा	
	(ग) राजनीतिक व्यंग्य और काव्य-भाषा	
	(घ) आंदोलनधर्मी कविता की भाषा	
5.	**नागार्जुन की काव्य-कला**	168-198
	(क) मूर्तविधान	
	(ख) प्रतीक-योजना	
	(ग) अप्रस्तुत योजना	
	(घ) मुहावरे, लोकोक्तियाँ और शैली	
उपसंहार		199-200
ग्रंथानुक्रमणिका		201-205

प्रथम अध्याय

काव्य-भाषा का स्वरूप

(क) काव्य और भाषा

(ख) संवेदना और भाषा

(ग) हिंदी में काव्य-भाषा–चिंतन

(घ) काव्य-भाषा और अन्य विधाओं की भाषा

काव्य-भाषा का स्वरूप

'काव्य' शब्द का प्रयोग संस्कृत काव्यशास्त्र में 'साहित्य' के अर्थ में होता रहा है। इसलिए 'काव्य' के दो भेद किए गए– गद्य काव्य और पद्य काव्य। आधुनिक काल में 'काव्य' शब्द का अर्थ–संकोच हुआ। अब यह 'कविता' के पर्यायवाची शब्द के रूप में व्यवहृत होने लगा। प्रस्तुत शोध का संदर्भ 'काव्य–भाषा' है, जिसका अर्थ हम 'कविता की भाषा' समझेंगे, न कि गद्य और पद्य दोनों की भाषा। यहाँ 'काव्य' का संदर्भ केवल 'कविता' से लिया जाएगा।

काव्य बहुत पुरानी विधा है। शायद मनुष्य के सामाजिक जीवन के समानान्तर भाषा और काव्य का विकास हुआ होगा। जैसे ही भाषा ने भावों को व्यक्त करना शुरू किया होगा, किसी–न–किसी रूप में मनुष्य के जीवन में कविता ने जगह बनानी शुरू कर दी होगी। (मन की) संवेदनशील स्थिति को व्यक्त करने का साधन रहा है काव्य। यह संवेदनशील स्थिति व्यवहार की भाषा को पुनर्गठित करके अभिव्यक्ति को प्रभावशाली और संप्रेषण को ग्राह्य बना देती है। इसलिए कविता के लिए एकमात्र जरूरी चीज़ है भाषा। यह भाषा शिक्षित–अशिक्षित, ग्रामीण–शहरी, गिरिजन–हरिजन किसी भी समाज की हो सकती है। कविता पर किसी खास समाज का पूर्ण अधिकार नहीं रहा है। विश्व की तमाम सभ्यताओं और संस्कृतियों में कविता की परम्परा शुरू से लेकर आज तक मौजूद रही है। गाँव के गीतों से लेकर आधुनिक शिक्षित समाज में प्रकाशित काव्य–पुस्तकों तक कविता का प्रसार दिखाई पड़ता है।

कविता की अवधारणा बार–बार बनाई गई और इसकी परिभाषा बार–बार दी गई, किन्तु हर बार कविता ने ऐसा कुछ नया रूप दिखाया कि अवधारणा और परिभाषा अधूरी लगने लगी। अवधारणा और परिभाषा के काफी पहले से कविता मौजूद रही है और अवधारणा–परिभाषा के निरन्तर परिवर्द्धन–संशोधन के बावजूद कविता 'नयो–नयो लागत ज्यों–ज्यों निहारिए' रही है।

'कविता के नये प्रतिमान' बनाने का प्रयास कविता के इतिहास में हमेशा किया गया है, पर हर बार कविता ने 'नये प्रतिमान' का अतिक्रमण कर शास्त्रज्ञों को चुनौती दी है। संस्कृत काव्यशास्त्रियों, पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों और हिन्दी आलोचकों ने कविता के

बारे में विस्तार से विचार किया है, जिन्हें देखने पर कविता की अनेक विशेषताएँ और उसकी विस्तृत अवधारणा से परिचित हुआ जा सकता है। विवेच्य संदर्भ को ध्यान में रखें तो एक बात साफ है कि कविता किसी भी युग या स्थान की हो, वह प्राथमिक रूप से एक भाषा–रूप है।, यह भाषा–रूप पद्यात्मक हो भी सकता है, नहीं भी। यह बहस यहाँ महत्त्वपूर्ण नहीं है। विचारणीय है कि कविता का भाषा से सम्बन्ध का स्वरूप क्या है? 'काव्य और भाषा' उपशीर्षक के अन्तर्गत देखना है कि कविता के लिए भाषा किस रूप में महत्त्वपूर्ण है?

(क) काव्य और भाषा

कविता का शब्द मात्र सूचना देनेवाला या अभिधात्मक नहीं होता है। वहाँ प्रयुक्त शब्द सामान्य नहीं रह जाता है बल्कि जटिल हो जाता है। उसका सही–सही अर्थ जानने के लिए पूरे प्रसंग को अच्छी तरह समझना जरूरी होता है। इस तरह काव्य और भाषा का सम्बन्ध महज कोशगत या अभिधात्मक न होकर प्रसंगाश्रित होता है। कविता के दौर पर भी निर्भर करता है कि भाषा के साथ कैसा सम्बन्ध बनता है। द्विवेदीयुगीन कविता का भाषा से लगभग कोशगत सम्बन्ध है, परन्तु छायावादी कविता का भाषा से ऐसा सम्बन्ध नहीं है। केदारनाथ सिंह ने लिखा है "द्विवेदी–युग का कवि शब्द को उसके कोशगत अर्थ में ही प्रयुक्त करता था जबकि छायावादी कवि ने काव्य भाषा में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाकर काव्य–भाषा की सोच में ही अंतर ला दिया था।"[1]

अज्ञेय कोश और व्याकरण से रचनात्मक भाषा को मुक्त करने को और भी उत्सुक दिखायी पड़ते हैं, "रचनाशील भाषा अपूर्व या अतर्कित स्थिति में कोश का मुँह नहीं जोहती बल्कि नयी भाषा गढ़ लिया करती है और यह नयी गढ़न, भाषा के समग्र संस्कार के अनुरूप ही होती है।"[2] कविता की भाषा मात्र सूचना अथवा तथ्य कथन के लिए नहीं होती बल्कि वह कविता की भावनात्मक प्रतिक्रियाओं से अनुरंजित होती है।

छायावादी दौर में कविता की भाषा कृत्रिमता के स्तर तक गढ़ी गयी। कुछ गढ़न सुन्दर और सफल हुई, कुछ ने अमूर्तता को अग्राह्यता के स्तर तक बढ़ाया। छायावादी भाषा क्रमशः जीवित भाषा से दूर होती गयी। फिर भी छायावादी काव्य–भाषा की सारी सफलता 'यत्नज' ही कही जा सकती है। बोलचाल की भाषा वहाँ सीधे ग्रहण नहीं की गयी है। रामस्वरूप चतुर्वेदी के अनुसार, "इस यत्नज कृत्रिमता के बिना शब्दों की अनेक प्रारम्भिक अर्थ–छायाएँ इस प्रारम्भिक स्थिति में विकसित न हो पातीं।"[3] इस तरह काव्य और भाषा का एक सम्बन्ध यत्नज भी होता है। प्रचलित भाषा नयी काव्यानुभूति के हिसाब से पुनर्गठित की जाती है। बिना प्रयत्न के समृद्ध काव्य–भाषा का निर्माण मुश्किल हो जाता है। यदि कोश और प्रचलन को अंतिम मानदण्ड मानकर काव्य–भाषा की सीमा तय की जाए तो कविता का विशिष्ट प्रभाव समाप्त हो जाएगा। अज्ञेय ने काव्य और भाषा के सम्बन्ध को एक आदर्श स्थिति तक ले जाने की कवियों से आकांक्षा प्रकट की है, "कवि का उद्देश्य केवल शब्द की निहित सत्ता का पूरा उपयोग करना नहीं बल्कि उसकी जानी हुई संभावनाओं के परे तक उसका विस्तार करना है।"[4]

कविता में शब्द और अर्थ की समस्या प्रायः बनी रही है। शब्द और अर्थ को मिलाकर 'शब्दार्थ' शब्द पर विचार करें तो हम पाते हैं कि भामह, मम्मट, विश्वनाथ, और जगन्नाथ के काव्य–लक्षणों में मुख्यतः 'शब्दार्थ' ही व्याख्येय रहा है। 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' (भामह), 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि' (मम्मट), 'रसात्मकं वाक्यं काव्यम्' (विश्वनाथ) और 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' (जगन्नाथ) में क्रमशः 'शब्दार्थौ', 'शब्दार्थौ', 'वाक्यं' तथा 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः' मौजूद है। 'वाक्य' और 'शब्दार्थ' के साम्य की व्याख्या करना यहाँ आवश्यक नहीं है। 'रमणीय अर्थ को प्रतिपादित करने वाले शब्द' भी अंततः 'शब्दार्थ' अथवा 'वाक्य' से साम्य रखते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कविता को 'हृदय की मुक्तावस्था' (जिसे वे 'रसदशा' बताते हैं) से जोड़कर परिभाषित किया, "... हृदय की मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द–विधान करती आयी है उसे कविता कहते हैं।" 'शब्द–विधान' का तात्पर्य उपर्युक्त संस्कृत आचार्यों के 'शब्दार्थ', 'वाक्य' आदि से ही है।

इन परिभाषाओं में काव्य और भाषा के सम्बन्ध की अनिवार्यता और इनके सम्बन्ध के स्वरूप पर निरन्तर पुनर्विचार की अटूट परम्परा दिखायी पड़ती है। सभी परिभाषाओं में 'भाषा' का प्रश्न उल्लेखनीय माना गया है। यूँ तो कहा जा सकता है कि कविता भाषा में लिखी जाती है इसलिए इनका सम्बन्ध तो स्वयं सिद्ध है। इस सम्बन्ध पर विचार की क्या आवश्यकता? बहस का विषय यह नहीं है कि कविता और भाषा का सम्बन्ध है अथवा नहीं! ऐसा प्रश्न निरर्थक है। कविता और भाषा का सम्बन्ध किन–किन रूपों में संभव है, यही यहाँ विचारणीय है।

भामह के समय में शब्दालंकार और अर्थालंकार के बीच श्रेष्ठता का विवाद था। उन्होंने दोनों को समान महत्व देते हुए 'शब्दार्थौ सहितौ' को काव्य बताया। काव्य और भाषा का सम्बन्ध यहाँ पेचीदा नहीं है। काव्य की शोभा 'शब्द' से बढ़े या 'अर्थ' से– भामह को भाषा के दोनों रूप स्वीकार्य हैं। काव्य से भाषा के सम्बन्ध की जटिलता भामह के लिए यही है कि भाषा का शोभाधायक धर्म (शब्द अथवा अर्थ से उत्पन्न) ही काव्य के काम का है। मम्मट ने 'शब्दार्थौ' के तीन विशेषण दिए– (1) अदोषौ, (2) सगुणौ, (3) अनलंकृति पुनः क्वापि। मम्मट के अनुसार काव्य की भाषा (शब्दार्थ) काव्य–दोषों से मुक्त हो, उसमें काव्य–गुण हों और कहीं–कहीं अलंकारविहीन भी हो तो कोई समस्या नहीं। इस परिभाषा में मूलतः भाषा पर ही विचार किया गया है। दोष, गुण और अलंकार को साधने का काम भाषा में किया जाना है। ये तीनों काव्य–भाषा को प्रभावित करेंगे। इस

तरह मम्मट की परिभाषा में काव्य और भाषा के सम्बन्ध के कुछ दूसरे (भामह की तुलना में) आयाम भी दिखाई पड़े।

विश्वनाथ और जगन्नाथ के काव्य–लक्षणों के विश्लेषण, के द्वारा काव्य और भाषा के सम्बन्ध के अन्य आयामों को देखा जा सकता है। इन काव्य–लक्षणों का विश्लेषण यहाँ अभीष्ट नहीं है। काव्य और भाषा के सम्बन्ध के बारे में प्रायः प्रचलित मान्यता है कि भाषा काव्य को व्यक्त करने का माध्यम भर है। यह मान्यता सही नहीं है। काव्य को भाषा में व्यक्त किया जाता है तब वह भाषा स्वयं काव्य बन जाती है। वह भाषा केवल साधन न रहकर साध्य भी हो जाती है। कवि भाषा की साधना करने लगता है। डॉ. सियाराम तिवारी ने 'काव्यभाषा' नामक अपनी पुस्तक के पहले अध्याय में काव्य और भाषा के सम्बन्ध पर विचार करते हुए बताया है कि इस सन्दर्भ में कई प्रकार की मान्यताएँ हैं– (1) काव्य के अनेक तत्त्वों में से भाषा भी एक है। (2) भाषा काव्य का माध्यम है। (3) काव्य भाषा है। (4) भाषा काव्य है।

काव्य के तत्त्वों के अन्तर्गत छंद, अलंकार, रस, गुण आदि के साथ भाषा की गिनती भी किसी न किसी रूप में करते हैं। काव्य के कला–पक्ष पर विचार करते हुए भाषा को काव्य के एक तत्त्व के रूप में विश्लेषित करते हैं। नामवर सिंह ने लिखा है, "काव्य–भाषा का विश्लेषण काव्य के मूल्यांकन का आधार न रहकर भाव–विवेचन के बाद कला–विवेचन के रूप में पीछे से जोड़ दिया जानेवाला एक गौण कार्य रह गया।"[5] काव्य को विशिष्ट अनुभूति की अभिव्यक्ति मान सकते हैं। इस विशिष्ट अनुभूति को भाषा में व्यक्त किया जाता है। अतः मान लिया जाता है कि काव्य का माध्यम भाषा है। भाषा का महत्त्व माध्यम से ज़्यादा कुछ भी नहीं है। जो विशेष दिखाई पड़ रहा है वह भाषा नहीं, बल्कि काव्यानुभूति है; मानो काव्यानुभूति भाषा से मुक्त कोई अन्य काव्य–तत्त्व है। जाहिर है ऐसा विचार व्यापक चिंतन का परिणाम नहीं है।

काव्य भाषा है – यह मान्यता अपेक्षाकृत सूक्ष्म है। सुमित्रानन्दन पन्त ने लिखा है, "कविता हमारे परिपूर्ण क्षणों की वाणी है।"[6] कविता विशिष्ट समय की विशिष्ट भाषा है। यह विशिष्ट भाषा स्वयं कविता है। ऐसी भाषा हमेशा प्रत्यक्ष नहीं होती, अपितु 'परिपूर्ण क्षणों' में ही सामने आती है। इस विशिष्ट भाषा के आधार पर काव्य की पहचान बनती है। एक तरह से यह भाषा ही कविता कही जाती है। यहीं हम एस.टी. कॉलरिज के कथन को रखकर उपर्युक्त मान्यता को पुष्ट कर सकते हैं। कॉलरिज ने कविता के बारे में बताया है कि कविता 'Best words in Best order' है– 'सर्वोत्तम क्रम में सर्वोत्तम

शब्द।' शब्द और उनका क्रम– दोनों सर्वोत्तम हों– तभी कविता बनती है। शब्द और उनका क्रम, भाषा ही तो है। अतः काव्य भाषा है।

दार्शनिक पद्धति पर सिद्ध करने की कोशिश की गयी है कि भाषा काव्य है। पंडितराज जगन्नाथ को 'शब्दवादी' बताते हुए कहा जाता रहा है कि उन्होंने 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' में 'शब्द' को ही 'काव्य' बताया है। इस परिभाषा में 'शब्द' का विशेषण है 'रमणीय अर्थ को प्रतिपादित करने वाला।' 'रमणीय अर्थ' की शर्त आते ही 'शब्द' नितांत 'शब्द' नहीं रह जाता बल्कि यह भी 'शब्दार्थ' बन जाता है। भाषा काव्य है– कोई भी भाषा काव्य है? जगन्नाथ ने सभी/किसी भी 'शब्द' को 'काव्य' तो नहीं कहा था। शर्त रखी थी कि जो शब्द रमणीय अर्थ को प्रतिपादित करे केवल वही काव्य है। यह जरूर कहा जा सकता है कि रमणीय अर्थ को प्रतिपादित करने वाला शब्द भी तो 'शब्द' ही कहलाएगा। अतः शब्द को काव्य कहा जा सकता है। इसी तरह कहा जा सकता है कि भाषा ही काव्य है।

सामान्य भाषा से ही काव्यभाषा रूप ग्रहण करती है। काव्य बनने की प्रक्रिया में सामान्य भाषा हूबहू प्रयुक्त नहीं होती है, बल्कि उसका अकाव्यात्मक अंश छूट जाता है और शेष अंश काव्यात्मक बनकर कविता कहलाता है। इसलिए कहा जा सकता है कि भाषा काव्य है। यहाँ जोड़ना चाहिए कि सभी भाषा काव्य नहीं है, लेकिन जो भी काव्य है, वह निश्चित रूप से भाषा है। इसलिए यह कहना कि काव्य भाषा है अथवा भाषा काव्य है; लगभग एक ही निष्कर्ष पर पहुँचने वाले कथन है।

भाषा काव्य का कोई एक अंग नहीं है, बल्कि पूर्णता है। भाषा के विश्लेषण से ही काव्य की रसमयता और उसके अभिप्राय तक पहुँचा जा सकता है। काव्य का विवेचन करते हुए प्रायः भाव–पक्ष और कला–पक्ष जैसा वर्गीकरण किया जाता है और कला–पक्ष के एक उपकरण के रूप में भाषा पर विचार किया जाता है। यह पद्धति कविता में भाषा के महत्त्व को उपेक्षित करती है। भाषा के रास्ते ही भाव–पक्ष तथा कला–पक्ष के प्रत्येक चरण तक पहुँचा जा सकता है। इसलिए भाषा को कला–पक्ष का मात्र एक उपकरण बताना उचित नहीं है।

'काव्य और भाषा' विषय पर विचार–विश्लेषण के बाद कहा जा सकता है कि काव्य भाषा है और भाषा काव्य है। मिट्टी से घड़े का निर्माण होता है, किन्तु न तो केवल मिट्टी घड़ा है और न घड़ा केवल मिट्टी है। काव्य मूलतः सामान्य भाषा है, परन्तु जब

सामान्य भाषा को एक विशेष ढाँचे में संरचित कर दिया जाता है तो यही भाषा 'कविता' कहलाती है। इसलिए कविता एक विशेष भाषा है।

व्यापकता के अतिरिक्त आग्रह के कारण भी निष्कर्षतः कह दिया जाता है कि भाषा काव्य है या काव्य भाषा है। भाषा और काव्य का सम्बन्ध एकरेखीय नहीं है, बल्कि यह बहुआयामी है। विकसित काव्य–भाषा के अभाव में अच्छे काव्य की संभावना समाप्त हो जाती है। खड़ी बोली हिन्दी में भारतेन्दु तथा उनके युग के कवियों ने कविताएँ लिखीं। उस समय खड़ी बोली हिन्दी काव्य–भाषा के रूप में विकसित नहीं थी, इसलिए अच्छे काव्य सृजित नहीं हो पाए। यह सर्जना छायावाद के आने तक स्थगित रही, जब तक कि खड़ी बोली हिन्दी समर्थ काव्य–भाषा न बन गयी। छायावादी काव्य–भाषा समर्थ होने की प्रक्रिया से गुजरते हुए एक ऐसे मोड़ पर पहुँची, जब भाषा को प्रभावित और नियन्त्रित करनेवाली संवेदना चुक गयी थी। ऐसी स्थिति में समर्थ काव्य–भाषा के होते हुए सार्थक काव्य–रचना नहीं हो पायी। अब हमें विचार करना है कि काव्य–भाषा और संवेदना के सम्बन्ध का स्वरूप क्या है?

न तो सभी प्रकार की भाषा काव्य है और न ही काव्य किसी भी प्रकार की भाषा है। कहना चाहिए कि विशेष प्रकार की भाषा काव्य है और काव्य विशेष प्रकार की भाषा है। भाषा से अनेक काव्येतर काम लिए जाते हैं और काव्य भाषा के किसी भी स्तर पर नहीं रचा जा सकता। काव्य रचने के लिए सम्बन्धित भाषा को काव्य–भाषा का दर्जा प्राप्त करना पड़ता है। हिन्दी कविता के इतिहास में खड़ी बोली हिन्दी को सक्षम काव्य–भाषा बनने के लिए काफी संघर्ष करना पड़ा है।

(ख) संवेदना और भाषा

संवेदना काव्य–भाषा को पुनर्रचित कर नूतनता प्रदान करती है। संवेदना कवि की मूल थाती है। समृद्ध काव्य–भाषा उपलब्ध होने के बावजूद संवेदना के अभाव में कविता बेजान हो जाती है। ऐसी स्थिति में कविता भाषा का जंजाल–मात्र बन कर रह जाती है। संस्कृत काव्यशास्त्र में 'काव्य–हेतु' के अन्तर्गत 'प्रतिभा' को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। यह 'प्रतिभा' संवेदना के काफी करीब है। संवेदना अथवा 'प्रतिभा' के कारण कवि की दृष्टि सामर्थ्यवान बन पाती है। 'मार्मिक स्थलों की पहचान' इसी संवेदना अथवा 'प्रतिभा' के द्वारा कवि कर पाता है। 'व्युत्पत्ति और अभ्यास' के धनी आचार्य केशवदास पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की टिप्पणी 'केशव को कवि हृदय नहीं मिला था।'[7] इसी बात का प्रमाण है कि संवेदना के अभाव में अच्छी कविता नहीं रची जा सकती। समर्थ काव्यभाषा के साथ–साथ संवेदना का होना बहुत जरूरी है। रीतिमुक्त कवि घनानन्द ने संवेदना को व्यक्त करने में काव्य–भाषा को असमर्थ बताया है–

जो दुख देखति हौं घनआनँद, रैनि दिना बिन जान सुतंतर।
जानैं वेई दिन राति, बखान तें जाय परै दिन–राति को अंतर।।

घनआनंद का कहना है कि मेरी विरह–व्यथा को पूरी तरह व्यक्त करना संभव नहीं है। विरह को अनुभव करने (संवेदना) और कहने (काव्य–भाषा) में वहीं अंतर पड़ता है जो दिन और रात में होता है। घनआनन्द महसूस करते हैं कि संवेदना को भाषा व्यक्त नहीं कर पा रही है। इस प्रयास में अधूरापन रह जा रहा है। घनानंद के समय ब्रजभाषा एक समर्थ काव्यभाषा थी। कम से कम दो सौ वर्षों से यह काव्यभाषा बनी हुई थी। घनआनन्द के समय पूरे 'मध्य देश' (हिन्दी भाषा–भाषी क्षेत्र) की स्वीकृत काव्य–भाषा ब्रजभाषा ही थी। अहिन्दी भाषी क्षेत्रों में भी कृष्ण काव्य को ब्रजभाषा में ही रचने की परम्परा बन गयी थी। स्वयं घनानन्द की ब्रजभाषा उच्चकोटि की थी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में, ''इनकी सी विशुद्ध, सरस और शक्तिशालिनी ब्रजभाषा लिखने में और कोई कवि समर्थ नहीं हुआ। विशुद्धता के साथ प्रौढ़ता और माधुर्य भी अपूर्व ही है।''[8]

समर्थ काव्य–भाषा के समर्थ कवि घनानन्द कह रहे हैं कि मेरी संवेदना को यह काव्य–भाषा अपने वास्तविक रूप में व्यक्त नहीं कर पा रही है। कवि यहाँ काव्य–भाषा की तलाश करता हुआ नज़र नहीं आता, बल्कि फैसला देता हुआ लग रहा है कि संवेदना

को व्यक्त कर पाना भाषा के बूते की बात नहीं। संवेदना जब भाषा में व्यक्त की जा रही है तो वह बदल जा रही है। कवि की संवेदना और कविता में व्यक्त संवेदना में यदि 'दिन–रात' का अंतर होता है, तब तो कविता अनुभूति को व्यक्त करने का एक अप्रामाणिक माध्यम है।

अब दूसरे पक्ष को भी देखना चाहिए। कवि अपनी संवेदना को प्राथमिक स्तर पर अमूर्त रूप में अनुभव करता है। संवेदना को मूर्त रूप भाषा में मिलता है। उस व्यक्त भाषा को पुनः पढ़ने पर वही संवेदना अनुभूत यदि नहीं होती है, तो कवि भाषा को दुरुस्त करने की कोशिश करता है। संवेदना से भाषा की तरफ और भाषा से संवेदना की तरफ कवि की यात्रा चलती रहती है। हम संवेदना किसे मानें? जिसे कवि ने अपने भीतर अनुभव किया या जिसे कविता को पढ़ने पर महसूस किया जाए?

कवि ने अपने भीतर क्या अनुभव किया, अनुभूत संवेदना का स्वरूप क्या है– इसे जानने का माध्यम भाषा के अतिरिक्त और क्या हो सकता है! कविता का अर्थ खोलने के लिए कभी–कभी अपनी तरफ से प्रसंग जोड़ना पड़ता है। प्रसंग के साथ पाठ को मिलाकर कवि की संवेदना को समझने की कोशिश की जाती है। प्रसंग के संकेत पाठ में जरूर मौजूद होते हैं। प्रसंग भी पाठ से बिल्कुल विच्छिन्न नहीं हो सकता। इस प्रकार कवि की संवेदना को जानने का एकमात्र आधार भाषा में व्यक्त कविता ही हो सकती है। उस संवेदना का भला क्या मतलब जो कविता में व्यक्त नहीं हो पायी हो! नामवर सिंह ने लिखा है "अब इस सफाई के लिए कोई गुंजाइश नहीं रही कि कवि ने अनुभव तो बहुत किया किन्तु भाषा की असमर्थता के कारण अपनी बात पूरी तरह कह नहीं पाया। तुरन्त यह सवाल उठेगा कि उसने बहुत अनुभव किया था, इसका प्रमाण क्या है? कथन के अतिरिक्त तथाकथित मूल अनुभव को जानने का साधन क्या है?"[9]

घनानन्द की उपर्युक्त कविता की आत्मस्वीकृति 'तथाकथित मूल अनुभव को जानने का साधन' तो नहीं है, पर 'मेरी वह खोई हुई/परम अभिव्यक्ति' का अमूर्त प्रमाण जरूर है। इस अमूर्त प्रमाण के आधार पर कोई सैद्धान्तिक विवेचन तो नहीं किया जा सकता, किन्तु कवि के द्वारा सही अभिव्यक्ति तक पहुँचने की छटपटाहट को समझा जा सकता है। कविता के पाठ के बाहर कोई संवेदना अस्तित्व नहीं रख सकती। संवेदना भाषा को रचती है तो भाषा ही संवेदना को व्यवस्थित रूप देती है। भाषा के अभाव में संवेदना का कोई अर्थ नहीं रह जाता। भाषा का स्वरूप संवेदना के स्वरूप को प्रभावित

करता है। एक तरफ संवेदना के अनुरूप भाषा की आवश्यकता होती है तो दूसरी तरफ भाषा के अनुरूप ही संवेदना व्यक्त हो पाती है।

रामस्वरूप चतुर्वेदी ने लिखा है, "कविता की भाषा का केन्द्रीय तत्त्व भावचित्रों अथवा बिंबों का विधान है। कवि परंपरा में स्वीकृत भावचित्रों का प्रयोग अधिक नहीं करता, आवश्यकता पड़ने पर सामान्य से सामान्य शब्द के आधार पर अपना इच्छित भावचित्र स्वयं निर्मित करता है। काव्य में सामान्य अर्थबोध से ऊपर उठकर वह अपने अनुभव से संपृक्त करके किसी भी शब्द को एक विशिष्ट अर्थ देता है।"[10] रामस्वरूप चतुर्वेदी के अनुसार कवि भाषा के 'सामान्य अर्थबोध' को 'अपने अनुभव से संपृक्त करके', 'विशिष्ट अर्थ' देता है। संवेदना बिम्ब निर्माण में सहायक होती है। सामान्य शब्दों को नया और विशिष्ट अर्थ तभी मिल पाता है जब उनमें नयी और विशिष्ट संवेदना आरोपित हो पाती है। बिम्ब–विधान कविता की पहचान है और बिम्ब–विधान का मूल आधार संवेदना द्वारा निर्देशित भाषा है, "समीक्षा के क्षेत्र में बिंब की उद्‌भावना मूलतः पश्चिम की है। वहाँ यह उद्‌भावना प्रसिद्ध दार्शनिक हुल्म तथा कवि पाउंड के सहयोग से बीसवीं शती के आरम्भ में क्रमशः आन्दोलन के रूप में परिणत हुई, और फिर शीघ्र ही प्रायः 1917 ई. के आस–पास उसकी विरोधी प्रतिक्रिया भी हुई। पर बिम्ब के इस पक्ष और प्रतिपक्ष के बीच और इन विवादों के परिशमित होने पर, समझ का एक ऐसा स्तर बराबर रहा है जहाँ बिम्ब–विधान को कविता भाषा की समूची प्रक्रिया में केन्द्रीय स्थान दिया जाता है। इस रूप में बिंब–प्रक्रिया का महत्त्व आधुनिक समीक्षा में प्रायः अक्षुण्ण रहा है।"[11]

गद्य और कविता में अंतर बताते हुए चतुर्वेदी जी लिखते हैं "गद्य और कविता की भाषा में अंतर बिम्ब–गठन के कारण होता है (और दोनों में शायद यही तो विभाजक अंतर है) कविता की भाषा पाठक या श्रोता को बिंबों अथवा भावचित्रों का आधार प्रदान करती है, जिस पर भावात्मक ढाँचा वह (अर्थात् पाठक) बहुत कुछ स्वयं बनाता है।"[12] कविता की भाषा बिंबधर्मी होती है और बिम्बों के निर्माण में संवेदना की अहम् भूमिका होती है। कवि अपनी भाषा के माध्यम से भावचित्रों की संभावना उत्पन्न करता है और पाठक अपनी भावयित्री प्रतिभा का उपयोग करके उस संभावना को समझते हुए कवि की अभीष्ट संवेदना को विस्तार भी देता है।

अज्ञेय अपनी प्रेमिका को 'हरी बिछली घास' या 'लहलहाती हवा में कलगी छरहरी बाजरे की' कहते हैं, तो उनके सामने संवेदना और काव्यभाषा के सम्बन्ध की समस्या ही

है। मौजूदा काव्यभाषा कवि को संवेदना को व्यक्त करने में सक्षम नहीं है, इसलिए कवि अपनी संवेदना के अनुकूल नयी काव्य–भाषा रचने की कोशिश कर रहा है। नयी काव्य–भाषा की तलाश नयी काव्यानुभूति का प्रमाण है, "किसी की भाषा–शक्ति उसकी बोध–शक्ति का प्रमाण है : व्यक्ति का अपना भाषा संसार अनुभव का संसार है, इसलिए अनुभव–संसार के विस्तार के लिए भाषा–संस्कार का प्रसार अनिवार्य शर्त है।"[13] पुरानी काव्य भाषा को समझने का अभ्यास पाठक को है, कवि अनुभव करता है कि रूढ़िग्रस्त और पिष्टपेषित होने के कारण वह काव्यभाषा प्रचलित होने के बावजूद नयी संवेदना को वहन कर सकने में असमर्थ हैं। संवेदना के अनुकूल नयी काव्य भाषा को रचते हुए कवि को विश्वास है कि संप्रेषण में कोई परेशानी नहीं होगी क्योंकि,

"मगर क्या तुम / नहीं पहचान पाओगी:
तुम्हारे रूप के– / तुम हो, निकट हो, इसी जादू के –
निजी किस सहज, गहरे बोध से, / किस प्यार से मैं कह रहा हूँ–"[14]

कवि को विश्वास है कि यह नयी काव्य–भाषा 'सहज', 'गहरे बोध' और 'प्यार' से निर्मित है, इसलिए अपेक्षाकृत ज्यादा सक्षम है। जाहिर है कि इन सबका सम्बन्ध संवेदना से ही है। नामवर सिंह ने लिखा है, "किसी नए शब्द को खोजने का अर्थ ही है किसी नए अनुभव–खंड अथवा वास्तविकता के किसी नए पहलू की खोज।"[15]

'पल्लव' के 'विज्ञापन' में सुमित्रानन्दन पन्त ने लिखा है, "वास्तव में जो शब्द स्वस्थ तथा परिपूर्ण क्षणों में बने हुए होते हैं उनमें भाव तथा स्वर का पूर्ण सामंजस्य मिलता है, और कविता में ऐसे ही शब्दों की आवश्यकता भी पड़ती है।"[16] पंत का विचार है कि कविता के शब्द 'स्वस्थ तथा परिपूर्ण क्षणों' में बनते हैं, और उनमें 'भाव तथा स्वर' का पूर्ण सामंजस्य होता है। कुल मिलाकर कविता की भाषा संवेदना से रचित होती है। पंत ने आगे कहा कि उन्होंने शब्दों के लिंग–निर्धारण में भी हृदयगत भावों को आधार बनाया है। शब्द के रूप के आधार पर नहीं, बल्कि उसके अर्थ और भाव के आधार पर लिंग–निर्धारण किया है, " 'प्रभात' आदि को पुल्लिंग मान लेने पर मेरे सामने प्रभात का सारा जादू, स्वर्ण, श्री, सौरभ, सुकुमारता आदि नष्ट–भ्रष्ट हो जाते हैं, उनका चित्र ही नहीं उतरता।"[17] प्रचलित भाषा संवेदना के अनुकूल नहीं जान पड़े तो कवि उसे बदल देता है। 'व्याकरण की लोहे की कड़ियाँ' तोड़कर पंत ने छायावाद के लिए नई काव्य–भाषा रची। व्याकरण के नियमों को तोड़ने की जरूरत पंत ने इसी कारण महसूस की।

'पल्लव' का 'प्रवेश' काव्य–भाषा के बारे में एक नवोदित कवि की मौलिक सूझ–बूझ के कारण प्रसिद्ध है। पंत ने तरह–तरह से पुरानी काव्य–भाषा की अक्षमता बतायी और अपनी काव्य–भाषा को नये युग की संवेदना के अनुकूल बताया। ब्रजभाषा का गुणगान तो किया, पर नये युग के लिए अप्रासंगिक बताया। ब्रजभाषा को काव्य–भाषा बनाए रखने की जिद पर अड़े कवियों को अस्वीकृत करने का सुझाव दिया, "इनकी प्राचीन ब्रजभाषा की काशी, हमारे संसार से बाहर, इनकी अहंमन्यता के त्रिशूल पर अटकी रहे, वह हमारा तीर्थ नहीं हो सकती; .....।"[18] ब्रजभाषा के पुरानेपन को और भी स्पष्ट करते हुए उसे 'आउट आव् डेट' बताया, "हम इस ब्रज की जीर्ण–शीर्ण छिद्रों से भरी, पुरानी छींट की चोली को नहीं चाहते, इसकी संकीर्ण कारा में बन्दी हो हमारी आत्मा वायु की न्यूनता के कारण सिसक उठती है, हमारे शरीर का विकास रुक जाता है। हमें यह पुराने फैशन की मिस्सी पसंद नहीं, जिससे हमारी हँसी की स्वाभाविक उज्ज्वलता रँग जाती, फीकी और मलिन पड़ जाती है। यह बिल्कुल आउट आव् डेट हो गयी है! ..... हमारे विचार अपने ही समय के चरखे में कते–बुने, अपनी ही इच्छा के रंग में रँगे वस्त्र चाहते हैं, ...।"[19]

काव्य–भाषा और कविता की संवेदना के बीच परस्पर प्रभावकारी सम्बन्ध है। कथ्य की संवेदना भाषा से संवेदनशीलता की माँग करती है। जब कविता अंतिम रूप से रचित होकर पाठक के सामने आती है तब कवि की संवेदना और भाषा के बीच का द्वन्द्व समाप्त हो जाता है। कविता की भाषिक बनावट में ही सारी संवेदना अंतर्निहित हो जाती है। इसके बाद भाषिक संवेदनशीलता का चरण शुरू होता है। भाषा की संवेदनशीलता का विश्लेषण करते हुए हम कविता की संवेदना का निर्धारण करते हैं। अंततः संवेदना का मानदण्ड भाषा बन जाती है। मैनेजर पाण्डेय ने लिखा है, "कविता में भाषा की भूमिका अधिक निर्णायक और महत्त्वपूर्ण होती है। यहाँ भाषिक संवेदनशीलता में सामाजिक संवेदनशीलता छिपी रहती है।"[20] कविता की संवेदनशीलता काव्य–भाषा में घुली–मिली रहती है। जब तक कवि की संवेदना भाषिक रूप धारण नहीं करती, तब तक वह भाषा की तलाश करती रहती है, उसे पुनर्सृजित करती रहती है। जैसे ही भाषिक रूप प्राप्त हो जाता है, वह संवेदना काव्य–भाषा की संवेदना बन जाती है। अडोर्नो ने लिखा है, "उदात्त प्रगीत वे होते हैं जिनमें कवि अपनी भाषा में खुद को इस तरह विलीन कर देता है कि उसकी उपस्थिति का आभास नहीं होता है।[21]

कविता की संवेदना वास्तव में काव्य–भाषा की संवेदना होती है। नामवर सिंह काव्य–भाषा और कविता की मूल संवेदना के मूल्यांकन के लिए रूपवादी प्रक्रिया से बचे रहने की चिंता प्रकट करते हैं, "किसी कविता की भाषा को 'सुंदर' कहने के बाद उसके कथ्य को 'असुंदर' कहना असंगत होगा। कथन को कथ्य से कैसे अलग किया जा सकता है?"[22] नामवर सिंह मानते हैं कि कथन से कथ्य को अलग नहीं किया जा सकता, किन्तु कथन का मूल्यांकन केवल भाषागत मानदण्डों पर करने से कथ्य का अस्तित्व ही समाप्त हो जाएगा। ऐसी आलोचना रूपवादी बनकर रह जाएगी। उनका मानना है कि रीतिकाल में मान लिया गया था कि विषय नया नहीं हो सकता, इसलिए कवि के मूल्यांकन का आधार केवल भाषा ही हो सकती थी, "कथ्य को कथन में निःशेष कर देने में, निःसन्देह, आलोचना के अन्तर्गत रूपवादी रुझान का खतरा है, क्योंकि कुछ आलोचक कथन की भाषागत विशेषताओं के विश्लेषण को ही समूची काव्यकृति का विश्लेषण समझने की भूल कर सकते हैं। किन्तु जो जागरूक समीक्षक शब्द के गिर्द बनने वाले समस्त अर्थ–वृत्तों तक फैलते जाने का विश्वासी है वह संदर्भ के अनुसार शब्द में निहित सभी अर्थापत्तियों को पकड़कर काव्य–भाषा के आधार पर ही काव्य का पूर्ण मूल्यांकन कर सकता है, जिसमें उसका नैतिक मूल्यांकन भी निहित है।"[23]

उपर्युक्त कथन 'काव्य–भाषा और सृजनशीलता' नामक अध्याय से लिया गया है। इसी अध्याय में पंत के 'पुरुषोत्तम राम' की कुछ पंक्तियों को उद्धृत करते हुए नामवर सिंह ने टिप्पणी की है कि इसकी भाषा में 'काव्य–सुलभ सर्जनात्मकता' का प्रयास नहीं है।' पंत की पंक्ति, "क्योंकि हमारे शोषित शोणित की यह नैतिक जीर्ण व्याधि है!" में एक आम आदमी की तरह मान लिया गया है कि सामाजिक भ्रष्टाचार तो हमारे खून में है। नामवर सिंह इस कथ्य को 'स्नायविक स्खलन का सूचक' मानते हैं। 'हड्डी हित' जैसे प्रयोग को वे निर्जीव मनोदशा में उत्पन्न 'निर्जीव भाषा' मानते हैं। यहीं पंत की काव्य–पुस्तक 'लोकायतन' की डॉ. देवराज द्वारा की गयी समीक्षा की कुछ पंक्तियाँ दी गयी हैं। डॉ. देवराज ने 'लोकायतन' की भाषा को 'कुछ ज्यादा शिक्षित व संस्कृत स्तर की' बताया है। नामवर सिंह लिखते हैं, "'पुरुषोत्तम राम' की उद्धृत पंक्तियों के बारे में बिना हिचक यह कहा जा सकता है कि भाषा कहीं भी आयासित नहीं है और तत्सम शब्दों का अबाधित समावेश भी कम नहीं है, किन्तु क्या उनसे वही निष्कर्ष निकाला जा सकता है जो डॉ. देवराज 'लोकायतन' से निकालने के लिए विवश हैं? भाषा का यह अनायास व्यवहार तत्सम शब्दों का अबाध समावेश क्या यह सूचित नहीं करता कि कवि

को भाषा और अनुभव में से किसी भी स्तर पर अब अन्वेषण की आवश्यकता अनुभव नहीं होती, इसलिए वह अपनी एक सहज–सुलभ अभ्यस्त भाषा में रचना करता चला जाता है? स्पष्टतः यह काव्य–भाषा नहीं, बल्कि काव्याभास भाषा है। यह मूल्य–निर्णय केवल रूपगत नहीं, बल्कि कविता के कथ्य से भी सम्बद्ध है। यह भाषिक शैथिल्य बौद्धिक शैथिल्य का पर्याय है। जिसकी परिणति नैतिक शैथिल्य में होती है।''[24]

काव्यानुभूति और काव्य भाषा का सम्बन्ध बहुस्तरीय है। अनुभूति को भाषा से अलगाया नहीं जा सकता। ऐसी स्थिति में जरूरी है कि भाषा का मूल्यांकन अनुभूति और संवेदना के आधार पर किया जाए। केवल यह बताना कि अमुक कविता की भाषा तत्सम प्रधान है अथवा तद्भव प्रधान, ब्रज है अथवा अवधी अथवा खड़ी बोली हिन्दी, प्रसाद–ओज–माधुर्य–गुण के वर्ण हैं– काव्य भाषा का सही मूल्यांकन नहीं है। यहाँ मान लिया जाता है कि काव्य–भाषा की जगह भाषा की व्याकरणिक या रूढ़ काव्यशास्त्रीय जाँच की जा रही है। भाषा की यांत्रिक जाँच की पद्धति में संवेदना या अनुभूति के मूल्यांकन की संभावना समाप्त हो जाती है। व्याकरण के नियम भाषा को प्राथमिक स्तर पर अनुशासित करते हैं। यह अनुशासन भाषा के विकास और मानकीकरण के लिए आवश्यक है। किन्तु काव्य–भाषा भाषा का प्राथमिक रूप नहीं होती, उसमें संवेदना या अनुभूति का मेल होता है। इसलिए 'बौद्धिक शैथिल्य' और 'नैतिक शैथिल्य' के रहते कविता के 'भाषिक शैथिल्य' को दूर नहीं किया जा सकता है।

(ग) हिन्दी में काव्य–भाषा–चिंतन

हिन्दी में काव्य–भाषा पर विस्तृत विचार–विमर्श नहीं हुआ है। संस्कृत और पश्चिमी चिंतन को आधार बनाकर काम चला लेने की प्रवृत्ति ज़्यादा रही है। हिन्दी की काव्य–भाषा की बनावट संस्कृत और पश्चिमी भाषाओं से भिन्न है। इसलिए इन चिंतन–प्रणालियों से पूरा काम नहीं हो पाता है। आदिकाल की हिन्दी कविता की भाषा, ब्रज–अवधी में लिखित मध्यकाल की कविता और खड़ी बोली हिन्दी की आधुनिक कविता की काव्य–भाषा पर सैद्धान्तिक विवेचन के लिए विस्तृत प्रतिमानों की जरूरत होगी। नलिन विलोचन शर्मा ने 'साहित्य का इतिहास–दर्शन' (1960 ई.) में काव्य–भाषा सम्बन्धी चिंतन के महत्त्व और कठिनाई की ओर संकेत किया है, "अगर आज कोई हिन्दी की काव्य–भाषा का इतिहास लिखना चाहे, तो उसे इसी कठिनाई का सामना करना पड़ेगा, क्योंकि इस विषय पर छोटे–मोटे निबन्धों के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं .....।"[25]

काव्य–भाषा के अध्ययन–चिंतन को दो भागों में बाँटा जा सकता है– सैद्धान्तिक और व्यावहारिक। सैद्धान्तिक अध्ययन हिन्दी में नहीं के बराबर हुआ है। हिन्दी में जब भी काव्य–भाषा से सम्बन्धित सिद्धान्तों की आवश्यकता पड़ी है, प्रायः संस्कृत अथवा अंग्रेजी की पुस्तकों की सहायता ली गयी है। संस्कृत के आचार्यों ने शब्द–अर्थ के सम्बन्ध, शब्द के स्वरूप, शब्द–शक्ति आदि का अध्ययन विस्तार और गहराई से किया है। अलंकार, ध्वनि, रीति और वक्रोक्ति सम्प्रदायों का विवेचन–विश्लेषण काव्य–भाषा से ही सम्बन्धित है। इनसे सम्बन्धित संस्कृत की प्रमुख पुस्तकों में सैद्धान्तिक विवेचन ही ज़्यादा हुआ है। हिन्दी के विद्वानों ने प्रारम्भ में संस्कृत के अलंकार–विवेचन, शब्द शक्ति–विवेचन आदि को ज्यों का त्यों अपनाकर काम चलाया।

आधुनिक हिन्दी कविता की काव्य–भाषा छायावाद तक आते–आते इतनी प्रौढ़ हो गयी कि काव्य–भाषा की पुरानी धारणाओं के आधार पर अर्थ निकालना कठिन होने लगा। छायावादी कवियों ने स्वयं भी काव्य–भाषा के सैद्धान्तिक विवेचन की आवश्यकता महसूस की। पंत ने 'पल्लव' (1926 ई.) की भूमिका में सर्वप्रथम काव्य–भाषा के सैद्धान्तिक विवेचन का प्रयास किया। यह भूमिका केवल सैद्धान्तिक विवेचन नहीं है, बल्कि पंत की अपनी काव्य–भाषा की प्रकृति को समझाने का प्रयास भी है। इस 'भूमिका' के उत्तर में निराला का प्रसिद्ध लेख 'पंतजी और पल्लव' प्रकाशित हुआ। इसमें निराला ने काव्य–भाषा से सम्बन्धित अपनी असहमतियों के साथ–साथ अपने मतों को भी प्रकट

किया। पुनः निराला ने 'परिमल' की भूमिका में नयी काव्य–प्रवृत्तियों के संदर्भ में भाषा–शैली का विवेचन किया। जयशंकर प्रसाद ने 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' नामक पुस्तक में तथा महादेवी वर्मा ने भी अपने निबन्धों तथा काव्य–संग्रहों की भूमिकाओं में काव्य–भाषा का सैद्धान्तिक विश्लेषण आंशिक रूप से किया। छायावादी कवियों ने अपनी आवश्यकता के अनुसार ही काव्य–भाषा के सिद्धान्तों की चर्चा की। इन विश्लेषणों में काव्य–भाषा को विषय बनाकर उसके सभी पक्षों पर विचार की कोई ऐसी कोशिश नहीं दिखाई पड़ती जिनके आधार पर आदिकाल से लेकर छायावाद तक की काव्य–भाषा का विश्लेषण किया जा सके। यह पूरा चिंतन प्रायः छायावादी काव्य–भाषा अथवा कवि की अपनी काव्य–भाषा के गिर्द घूमता रहा।

इस प्रसंग में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के योगदान की विशेष चर्चा की जानी चाहिए। 'बुद्धचरित' के अनुवाद (1938 ई.) की भूमिका में 'काव्य–भाषा' शीर्षक उनका विस्तृत निबन्ध है। 'जायसी ग्रन्थावली' (1924 ई.) की भूमिका में काव्यभाषा का संवेदना के संदर्भ में विश्लेषण किया गया है। इसके अतिरिक्त 'चिंतामणि' भाग–एक (1939 ई.) में संकलित 'कविता क्या है?' शीर्षक प्रसिद्ध निबन्ध में उपशीर्षक 'कविता की भाषा' के अन्तर्गत शुक्ल जी ने काव्य–भाषा के संदर्भ में अपना विचार–विश्लेषण प्रस्तुत किया है। आचार्य शुक्ल ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में भी जगह–जगह पर काव्य–भाषा पर अपने विचार प्रकट किए हैं। कुल मिलाकर उन्होंने काव्य–भाषा के सम्बन्ध में एक दृष्टिकोण अवश्य दिया, लेकिन इसे व्यवस्थित सैद्धान्तिक विश्लेषण नहीं कहा जा सकता है।

आचार्य शुक्ल की काव्य–भाषा–दृष्टि को विभिन्न प्रकरणों से संदर्भित करते हुए मैनेजर पाण्डेय ने लिखा है, "आचार्य शुक्ल का काव्य–भाषा–सम्बन्धी दृष्टिकोण भी बहुत कुछ छायावादी काव्य–भाषा के निकट है। वे छायावाद की काव्यभाषा की कृत्रिमता की आलोचना करते हैं, लेकिन उसकी लाक्षणिकता, प्रयोगवैचित्र्य, बिंबधर्मिता, वाग्विदग्धता, अभिव्यंजकता और पदलालित्य को स्वीकार करते हैं, काव्यभाषा सम्बन्धी उनका यह दृष्टिकोण उनके इतिहास में विभिन्न कालों की रचनाओं और रचनाकारों के मूल्यांकन में देखा जा सकता है। वे नाथों, सिद्धों की कविता में 'संस्कृतवाणी' का अभाव देखते हैं, कबीर की भाषा को सधुक्कड़ी और पंचमेल खिचड़ी कहते हैं। बीसलदेव रासो की भाषा के बारे में उनका विचार है कि वह साहित्यिक नहीं है, राजस्थानी है। निर्गुण पंथियों में सुंदरदास की रचना उन्हें साहित्यिक लगती है, क्योंकि उनकी भाषा काव्य की मँजी हुई ब्रजभाषा है। वे सूर की वाग्विदग्धता पर ही मुग्ध नहीं होते, वे घनानन्द की लाक्षणिक

वक्रता की जगह–जगह प्रशंसा करते हुए छायावादियों की काव्यभाषा से उसकी तुलना करते हैं। वे द्विवेदीयुग की काव्यभाषा को गद्यवत्, रूखा, इतिवृत्तात्मक और बाह्यार्थ निरूपक कहकर उसकी आलोचना करते हैं।''[26]

विभिन्न युगों और कवियों की काव्यभाषाओं का विवेचन करके शुक्लजी ने काव्यभाषा के व्यावहारिक अध्ययन के पक्ष को मजबूती प्रदान की। आचार्य शुक्ल के बाद प्रगतिवादी आलोचकों में रामविलास शर्मा और नामवर सिंह ने काव्य–भाषा पर अपनी विभिन्न पुस्तकों में विचार प्रस्तुत किए। 'भाषा, युगबोध और कविता' नामक पुस्तक में रामविलास शर्मा ने प्रायः काव्य–भाषा से सम्बन्धित व्यावहारिक विश्लेषण किया है। 'कविता के नये प्रतिमान' (1968 ई.) में नामवर सिंह ने काव्य–भाषा का थोड़ा बहुत सैद्धान्तिक विश्लेषण किया है। प्रयोगवादी कवियों और आलोचकों ने इस दिशा में कोई मौलिक काम नहीं किया है। रामस्वरूप चतुर्वेदी की पुस्तकें 'भाषा और संवेदना (1964ई.) 'मध्यकालीन हिन्दी काव्य–भाषा' (1974 ई.) तथा 'सर्जन और भाषिक संरचना' (1980 ई.) रेखांकित करने योग्य हैं।

शुरुआती भाषा वैज्ञानिक अध्ययनों के क्रम में बोलियों के साहित्यिक रूपों का भी विवेचन हुआ है। इन ग्रन्थों में बोलियों के मौखिक रूप, साहित्यिक रूप का व्याकरण तथा भाषा–विज्ञान की दृष्टि से अध्ययन किया गया है। इन बोलियों में लिखित साहित्य का अध्ययन करते हुए इन अध्येताओं ने काव्य–भाषा से सम्बन्धित कुछ दृष्टियाँ अवश्य दीं। बाबूराम सक्सेना की पुस्तक 'अवधी का विकास' (1937ई.) में जायसी और तुलसी की अवधी का विवेचन किया गया। पर यहाँ मुख्य ध्यान व्याकरणिक विश्लेषण ही रहा। धीरेन्द्र वर्मा की पुस्तक 'ब्रज भाषा' (1954 ई.), रामकुमार वर्मा के 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' (1938 ई.) में मध्यकालीन साहित्य की दो मुख्य भाषाओं– ब्रज और अवधी– की काव्य–भाषा के आधार–रूपों को अपने वर्गीकरण और विश्लेषण में महत्त्व दिया गया है।

हिन्दी में काव्य–भाषा के सैद्धान्तिक पक्ष पर व्यापक काम नहीं हुआ है। हिन्दी भाषा की प्रकृति को ध्यान में रखकर काव्य–भाषा के सिद्धान्तों का निर्धारण एक मौलिक दृष्टि की माँग करता है। संस्कृत और पश्चिमी विश्लेषण से हिन्दी की काव्य–भाषा का सैद्धान्तिक अध्ययन संभव नहीं है। हिन्दी में काव्य–भाषा के व्यावहारिक विश्लेषण का काम छिटपुट तरीके से बहुत हुआ है। व्यवस्थित और व्यापक अध्ययन का घोर अभाव

दिखाई पड़ता है। दरअसल काव्य–भाषा के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक अध्ययन परस्पर आश्रित हैं। दोनों एक–दूसरे को प्रभावित करते हैं। सैद्धान्तिक अध्ययन का अभाव इस बात का स्वयं प्रमाण है कि व्यावहारिक अध्ययन की कमी बनी रहेगी।

अभी तक ऐसी पुस्तकों का अभाव है जिनमें काव्य–भाषा के आधार पर आदिकाल या भक्तिकाल का अध्ययन और मूल्यांकन हुआ हो। 'आधुनिक हिन्दी काव्य–भाषा' नामक पुस्तक में डॉ. रामकुमार सिंह ने भारतेन्दु–युग से प्रयोगवाद तक की काव्य–भाषा का अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। आधुनिक हिन्दी कविता की भाषा के इतने अधिक आयाम हैं कि लेखक इनका बारीक अध्ययन प्रस्तुत नहीं कर पाया है।

विभिन्न रचनाओं की काव्य–भाषा के अध्ययन से सम्बन्धित कुछ पुस्तकों की चर्चा आवश्यक है। नामवर सिंह द्वारा 'पृथ्वीराज रासो की भाषा' (1956 ई.), शिवप्रसाद सिंह द्वारा 'कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा', रमेशचन्द्र गुप्त द्वारा 'कामायनी की भाषा' काव्य–भाषा के व्यावहारिक अध्ययन की दृष्टि से मार्गदर्शक हैं। इन पुस्तकों में तार्किक और भाषावैज्ञानिक तरीके से भाषा–पक्ष पर विचार किया गया है। 'बिहारी सतसई का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन' (रामकुमारी मिश्र, 1970) भी उल्लेखनीय है।

कवि–विशेष की काव्य–भाषा पर किए गए कुछ अध्ययन महत्त्वपूर्ण माने जा सकते हैं। प्रेमनारायण टंडन ने 'सूर की भाषा' (1957 ई.) नामक पुस्तक में भाषा–वैज्ञानिक, भाषाशास्त्रीय एवं सांस्कृतिक दृष्टियों से सूर की भाषा का अध्ययन किया है। निर्मला सक्सेना ने 'सूरसागर शब्दावली' (1962 ई.) में सूर की काव्य–भाषा का सांस्कृतिक दृष्टि से अध्ययन किया है। देवकीनंदन श्रीवास्तव द्वारा 'तुलसीदास़ की भाषा' (1957 ई.) मातबदल जायसवाल द्वारा 'कबीर की भाषा' (1965), शिवप्रसाद सिंह द्वारा 'सूर पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य' (1958 ई.) उल्लेखनीय है।

ये सारे अध्ययन हिन्दी में काव्य–भाषा के आधार पर कविता के मूल्यांकन के लिए प्रयासरत दिखाई पड़ते हैं। ऐसी कोई काव्य–भाषा सम्बन्धी दृष्टि हिन्दी में नहीं बन पायी, जिसके आधार पर हिन्दी कविता के इतिहास को काव्य–भाषा के आधार पर लिखा जा सके।

छायावादी दौर से कवियों में काव्य–भाषा पर विचार करने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। छायावाद के बाद यह प्रवृत्ति बढ़ती गयी। छायावादोत्तर कवि निरन्तर भाषा के लिए संघर्षरत दिखायी पड़ता है। वह अपनी काव्य–भाषा को तलाशते हुए महत्त्वपूर्ण

विचार–विमर्श भी प्रस्तुत करता गया। हालाँकि यहाँ भी कोई सैद्धान्तिक ढाँचा तैयार नहीं हो पाया जिसके आधार पर काव्य–भाषा सम्बन्धी अध्ययन को व्यापक आधार मिल पाता। छायावादोत्तर कवियों के काव्य–भाषा सम्बन्धी विचारों को संक्षेप में देखना प्रासंगिक होगा। इन कवियों में भाषा के प्रति अतिरिक्त सजगता और उसकी चिंता–चर्चा की प्रवृत्ति दिखायी पड़ती है।

अज्ञेय भाषा के प्रति विशेष सावधान रहे हैं। भाषा के संदर्भ में उन्होंने कवि को निरन्तर खोज में लगा हुआ 'चिरयात्री' बताया है। अज्ञेय के काव्य–भाषा–चिंतन का एक महत्त्वपूर्ण पहलू है कि वे 'शब्द' पर ज़ोर देते हैं 'भाषा' पर नहीं, ''कविता शब्द में होती है, विचार भाषा में होता है..... वे विचार से आरम्भ करते हैं इसलिए वे भाषा से आरम्भ करते हैं; विचारों का संप्रेषण गद्य में भी हो सकता है, इसलिए अपने विचारों को काव्यत्व ओढ़ाने के लिए भाषा को कुछ ओढ़ाते हैं, उसे कसते हैं, उसे रंगत देते हैं; हर हालत में भाषा में कुछ जोड़ते हैं; भाषा उनके लिए पहले से ही दी हुई चीज़ होती है और अंत तक दी हुई चीज़ बनी रह जाती है। पर कविता जोड़कर नहीं बनती, वह रची जाती है: उसका प्रतिज्ञात या 'गिवन' भाषा नहीं, केवल शब्दों के सान्निध्य मात्र से नये अर्थ रचता है, अर्थों, भावों, ध्वनियों, संस्कारों, रूपाकारों की अनेक गूंजें, अनुगूँजें उत्पन्न करता है, ध्वन्यर्थों का एक पूरा संसार रच देता है।''[27] अज्ञेय ने 'भाषा' की जगह 'शब्द' को कविता में महत्त्वपूर्ण बताया है। निश्चय ही उपर्युक्त विश्लेषण सूक्ष्म दृष्टि का परिचायक है। अज्ञेय ने यह नहीं बताया कि किस कवि की कविता का, शब्दों के आधार पर, उपर्युक्त पद्धति पर विश्लेषण किया जा सकता है। अज्ञेय उदाहरण देने से बचते रहे हैं। अपने सिद्धान्तों के हिसाब से, प्रायः वे अपनी ही कविता को, उदाहरण के रूप में रखकर सिद्ध करने की कोशिश करते हैं। काव्य–भाषा–सम्बन्धी उनके सिद्धान्त बारीक तो लगते हैं, पर उन्हें हिन्दी की महत्त्वपूर्ण कविताओं पर कैसे लागू किया जाए, यह मुश्किल जान पड़ता है।

अज्ञेय अपने सिद्धान्तों से महान् कविता की संभावना उत्पन्न करते जान पड़ते हैं। इस प्रयास में वे सिद्धान्तों को क्रमशः सूक्ष्मतर बनाते जाते हैं, जिन्हें काव्य–भाषा के व्यावहारिक अध्ययन में उपयोग कर पाना आसान नहीं होता। अज्ञेय ने कविता की भाषा से सम्बन्धित अनेक नए पक्षों को रखा है, जिन्हें जानकर लगता है कि हिन्दी की काव्य–भाषा इन्हें अपनाकर समृद्ध हो सकती है। अज्ञेय प्रायः ऐसे विचार–विमर्श को दार्शनिकता की कोटि में पहुँचाकर अमूर्त बना देते हैं। उनका एक और कथन रखकर

उनके योगदान के स्वरूप पर विचार किया जा सकता है। "कवि शब्दों का न केवल भरपूर सार्थक प्रयोग करता है बल्कि कभी–कभी शब्दों या वर्णों का उपयोग न करके ही अर्थ की वृद्धि करता है– यानी शब्दों का ही अर्थगर्भ उपयोग नहीं, अर्थगर्भ मौन का भी उपयोग करता है। मुझे हमेशा लगा है कि यही भाषा का श्रेष्ठ कलात्मक उपयोग है– जिसमें न केवल शब्दों के निहित और सम्भाव्य अर्थों का पूरा उपयोग किया जाता है बल्कि उन अर्थों का भी जो कि शब्दों के बीच के शब्दहीन अंतराल में भरे जा सकते हैं। मैंने जब कहा "केवल सही शब्द मिल जायें तो", उसका यही आशय है। सही शब्द वे ही हैं जो उनके बीच के अंतराल का सबसे अधिक उपयोग करें– अंतराल के उस मौन द्वारा भी अर्थवत्ता का पूरा ऐश्वर्य सम्प्रेषित कर सकें। इतना ही क्यों, पूर्व की परम्परा के उत्तराधिकारी के नाते मैं यहाँ तक कह सकता हूँ कि कविता भाषा में नहीं होती, वह शब्दों में भी नहीं होती, कविता शब्दों के बीच की नीरवताओं में होती है और कवि सहज बोध से जानता है कि उससे दूसरे तक पहुँचा जा सकता है, उससे संलाप की स्थिति पायी जा सकती है, क्योंकि वह जानता है कि मौन के द्वारा भी सम्प्रेषण हो सकता है।"[28]

अज्ञेय के उपर्युक्त लंबे कथन में कई बातों पर विचार करना आवश्यक है। 'अर्थगर्भ मौन' को 'भाषा का श्रेष्ठ कलात्मक उपयोग' अज्ञेय बताते हैं। बिना शब्द, बिना वर्ण के 'अर्थगर्भ मौन' उत्पन्न करना कवि के लिए चुनौती का काम है। अज्ञेय 'शब्दों के बीच शब्दहीन अंतराल' को अर्थ से भरना चाहते हैं– यह और भी चुनौतीपूर्ण काम है। कविता न तो 'भाषा' में होती है, न 'शब्दों' में– 'कविता शब्दों के बीच की नीरवताओं में होती है।' कुल मिलाकर 'मौन'–'अर्थगर्भ मौन' ही सर्वश्रेष्ठ कलात्मक सम्प्रेषण कहला सकता है। इस प्रकार के विचार प्रकट करने के बाद अज्ञेय उदाहरण के रूप में अपने काव्य–संग्रह 'इन्द्रधनु रौंदे हुए ये' की 'मुझे तीन दो शब्द' (1955) शीर्षक कविता रखते हैं। काव्य–भाषा के ऊँचे सिद्धान्तों की चर्चा के साथ अज्ञेय की यह कविता बिल्कुल नहीं जँचती। उपर्युक्त सिद्धान्तों की चर्चा तो हमेशा होती रही, पर इस कविता की चर्चा नहीं सुनी गयी। अच्छा होता यदि अज्ञेय हिन्दी के अन्य कवियों की कविताओं पर भी अपने सिद्धान्त लागू करके देखते। 'अर्थगर्भ मौन' का कोई उदाहरण तुलसीदास की कविता से देनी चाहिए था ताकि काव्य–भाषा के इस सिद्धान्त की चौतरफा जाँच हो पाती। बिना शब्द और वर्ण के 'अर्थगर्भ मौन' उत्पन्न करना अज्ञेय के अलावा क्या किसी अन्य कवि के वश की बात नहीं थी? शब्दों के बिना अर्थ उत्पन्न करने की माँग कविता के साथ ज़्यादती है। ऐसी सूक्ष्म कला 'हाथ की सफाई' हो सकती है, कविता नहीं हो सकती।

कविता को भाषा और शब्दों से परे बताना, उसे 'शब्दों के बीच की नीरवताओं में' तलाशना– एकालाप हो सकता है, व्यवस्थित चिंतन नहीं।

अज्ञेय के काव्यभाषा–चिंतन की चर्चा हिन्दी आलोचना में प्रशंसात्मक दृष्टि से होती रही है। निश्चय ही उनके चिंतन में दार्शनिक गहराई है। कठिनाई यह है कि उनके चिंतन को किसी दूसरे कवि पर लागू कर पाना संभव नहीं है। उनके चिंतन को आधार बनाकर परवर्ती कवियों ने भी कुछ ऐसा नहीं रचा, जिसे रेखांकित किया जा सके। अज्ञेय के चिंतन को आधार बनाकर काव्य–भाषा का कोई भी सैद्धान्तिक ढाँचा तैयार करना मुश्किल काम है। उनके चिंतन के बारे में यही कहा जा सकता है कि कवि–कर्म के दौरान काव्यभाषा सम्बन्धी अनुभूत प्रक्रियाओं को सैद्धान्तिक रूप देने का एक दार्शनिक प्रयास है। कविता और काव्यभाषा को देखने का यह व्यक्तिवादी दृष्टिकोण है। उन्होंने दूसरे श्रेष्ठ कवियों की काव्य–भाषा को ध्यान में रखे बगैर काव्य–भाषा सम्बन्धी अनेक कल्पित सिद्धान्त खड़ा करने की कोशिश की है।

TH-16922

मुक्तिबोध ने 'तीसरा क्षण' नामक लेख में काव्य की रचना–प्रक्रिया के संदर्भ में काव्य–भाषा की चर्चा की है। मुख्य रूप से फैंटेसी और भाषा के सम्बन्ध पर यह चर्चा आधारित है। फैंटेसी मुक्तिबोध की पहचान है, "भाषा सामाजिक निधि है। शब्द के पीछे एक अर्थ–परम्परा है। ये अर्थ जीवनानुभव से जुड़े हैं। फैण्टेसी अपने अनुकूल शब्दों में स्थित अर्थ–स्पन्दन को उद्‌बुद्ध करती है। इन शब्दों के ढाँचों में फैण्टेसी को फिट करना पड़ता है, इसलिए फैण्टेसी का मौलिक तेज़ काफी कट–छँट जाता है।"[29] भाषा फैंटेसी को विरूपित कर देती है, इसलिए फैंटेसी से प्राप्त भाषा को अपनाना चाहिए, "इसके विपरीत फैण्टेसी द्वारा उद्‌बुद्ध शब्दों के अर्थ–अनुषंग और उनसे सम्बद्ध चित्र नयी भाव–धाराएँ बहा देते हैं। ये भाव–धाराएँ फैण्टेसी के अनुकूल और समीपवर्ती होती हैं।"[30]

भाषा सामाजिक है, इसलिए उसका अर्थ भी निर्धारित, प्रचलित और स्वीकृत है। कवि फैंटेसी के माध्यम से इस भाषा को नया अर्थ देता है। काव्य–भाषा भाषा को समृद्ध बनाती है, "कवि की यह फ़ैण्टेसी भाषा को समृद्ध बना देती है, उसमें नये अर्थ–अनुसंग भर देती है, शब्द को नये चित्र प्रदान करती है। इस प्रकार, कवि भाषा का निर्माण करता है।"[31] मुक्तिबोध के उपर्युक्त विचारों के अनुसार कविता में भाषा नयी अर्थच्छायाएँ प्राप्त करती है। भाषा का प्रचलित अर्थ कविता के अभीष्ट अर्थ को प्रस्तुत नहीं कर पाता है। महान् कविताओं की भाषा शब्दों को अर्थ–विस्तार प्रदान करती है और उन्हें रूढ़ अर्थ से

मुक्त कर जीवंत बनाती है। हिन्दी में काव्य–भाषा–चिंतन को ठोस आधार प्रदान करने की जरूरत अभी भी बनी हुई है। हिन्दी भाषा की प्रकृति को महत्त्व देकर इस चिंतन को विकसित करना चाहिए। केवल दो–चार बिन्दुओं के आधार पर अपनी ही कविता को ध्यान में रखते हुए काव्य–भाषा के अध्ययन से इस चिंतन को व्यापक नहीं बनाया जा सकता। हिन्दी की काव्य–भाषा के विकास के एक हजार वर्ष की परम्परा को ध्यान में रखना चाहिए, साथ ही पूरे विश्लेषण के पीछे एक इतिहास–दृष्टि अनिवार्य है।

(घ) काव्य–भाषा और अन्य विधाओं की भाषा

लूसिएँ गोल्डमान ने माना है कि "कविता में भाषिक संरचनाएँ उपन्यास और नाटक से अधिक महत्त्वपूर्ण होती हैं और भाषिक संरचनाओं के विश्लेषण के अभाव में कविता की व्याख्या मुश्किल होगी।"[32] काव्य–भाषा की तुलना में अन्य विधाओं की भाषा का संरचनात्मक विश्लेषण अपेक्षाकृत कम महत्त्वपूर्ण होता है। उपन्यास और नाटक की भाषा का विश्लेषण काव्य–भाषा की पद्धति पर नहीं किया जाता है। भाषिक बनावट को ध्यान में रखे बगैर कविता के मर्म तक पहुँचना मुश्किल है। यही कारण है कि अनूदित कविता मूल कविता के प्रभाव से भिन्न प्रभाव छोड़ती है। अनूदित कथा–भाषा और मूल कथा–भाषा के प्रभावों में अंतर अपेक्षाकृत कम होता है। एक स्पष्टीकरण आवश्यक है। काव्यभाषा और अन्य विधाओं की भाषा के बीच तुलना करते हुए ध्यान रखना पड़ेगा कि यहाँ पद्यभाषा और गद्यभाषा की तुलना करना लक्ष्य नहीं है। हिन्दी साहित्य के इतिहास को ध्यान में रखा जाए तो हम पाते हैं कि पद्यभाषा अनिवार्यतः काव्यभाषा नहीं होती है और काव्य–भाषा गद्यात्मक भी होती है। पद्यभाषा को काव्यभाषा मानना, कविता के प्रति बहुत पुरानी मान्यताओं को दुहराना है। काव्य–भाषा की तुलना कथा–भाषा और नाट्य–भाषा से करना प्रासंगिक होगा।

काव्य–भाषा का पाठ किया जाता है। छन्दोबद्ध कविता से लेकर मुक्तछंद और छंदमुक्त कविता लिखी जाने के बावजूद उसका पाठ आज तक होता रहा है। कविता की कसौटी है पाठ। कविता पढ़कर सुनायी जाए, तभी उसके पूरे प्रभाव तक पहुँचने की संभावना रहती है। छपी हुई कविता मानो पाठ से जी उठती है। इसलिए काव्यभाषा का स्वरूप भाषा के उच्चरित रूप के अनुसार निर्धारित होता है, लिखित के अनुसार नहीं। कथा–भाषा का स्वरूप लिखित के अनुसार निर्धारित होता है। सुनने–सुनाने की परम्परा वाली कथा–भाषा की प्रकृति दूसरी होती है। कहानी और उपन्यास की भाषा का स्वरूप पूरी तरह लिखित रह गया है। कहानी–उपन्यास को कभी–कभी सभाओं में सुनाने के छिटपुट प्रयास दिखाई पड़ते हैं, किन्तु कविता की तुलना में कथा–भाषा का उच्चरित रूप कम महत्त्व रखता है। उसकी असली बुनियाद भाषा के लिखित रूप में है। यहीं 'टोन' से अर्थ की संभावना काव्यभाषा में प्रकट होती है। भाषा का उच्चरित रूप, शब्द के निर्धारित अर्थ की बजाय, 'टोन' और 'काकु' से ज़्यादा अर्थ–ग्रहण करता है। महान् कवियों के कविता–पाठ का अतिरिक्त प्रभाव हम ग्रहण करते हैं। कथा–भाषा के पाठ से अतिरिक्त अर्थ ग्रहण की संभावना न्यूनतम होती है।

काव्य–भाषा का उच्चरित रूप महत्त्वपूर्ण है, इसलिए कवि व्यक्तिगत प्रयास से भाषा के नए स्वभाव को खोज निकालता है। कवि को लिखित भाषा के साथ–साथ उच्चरित भाषा की अर्थ–संभावनाओं की सहूलियत मिलती है। यही कारण है कि कथाभाषा में स्वाभाविकता की रक्षा का प्रयास काव्यभाषा की तुलना में ज़्यादा करना पड़ता है। कथा–भाषा का उच्चरित रूप या लिखित रूप साधारणतः यथार्थ जीवन की भाषा से लिया जाता है। उसका उच्चरित रूप भी प्रायः समाज के अनुसार ही होता है। अतः उच्चरित रूप के कारण काव्य–भाषा में अर्थ–समृद्धि की संभावना अतिरिक्त है।

कथाभाषा दृश्यों, कार्यों और व्यक्तियों की ओर पाठ का ध्यान आकर्षित करती है। दृश्यों, कार्यों और व्यक्तियों के वर्णन–चित्रण में कथाकार भावों और विचारों को भी भाषाबद्ध करता है। भावों और विचारों को व्यक्त करनेवाली कथा–भाषा अपनी बनावट की ओर पाठक का ध्यान जरूर खींचती है, किन्तु कथा–भाषा का पाठक प्रायः दृश्यों, कार्यों और व्यक्तियों के वर्णन–चित्रण को पढ़ना अभीष्ट मानता है। काव्य–भाषा में दृश्यों, कार्यों और व्यक्तियों के वर्णन–चित्रण की प्रकृति प्रायः बिम्बात्मक होती है, इसलिए भाषा का विश्लेषण अपेक्षाकृत महत्त्वपूर्ण हो जाता है। वर्णन–चित्रण में कथा–भाषा अपेक्षाकृत यथातथ्यात्मक होती है, उसमें कल्पना से अतिरिक्त बातें जोड़ने की प्रवृत्ति प्रायः नहीं रहती है। कथाकार कोशिश करता है कि वर्णन–चित्रण को स्वाभाविक बनाने के लिए कल्पना का उपयोग किया जाए, न कि कल्पना के सहारे वर्णन–चित्रण को अतिरिक्त भव्यता प्रदान की जाए। काव्य–भाषा में कल्पना के सहारे बिम्ब–प्रतीक, अप्रस्तुत विधान की योजना की जाती है। काव्य–भाषा अपनी मूल बनावट में ही अप्रस्तुत–विधान की तरफ झुकी होती है। बिम्ब, प्रतीक, अप्रस्तुत–विधान भले ही समय–समय पर बदलते गए हों, किन्तु काव्य–भाषा में इनकी उपस्थिति किसी न किसी रूप में रहती ही है। इसलिए कथा–साहित्य में पाठक का ध्यान दृश्यों, कार्यों और व्यक्तियों की तरफ होता है, जबकि कविता पढ़ते हुए पाठक का ध्यान भाषा की तरफ अनिवार्यतः चला जाता है।

यहीं यह संभावना प्रकट होती है कि काव्यभाषा के विश्लेषण के लिए भाष्यकार, टीकाकार, व्याख्याकार अथवा आलोचक की जरूरत है। कविता के बोध के प्रारम्भिक स्तर पर ही व्याख्या की जरूरत महसूस होने लगती है। कविता का मूल कथ्य यदि सीधे समझ में आ भी जाए, तो भी अपेक्षा होती है कि 'अंदाज–ए–बयाँ' की सुंदरता को ज़रा ठहर कर देखा जाए! शैली की सुंदरता को जानने के लिए भाषा का विश्लेषण आवश्यक हो जाता है।

कथा–भाषा को प्रारम्भिक स्तर पर व्याख्या की जरूरत प्रायः नहीं होती है। यहाँ आलोचक की जरूरत मूल कथ्य, उद्देश्य, विचार आदि को स्पष्ट करने के लिए पड़ सकती है। एक ही समय के श्रेष्ठ उपन्यास 'गोदान' और श्रेष्ठ काव्य 'कामायनी' के आधार पर उपर्युक्त विश्लेषण को प्रमाणित किया जा सकता है। 'गोदान' के अब तक ऐसे लाखों पाठक होंगे, जिन्हें किसी आलोचक की जरूरत नहीं पड़ी। इन पाठकों ने 'गोदान' को पढ़ते हुए प्राथमिक स्तर पर कोई रुकावट महसूस नहीं की। उन्हें 'गोदान' की भाषा–शैली और विषय–वस्तु ऐसी लगी कि आद्योपान्त पढ़ लिया जाए और साहित्य पढ़ने का सुख प्राप्त कर लिया जाए। 'कामायनी' को इस प्रकार के पाठक कभी नहीं मिले। इसे प्राथमिक स्तर पर भी समझने के लिए टीका या आलोचना की जरूरत पड़ती है।

कविता के शब्द उसकी पहचान बन जाते हैं। शब्द पर आधारित पहचान होने के कारण कविता का अनुवाद मूल जैसा प्रभाव नहीं रख पाता। आजतक कविता का कोई अनुवाद ऐसा नहीं हुआ है, जिसमें मूल कविता की भाषिक संवेदनशीलता की रक्षा हो पायी हो। इसकी तुलना में कथा–भाषा का अनुवाद सफलतापूर्वक किया गया है। बंकिम और शरत् के उपन्यासों को हिन्दी में प्रभावशाली ढंग से अनूदित किया गया है। परन्तु रवीन्द्रनाथ की बंगला कविताओं का हिन्दी अनुवाद प्रभाव नहीं छोड़ पाता। काव्य–भाषा में कथा–भाषा की अपेक्षा शब्दों का चयन ज़्यादा संवेदनशीलता की माँग करता है।

काव्य–भाषा और कथा–भाषा में अंतर को स्पष्ट करने के क्रम में पाश्चात्य विचारक क्रिस्टोफर कॉडवेल और डेविड लॉज के विचारों को रखना प्रासंगिक होगा। क्रिस्टोफर कॉडवेल ने 'Illusion and Reality' (भ्रम और यथार्थ, 1937) नामक पुस्तक में लिखा है, "The poem and the story both use sounds which awake images of outer reality and affective reverberations; but in poetry the affective reverberations are organized by the structure of the language, which in the novel they are organized by structure of the outer reality portrayed."[33] कॉडवेल का एक और कथन उल्लेखनीय है, "This means that in the novel the emotional associations attach not to words but to the moving current of mock reality symbolised by the words. This is why rhythm, 'preciousness', and style are alien to the novel; why the novel translates so well; why novels are not composed of words. They are composed of scenes, actions, stuff, people, just as plays are."[34]

कॉडवेल ने काव्यभाषा और उपन्यास की भाषा में अंतर बताया कि उपन्यास बाह्य यथार्थ (outer reality) को मिटाकर नकली यथार्थ (mock reality) को स्थापित करता है जो शब्दों के माध्यम से बनाया जाता है। इस नकली यथार्थ में पाठक तथा यथार्थ के बीच सामंजस्य बनाने की अपार क्षमता होती है। उपन्यास में भावनात्मक साहचर्य (emotional associations) का सम्बन्ध भाषा से न होकर नकली यथार्थ से होता है। यही कारण है कि भाषा की कलात्मक विशेषताएँ जैसे– लय, शैली आदि उपन्यास के लिए कम महत्त्व रखती है। भाषा की कलात्मक विशेषताओं के गौण होने के कारण उपन्यास का भलीभाँति अनुवाद हो जाता है। उपन्यास की निर्मिति में दृश्य, कार्यव्यापार, उपादान और पात्र महत्वपूर्ण होते हैं। अलंकृत भाषा–शैली उपन्यास के उपयुक्त नहीं होती, क्योंकि पाठक का ध्यान दृश्य, कार्य–व्यापार, उपादान और व्यक्ति से हटकर भाषा–शैली पर लगा रहेगा। ऐसा होने से उपन्यास की निर्मिति के मूलाधारों की क्षति होगी। उपन्यास की बनावट है कि पाठक भाषा से सीधे यथार्थ पर पहुँचे, तब भावनात्मक साहचर्य को अनुभूत करे। कविता में पाठक भाषा से सीधे भावनात्मक साहचर्य पर पहुँचता है।

डेविड लॉज ने क्रिस्टोफर कॉडवेल के विचारों की विस्तार से आलोचना की है। उपन्यास और यथार्थ के सम्बन्ध के बीच कथा–भाषा की स्थिति को लेकर डेविड लॉज कॉडवेल से असहमति जताते हैं, "Caudwell's argument has a certain pragmatic appeal which must be recognized. We are usually less conscious of a novelist's use of language than of a poet's. We do tend to experience and recall a novel, not as a system of words, images, symbols, and sounds, but as a system of actions, situations, settings, and we continue to find the terms 'plot' and 'character' indispensable."[35] डेविड लॉज आगे लिखते हैं, "..... reality is structed by the novelist not only in the particular characters, events, and objects in which he represents it, but initially in the words and arrangements of words with which he creates these characters, events, and objects."[36]

डेविड लॉज मानते हैं कि उपन्यास में केवल 'प्लाट' और पात्र महत्त्वपूर्ण नहीं होते, वहाँ भी शब्द और शब्दों का क्रम महत्त्वपूर्ण हैं। उपन्यासकार जिस यथार्थ को पात्रों, घटनाओं, उपादानों आदि के माध्यम से प्रस्तुत करता है, वे सब शब्द और शब्दों की व्यवस्था में ही प्राथमिक स्तर पर व्यक्त होते हैं। कॉडवेल ने उपन्यास की भाषा और काव्यभाषा में जो अंतर बताया था, उसे अस्वीकार करते हुए डेविड लॉज कहते हैं, "... a novel is made of words just as much as a poem is made of words."[37] कविता की

तरह उपन्यास भी शब्दों से बना है, अतः दोनों विधाओं में भाषिक विश्लेषण अपेक्षित और महत्त्वपूर्ण है।

काव्यभाषा और कथाभाषा में जो भी अंतर दर्शाये गए हैं, वे अंतिम नहीं हो सकते। दोनों की मुख्य पहचान को चिह्नित किया जा सकता है। इनके गुणात्मक अंतर को दिखाने की कोशिश की गयी है। नाटक मूलतः गद्यात्मक होता है, किन्तु कविता की संभावना इसमें बनी रहती है। उच्च कोटि के अनेक नाटकों में कविताएँ सम्मिलित हैं। अतः नाट्य भाषा में काव्य–भाषा और कथा–भाषा के लिए जगह होती है। काव्यभाषा की ही तरह नाट्यभाषा का मूल रूप उच्चरित होता है, लिखित नहीं। नाटक की सफलता उसकी अभिनेयता में निहित है। जैसे काव्यभाषा का सारा प्रभाव उसके पाठ से उत्पन्न होता है, उसी प्रकार नाट्यभाषा का सारा प्रभाव, उसका मंचन करते हुए, संवाद अदायगी से उत्पन्न होता है। यह सही है कि दोनों विधाओं में भाषा का उच्चरित रूप प्रयुक्त होता है, किन्तु नाटककार को ध्यान रखना है कि उसकी भाषा को संवाद के रूप में उच्चरित करना है। संवाद के रूप में भाषा को ढालते समय देखना जरूरी है कि भाषा बोधगम्य रहे, वह कथन की तरह लगे। नाटक में अभिनय होता है। अभिनय के द्वारा नाट्यभाषा को सहायता मिलती है। सभी बातों को भाषा में कहने की विवशता नहीं रहती। रंग–निर्देश के द्वारा पात्रों से अभिनय करवाकर भाषा के खाली स्थानों को भरा जाता है। 'एक्शन' नाटक का अभिन्न हिस्सा है। 'एक्शन' और संवाद के बीच तालमेल ज़रूरी है। अतः नाट्यभाषा अभिनेयता से प्रभावित होती है। काव्यभाषा को निर्धारित करनेवाला ऐसा कोई तत्त्व नहीं होता।

काव्यभाषा के दो ही पक्ष हैं: कवि और पाठक/श्रोता। कवि कविताएँ रचकर पाठक को सुनाता है। यहाँ अभिव्यक्ति और संप्रेषण के बीच कोई तीसरा पक्ष नहीं है। नाट्यभाषा के तीन पक्ष हैं: नाटककार, सहृदय और अभिनेता। अभिनेता या नाटकीय पात्र के कारण नाट्यभाषा काव्यभाषा से अलग प्रकृति प्राप्त करती है। नाटक में पात्र इतने महत्वपूर्ण हैं कि नाटककार उनके सामने गौण पड़ जाता है। पात्र नाट्यभाषा को प्रेक्षक तक पहुँचाते हैं। रचते समय नाटककार ध्यान रखता है कि पात्रों के माध्यम से उसकी नाट्यभाषा को प्रेक्षक तक पहुँचना है। इस प्रकार नाट्यभाषा पर पात्रों का प्रभाव पड़ता है। पात्रों की विविधता के कारण नाट्यभाषा में प्रायः विविधता आ ही जाती है। नाटककारों पात्रों की विशिष्ट पहचान बनाने के लिए भी विविध प्रकार की शैली या बातचीत के अंदाज़ को अपनाता है। काव्यभाषा में ऐसी संभावना नहीं होती। नाट्यभाषा

किसी भी युग में एकरूप नहीं रह पायी, जबकि काव्यभाषा में एकरूपता, पिष्टपेषण आम बात होती है।

काव्य–भाषा को समयानुसार बदलना संभव नहीं है। उसमें हेर–फेर की गुंजाइश नहीं के बराबर होती है। नाट्यभाषा को समय के हिसाब से कई बार बदल भी दिया जाता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाटक 'अंधेर नगरी' को न जाने कितने रूपों में अब तक मंचित किया जा चुका है। अनीति, अन्याय और भ्रष्टाचार के खिलाफ इस नाटक को तरह–तरह के ब्योरों से बदलकर नई–नई नाट्यभाषाओं में प्रदर्शित किया गया है। नाट्यभाषा में जड़ता की संभावना कम से कम रहती है। अप्रस्तुत विधान, बिम्ब विधान की संभावना भी न्यूनतम होती है। नाट्यभाषा का झुकाव अधिकतर गद्य की तरफ होता है। इसके रचाव में गद्य, बातचीत और अभिनय की भूमिका होती है।

रेखाचित्र, संस्मरण, आत्मकथा, जीवनी, निबन्ध आदि विधाओं की भाषा में सर्जनात्मक रूप पाए जाते हैं। ये विधाएँ आधुनिक काल में सामने आयी हैं। भिन्न भाषिक रूप की अपेक्षा नयी जीवन स्थितियों को प्रस्तुत करने में ये विधाएँ लगी हुई हैं। इनकी भाषिक संरचना इतनी विशिष्ट और विस्तृत नहीं है कि काव्य–भाषा से तुलना करने की जरूरत महसूस हो।

पूरे अध्याय के विभिन्न प्रकरणों को देखा जा चुका है। काव्यभाषा के स्वरूप को कई प्रकार से विश्लेषित करने का यहाँ प्रयास किया गया है। हिन्दी काव्य–भाषा को ध्यान में रखकर सैद्धान्तिक अध्ययन की कमी बार–बार ध्यान खींचती है। काव्य–भाषा के बदलते रूप के आधार पर हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखा जाए, तभी हिन्दी की काव्य–भाषा की प्रकृति को स्पष्ट होने का अवसर मिल पाएगा। तब शायद हिन्दी की काव्य–भाषा के अनुसार कुछ नए सिद्धान्त भी तैयार हो जाएँ।

सन्दर्भ :

1. आधुनिक हिन्दी कविता में बिम्ब–विधान, केदारनाथ सिंह, पृ. 176.
2. आत्मने पद, अज्ञेय, पृ. 165.
3. भाषा और संवेदना, रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ. 6.
4. आलवाल, सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन, पृ. 11.
5. कविता के नये प्रतिमान, नामवर सिंह, पृ. 97.
6. गद्य–पथ, पंत, इलाहाबाद, 1953, पृ. 22.
7. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 115.
8. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 186.
9. कविता के नये प्रतिमान, नामवर सिंह, पृ. 105-106.
10. काव्यभाषा पर तीन निबंध– रामस्वरूप चतुर्वेदी, संपादक सत्य प्रकाश मिश्र, पृ. 85.
11. वही, पृ. 112.
12. वही, पृ. 85.
13. कविता के नये प्रतिमान, नामवर सिंह, पृ. 105.
14. सदानीरा – भाग–एक, अज्ञेय, पृ. 251.
15. कविता के नये प्रतिमान, नामवर सिंह, पृ. 106.
16. पल्लव, सुमित्रानन्दन पन्त, पृ. 12.
17. वही, पृ. 13.
18. पल्लव, पंत, पृ. 24-25.
19. पल्लव, पंत, पृ. 24.
20. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, मैनेजर पाण्डेय, पृ. 225.
21. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, मैनेजर पाण्डेय, पृ. 225.
22. कविता के नये प्रतिमान, नामवर सिंह, पृ. 102.
23. कविता के नये प्रतिमान, नामवर सिंह, पृ. 109.
24. कविता के नये प्रतिमान, नामवर सिंह, पृ. 108.
25. काव्यभाषा पर तीन निबन्ध– रामस्वरूप चतुर्वेदी, सम्पा.– सत्यप्रकाश मिश्र, पृ. 69.
26. साहित्य और इतिहास–दृष्टि, मैनेजर पाण्डेय, पृ. 94.
27. अंतरा– अज्ञेय, पृ. 115-116.
28. आलवाल, सच्चिदानन्द वात्स्यायन, पृ.11-12.
29. मुक्तिबोध रचनावली, भाग–4, सं. नेमिचन्द्र जैन, पृ. 92.
30. वही, पृ. 92.
31. वही, पृ. 93.
32. स्रोत– साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका– मैनेजर पाण्डेय, पृ. 220.
33. Source : Language of Fiction, David Lodge, Page 16-17.
34. Ibid, p. 16.
35. Ibid, p. 17.
36. Ibid, p. 18.
37. Ibid, p. 18.

***

द्वितीय अध्याय

आधुनिक हिंदी-काव्य-भाषा और प्रगतिशील काव्य

(क) आधुनिक हिंदी काव्य-भाषा और छायावाद

(ख) प्रगतिशील काव्य-भाषा की भूमिका

(ग) प्रगतिशील कवियों की काव्य-भाषा और प्रगतिशील आंदोलन

आधुनिक हिन्दी काव्य-भाषा और प्रगतिशील काव्य

आधुनिक हिन्दी कविता का अर्थ खड़ी बोली हिन्दी कविता से है। खड़ी बोली हिन्दी में कविता लिखने की शुरुआत भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय हो चुकी थी। इस युग के साहित्यकारों को अभी संदेह था कि इस नयी काव्य–भाषा में अच्छी कविता लिखी जा सकती है। भारतेन्दु की कविता 'दशरथ विलाप' खड़ी बोली हिन्दी में है। सितम्बर सन् 1881 के 'भारत मित्र' के अंक में उनकी खड़ी बोली कविता के साथ छपी चिट्ठी महत्त्वपूर्ण है, "प्रचलित साधुभाषा में कुछ कविताएँ भेजी हैं। देखिएगा कि इसमें क्या कसर है और किस उपाय के आलम्बन करने से इसमें काव्य–सौंदर्य बन सकता है। इस संबंध में सर्वसाधारण की सम्मति ज्ञात होने से आगे से वैसा परिश्रम किया जाएगा।"[1] इस चिट्ठी से स्पष्ट है कि यदि पाठक पसंद करें और माँग करें तो 'साधु भाषा' अर्थात् 'खड़ी बोली हिन्दी' में कविता लिखने का प्रयास किया जाएगा। भारतेंदु इस नयी काव्य–भाषा की क्षमता के प्रति आश्वस्त नहीं दिखते। उन्होंने अपनी तरफ से इसका खुला पक्ष नहीं लिया, बल्कि तटस्थ बने रहे।

द्विवेदी–युग (1900–1920) के शुरू से ही खड़ी बोली हिन्दी में कविता लिखने के प्रयास दिखाई पड़ते हैं। इस युग के अधिकतर कवियों और साहित्य के विचारकों ने पुरानी दुविधा से स्वयं को मुक्त करने का प्रयास किया। उन्होंने सैद्धांतिक रूप से भी माना कि किसी समाज के गद्य और कविता की भाषा अलग–अलग नहीं होनी चाहिए। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने लिखा, "गद्य–पद्य की भाषा पृथक्–पृथक् न होनी चाहिए। हिन्दी ही एक ऐसी भाषा है, जिसके गद्य में एक प्रकार की और पद्य में दूसरे प्रकार की भाषा लिखी जाती है। सभ्य समाज की जो भाषा हो, उसी भाषा में गद्य–पद्यात्मक साहित्य होना चाहिए। गद्य का प्रचार हिन्दी में थोड़े दिनों से हुआ है। पहले गद्य प्रायः न था, हमारा साहित्य केवल पद्यमय था ..... गद्य की उन्नति हो रही है अतएव अब यह सम्भव नहीं कि गद्य की भाषा का प्रभाव पद्य पर न पड़े।"[2] आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने खड़ी बोली हिन्दी में कविता लिखकर प्रकाशित करवाया। अन्य रचनाकारों को प्रेरित किया कि इस नयी काव्य–भाषा में अच्छी कविताएँ लिखी जा सकती हैं। अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध तथा मैथिलीशरण गुप्त ने द्विवेदी जी के काम को कुशलतापूर्वक आगे बढ़ाया।

द्विवेदी–युग ने कठिन संघर्ष के द्वारा खड़ी बोली हिन्दी को आधुनिक हिन्दी कविता की भाषा के रूप में स्थापित करने का सफल प्रयास किया। आगे चलकर आधुनिक हिन्दी कविता की भाषा के रूप में एकमात्र खड़ी बोली हिन्दी को स्वीकार किया गया और पन्द्रहवीं शताब्दी से चली आ रही हिन्दी की काव्य–भाषा ब्रजभाषा क्रमशः छूटती गयी। हालाँकि खड़ी बोली की छिटपुट कविताएँ मध्य–युग में भी मिल जाती हैं, किंतु भारतेंदु युग में इसे काव्य–भाषा के रूप में अपनाने का प्रश्न उठा। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दौर में खड़ी बोली गद्य के विकास के साथ–साथ कविता के क्षेत्र में खड़ी बोली का प्रभाव बढ़ने लगा।

भारतेंदु ने प्रयोग के तौर पर कुछ कविताएँ खड़ी बोली में लिखीं, पर उन्हें यह भाषा कविता के लिए अनुपयुक्त लगी। उनके समकालीन लक्ष्मी प्रसाद ने 1876 ई० में 'हरमिट'[3] का खड़ी बोली में काव्यात्मक अनुवाद किया। श्रीधर पाठक ने 1886 ई० में 'एकांतवासी योगी' की रचना इसी नयी काव्यभाषा में की। खड़ी बोली को अपनाने के लिए आंदोलन चलाया गया। अयोध्या प्रसाद खत्री ने 'खड़ी बोली आंदोलन' नामक एक पुस्तक भी छपवाई। 1886 ई० में उन्होंने 'खड़ी बोली का पद्य' नामक एक संग्रह भी निकाला। बदरी नारायण चौधरी, श्रीधर पाठक, देवी प्रसाद 'पूर्ण,' नाथूराम शर्मा 'शंकर' आदि ने पद्य के क्षेत्र में खड़ी बोली के व्यवहार को आगे बढ़ाया। परंतु उस युग में कोई भी कवि खड़ी बोली का कवि नहीं हो सका। उन्नीसवीं शताब्दी समाप्त हो गई और इस नवीन काव्य–भाषा में अपेक्षित व्यंजना क्षमता, प्रांजलता और प्रौढ़ता नहीं आ सकी।

द्विवेदी युग में इस धारणा पर बल दिया जाने लगा कि गद्य और कविता की भाषा एक होनी चाहिए। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'रसज्ञ रंजन' में लिखा है, "यह निश्चित है कि किसी समय बोलचाल की हिंदी भाषा ब्रजभाषा की कविता के स्थान को अवश्य छीन लेगी। इसलिए कवियों को चाहिए कि वे क्रम–क्रम से गद्य की भाषा में कविता करना आरंभ करें।[4]

खड़ी बोली गद्य के विकास ने इस बेतुकेपन को ज्यादा उभारा कि गद्य और कविता की भाषा अलग–अलग नहीं रहनी चाहिए। काव्य–भाषा ब्रजभाषा का गद्य इतना विकसित था ही नहीं कि उसमें उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के गद्य को लिखा जा सके। आधुनिक युग गद्योन्मुख था और उसे अपेक्षाकृत विकसित गद्यभाषा की जरूरत थी, अतः खड़ी बोली गद्य का विकास तेजी से हुआ। अब नए हिन्दी साहित्य की प्रतिनिधि

भाषा के रूप में खड़ी बोली की पहचान बनने लगी। ब्रजभाषा के मध्यकालीन भावबोध के कारण उसमें आधुनिकता को व्यक्त कर पाना मुश्किल काम था। खड़ी बोली आधुनिक परिवेश में विकसित हो रही थी, अतः उसके स्वरूप को नए युग के अनुसार ढालना संभव था। ब्रजभाषा के समर्थक यह मानने को तैयार ही नहीं थे कि खड़ी बोली में कविता हो सकती है। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' पत्रिका के माध्यम से खड़ी बोली की कविताओं को बड़े पैमाने पर सुधार कर प्रकाशित किया। खड़ी बोली की काव्य–भाषा को निर्मित करने में महावीर प्रसाद द्विवेदी का यह प्रयास जगजाहिर है।

1909 ई० में 'कविता कलाप' का प्रकाशन हुआ, जिसमें महावीर प्रसाद द्विवेदी, देवी प्रसाद 'पूर्ण', कामता प्रसाद गुरु, नाथूराम शर्मा 'शंकर' और मैथिलीशरण गुप्त की कविताएँ संकलित थीं। अधिकतर कविताएँ खड़ी बोली की थीं। इस संकलन की काव्यभाषा में शब्दों की तोड़–मरोड़ बहुत कम थी, खड़ी बोली का सुधरा हुआ व्याकरण सम्मत रूप इसमें मौजूद था, परंतु काव्य–गुणों की पर्याप्त कमी रही। इस प्रारंभिक दौर में मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध', गोपालशरण सिंह, नाथूराम शर्मा, शंकर आदि ने खड़ी बोली की काव्य–भाषा को उस मुकाम तक पहुँचाया, जिसके आगे छायावाद की सशक्त काव्य–भाषा का विकास संभव हो सका। मैथिलीशरण गुप्त की 'जयद्रथवध' (1910 ई०) और 'भारत–भारती' (1912 ई०), जयशंकर प्रसाद की 'प्रेमपथिक' (1913 ई०), हरिऔध की 'प्रिय–प्रवास' (1914 ई०) आदि काव्यकृतियाँ इसी दौर की हैं। इनकी काव्य–भाषा में हालाँकि अभिधात्मक शैली की प्रधानता है, किन्तु काव्य–गुणों का क्रमशः विकास यहाँ दिखाई पड़ता है। संस्कृत–निष्ठ हिन्दी, बोलचाल की हिन्दी तथा उर्दू शैली की हिन्दी– इन तीनों को इस नई काव्य–भाषा में विकसित होने का प्रयास करते हुए देखा जा सकता है। ये कवि खड़ी बोली की काव्य–भाषा को मानो इन तीनों रूपों में लिख–लिख कर देखना चाह रहे थे कि कौन–सा रूप ज्यादा जँचता है। ये प्रयास ऐतिहासिक महत्त्व रखते हैं। इनके कारण खड़ी बोली की काव्य–भाषा को बढ़ने के कई रास्ते मिले। सभी रास्तों का महत्त्व है।

द्विवेदी युग की काव्य–भाषा प्रायः इतिवृत्तात्मक है। अतः वर्णन की दृष्टि से खड़ी बोली की काव्य–भाषा यहाँ विकसित हुई। लाक्षणिकता, ध्वन्यात्मकता आदि का विकास तब तक इस काव्यभाषा में नहीं हो सका।

(क) आधुनिक हिन्दी काव्यभाषा और छायावाद

आधुनिक हिन्दी कविता की भाषा द्विवेदी युग तक प्रायः अभिधात्मक और इतिवृत्तात्मक रही। छायावाद ने इस काव्य–भाषा को व्यापक रूप से बदला। लाक्षणिक और चित्रमय भाषा का प्रयोग छायावादी कविता की पहचान बन गयी। द्विवेदी युग की काव्य–भाषा का स्वरूप इतना सपाट और दायरा इतना संकुचित था कि उससे ज्यादा सजीव और प्राणवान् ब्रजभाषा की कविताएँ लगती थीं। बहुत जरूरी हो गया था कि ब्रजभाषा से ज्यादा सक्षम और काव्यानुकूल भाषा के रूप में खड़ी बोली हिन्दी को सँवारा जाय। द्विवेदी युग ने खड़ी बोली हिन्दी को कविता के लिए सैद्धान्तिक और वैचारिक स्वीकृति दिला दी थी, किंतु एक सशक्त काव्य–भाषा का विकास छायावादी कविता में ही हो सका। ये दोनों दौर इस काव्यभाषा के ऐतिहासिक विकास में अपनी–अपनी भूमिका के कारण महत्त्वपूर्ण हैं। आधुनिक हिन्दी काव्यभाषा को बनाने में छायावाद की भूमिका का अध्ययन यहाँ अभीष्ट है। इस अध्ययन के अनेक पक्ष हैं। इनके व्यौरे और विश्लेषण क्रमशः प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा है।

छायावादी कवियों ने क्रियाओं के चयन में बारीकी का परिचय दिया। उन्होंने द्विवेदी युगीन कवियों की भाषा के शब्दों का उपयोग नई क्रियाओं से जोड़ कर किया और काव्य–भाषा को सुंदर बना दिया। 'कालिमा', 'लालिमा' और 'यामिनी' शब्दों के प्रयोग देखे जा सकते हैं। मैथिलीशरण गुप्त लिखते हैं–

"उस काल पश्चिम ओर रवि की रह गई बस लालिमा।
होने लगी कुछ–कुछ प्रकट–सी यामिनी की कालिमा।।"

जयशंकर प्रसाद की कविता में ये तीनों शब्द इस तरह से प्रयुक्त हैं–

'मदिर माधव यामिनी का धीर पद–विन्यास।'
'कालिमा धुलने लगी घुलने लगा आलोक'

गुप्तजी ने लिखा कि 'यामिनी की कालिमा' 'प्रकट' हुई, मानो प्रकृति की यह प्रक्रिया झटके के साथ हुई। प्रसादजी ने लिखा कि 'यामिनी' 'धीर पद–विन्यास' करती हुई आई, अर्थात् रात धीरे–धीरे हुई। 'कालिमा' 'धुलने' लगी और 'आलोक' 'घुलने' लगा। यह प्रक्रिया भी उपयुक्त क्रिया के चयन के कारण प्रकृति को स्वाभाविक रूप से व्यक्त कर पाने में अपेक्षाकृत सजीव है। छायावादी कवियों ने प्रकृति की बारीकियों को बड़े

मनोयोग से समझा और भाषा गढ़कर व्यक्त करने की भी कोशिश की। अयोध्या सिंह उपाध्याय 'अरिऔध' ने 'प्रिय प्रवास' में संध्या का वर्णन इस प्रकार किया है –

"दिवस का अवसान समीप था/गगन था कुछ लोहित हो चला
तरुशिखा पर थी अब राजती/कमलिनी–कुल–वल्लभ की प्रभा"

छायावादी कवि निराला की कविता 'संध्या–सुंदरी' में संध्या का चित्रण कुछ इस प्रकार है–

"दिवसावसान का समय/मेघमय आसमान से उतर रही थी
वह संध्या–सुंदरी परी–सी/धीरे–धीरे–धीरे।"

दोनों उद्धरणों की पहली पंक्तियों में लगभग समान शब्द और समान प्रसंग हैं। 'दिवस का अवसान' ओर 'दिवसावसान' में काव्य–भाषा की दृष्टि से विशेष अंतर नहीं है। अंतर पड़ा है 'समीप था' और 'समय' के प्रयोग से। 'समीप था' का मतलब हुआ कि अब शाम एक घटना की तरह होने वाली है, एक खास बिन्दु पर शाम हो जायेगी। 'समय' का अर्थ हुआ कि वह अवधि आ गयी है, जिसमें शाम हाने की प्रक्रिया शुरू हो जाती है। शाम अचानक तो होती नहीं, वह क्रमशः होती है। द्विवेदी युगीन काव्य–भाषा प्रकृति के इस प्रसंग को उसके अपने रूप में व्यक्त करने में असमर्थ है, जबकि छायावादी काव्य–भाषा में वह बारीकी आ गयी थी कि प्रकृति के व्यापारों को उसमें सूक्ष्मता से व्यक्त किया जा सके। पुराने शब्दों को नए अंदाज में पेश करने की क्षमता यहाँ रेखांकनीय है। शब्दों की भाव–व्यंजकता को इस नयी काव्य–भाषा ने काफी समृद्ध किया।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध से ही पुनरुत्थान की भावना के प्रभावस्वरूप संस्कृत के शब्दों की तरफ भारतीय भाषाओं के कवियों का झुकाव बढ़ने लगा था। बँगला, मराठी, गुजराती, आदि भाषाओं की कविता में यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है। हिंदी कविता की परंपरा ब्रज और अवधी भाषा की थी। अतः हिन्दी की काव्य–भाषा में ब्रज और अवधी के अलावा हिंदी क्षेत्र की अनेक बोलियों के शब्द भी शामिल थे। छायावादी दौड़ में इन तद्भव शब्दों को सबसे ज्यादा छोड़ा गया। संस्कृत के तत्सम शब्दों का मानो पुनरुत्थान किया गया। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी और अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने भी संस्कृत के तत्सम शब्दों को साधने की भरपूर कोशिश की थी। यह प्रवृत्ति बँगला में ज्यादा विकसित रूप में दिखाई पड़ती है। माइकेल मधुसूदन दत्त और रवीन्द्रनाथ टैगोर

की कविताओं में बँगला भाषा का यह नया और प्रभावशाली रूप बड़े पैमाने पर दिखाई पड़ता है। हिन्दी की अपेक्षा बँगला में यह काम काफी पहले शुरू हो चुका था। नामवर सिंह का विचार है, "..... छायावादी कवियों ने अपने आचार्यों की अपेक्षा बँगला के महाकवियों से प्रेरणा ली।"[5]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जयशंकर प्रसाद के बारे में लिखा है, "संस्कृत की कोमल कांत पदावली का जैसा सुंदर चयन बंगभाषा के काव्यों में हुआ है वैसा अन्य देशभाषाओं के साहित्य में नहीं दिखाई पड़ता। उनके परिशीलन में पदलालित्य की जो गूँज प्रसाद जी के मन में समाई वह बराबर बनी रही।"[6] प्रसाद, निराला और पंत के शब्द–समूहों पर बँगला का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। रवींद्रनाथ टैगोर की कविता 'उर्वशी' की दो पंक्तियाँ इस प्रकार हैं –

"तरंगित महासिंधु मंत्रश्रांत भुजंगेर मतो
पड़े छिलो पद प्रांते उच्छ्वसित फणा लक्षशतो"

पंत के 'पल्लव' (1926) में संगृहीत कविता 'परिवर्तन' की इन दो पंक्तियों पर 'उर्वशी' की उपर्युक्त पंक्तियों की पद रचना का प्रभाव और ग्रहण देखा जा सकता है –

"आलोड़ित अंबुधि फेनोन्नत कर शत शत फन
मुग्ध भुजंगम–सा इंगित पर करता नर्तन"

इसी तरह निराला की कविता 'सम्राट अष्टम एडवर्ड के प्रति' की ये पंक्तियाँ–

वीक्षण अराल : –/बज रहे जहाँ
जीवन का स्वर भर छन्द, ताल/मौन में मन्द्र,''

रवीन्द्र की कविता 'शाहजहाँ' की इन पंक्तियों के साथ ध्वनि–साम्य की दृष्टि से मिलायी जा सकती है–

"हीरा मुक्ता माणिक्येर घटा	(मुक्ता, माणिक्य और हीरों का ढेर
जेनो शून्य दिगंतेर	मानों, शून्य क्षितिज पर
इंद्रजाल इंद्रधनुच्छटा	इन्द्रधनुषी छटा है जैसे'
	अनुवाद–रामधारी सिंह दिनकर)

छायावादी काव्य–भाषा में बँगला कविता के माध्यम से तत्सम शब्दों का प्रवेश हुआ। यहाँ तत्सम शब्दों के बीच कारक–चिन्ह, और सहायक क्रियाएँ लगभग गायब थीं।

संक्षिप्त सामासिक शैली अपनायी जाने लगी। विशेषण अधिक संख्या में आने लगे। 'प्र', 'वि', 'सु' जैसे उपसर्ग लगाकर तत्सम शब्दों को अर्थ–गौरव से भरने तथा नयापन लाने का प्रयास हुआ। इनके पीछे बँगला काव्य–भाषा की प्रेरणा काम कर रही थी। ब्रजभाषा की कोमलता और रीतिवादी काव्य–दृष्टि से मुक्त होने की कोशिश तो थी ही, अपने लिए कोमल काव्य–भाषा और आधुनिक काव्य–दृष्टि पाने की आकांक्षा ने छायावादियों को बँगला काव्य की ओर उन्मुख किया। इसका अर्थ यह नहीं है कि छायावाद की भाषा और वस्तु की मुख्य प्रेरणा बँगला काव्य है। यहाँ केवल इतना ही कहा जा सकता है कि छायावादी काव्य–भाषा की कोमल तत्समता संबंधी विशेषता का संबंध तत्कालीन बँगला काव्य–भाषा से है। छायावादी कवियों ने निरंतर प्रयास किया कि काव्य–भाषा मधुर, प्रांजल और समृद्ध हो जाए। खड़ी बोली की रूक्षता को दूर करना इनके लिए चुनौती की तरह था। विरासत में मिली द्विवेदी–युगीन काव्य–भाषा में यह कमी मौजूद थी। ब्रजभाषा के टक्कर की कोमलता को प्रकट किए बिना इस काव्य–भाषा की पैठ संभव नहीं थी। कविता और कोमलता का परंपरागत अनिवार्य संबंध नई काव्य–भाषा की स्वीकृति की शर्त बन गया। नामवर सिंह ने लिखा है, "भाषा की कोमलता छायावाद का पहला वादा था और कहना न होगा कि उसने इसे पूरा कर दिखाया– यहाँ तक कि छायावाद की खड़ी बोली की कविता के सामने ब्रजभाषा खुरदरी मालूम होने लगी।"[7] छायावादी काव्य–भाषा पर रीतिवादी काव्य–भाषा का भी प्रभाव है। इसमें तद्भव शब्दों को अपनाने की प्रवृत्ति दिखायी पड़ती है। इसे विरोधाभास कहा जा सकता है कि तत्सम और तद्भव शब्दों के प्रति बदलती दृष्टि क्यों है? इस विरोधाभास को छायावादी काव्य–भाषा की बहुरूपता के विश्लेषण से दूर किया जा सकता है। छायावादी काव्य–भाषा एकरेखीय नहीं है।

जयशंकर प्रसाद ने अपनी काव्य–भाषा की शुरुआत ब्रजभाषा से की थी, और निराला के लिए खड़ी बोली हिन्दी एक अर्जित भाषा थी। पंतजी ने भी हिन्दी कविता के नाम पर मुख्य रूप से ब्रज की कविताएँ ही पढ़ी थीं। इस तरह हिंदी के तद्भव रूप से छायावादी कवियों का स्वाभाविक संबंध था। प्रसाद 'जावेगी' की तुकबंदी 'सजावेगी' से करते हैं। 'जाएगी' और 'सजाएगी' के प्रयोग भी प्रसाद की कविताओं में मिलते हैं। निराला ने 'रामचरित मानस' को खड़ी बोली हिंदी में अनूदित करने की कोशिश की। अनुवाद की वह भाषा कहने भर को खड़ी बोली हिन्दी है, अन्यथा उसकी पूरी बनावट अवधी की है।

छायावादी कवियों ने तत्सम शब्दों को, बंगला काव्य–भाषा के माध्यम से अपनाने की कला सीखी, यह छायावादी काव्य–भाषा का एक पक्ष है। अन्य पक्ष यह भी है कि तद्भव शब्दों का छायावादी काव्य–भाषा की बनावट में योगदान है। पंत ने लिखा– चल चितवन के बंदनवार, प्रसूनों के ढिंग रुककर, धूम धूँआरे काजर कारे विकरारे बादर। निराला ने लिखा– उत्सुकता से उकता–उकताकर ताकने। प्रसाद ने 'चीन्हे' तथा महादेवी ने 'हठीले' का प्रयोग किया। नामवर सिंह ने लिखा है, "देसी शब्दों को अपनाना छायावाद में कोई आश्चर्य की बात न थी। छायावादी कविता अपनी अतिशय नागरिकता अथवा नागरता के बावजूद लोक–तत्त्वों से युक्त थी।"[8] छायावादी कवियों ने अपनी क्षेत्रीय बोली के शब्दों का कहीं–कहीं प्रयोग किया है। पंत ने 'नवल कलियों के धोरे झूम' लिखा– 'धोरे' का अर्थ हुआ 'समीप'। यह अल्मोड़ा के आस–पास का प्रचलित शब्द है। पश्चिमी बोलियों में 'हौले–हौले' शब्द का प्रयोग 'धीरे–धीरे' के लिए होता है। महादेवी ने लिखा– 'मुखर पिक हौले–हौले बोल'।

नई काव्य–भाषा की तलाश में छायावादी कवियों ने संस्कृत व्याकरण के आधार पर नए शब्दों को गढ़ने की कोशिश की। प्रकृति–प्रत्यय, उपसर्ग, संधि, समास के नियमों के अनुकूल जो शब्द गढ़े गए वे पहले से प्रचलित नहीं थे। इन शब्दों का विरोध भी हुआ। ऐसे शब्दों को 'तत्सम' की बजाय 'अर्ध–तत्सम' का दर्जा दिया गया। पंत ने 'पल्लव' की भूमिका में ऐसे प्रयोगों की चर्चा की है। स्वप्निल, तंद्रिल, पांशुल, जैसे शब्द प्रकृति–प्रत्यय के आधार पर ही बनाये गए हैं, पर पूर्व प्रचलित नहीं हैं। पंत ने नई संधियाँ बनायीं – 'प्रिआह्लाद', 'मरुताकाश' – संधि के नियमों के अनुसार 'प्रियाह्लाद' और 'मरुदाकाश' होना चाहिए था। निराला ने समास के नए समस्त पद दिए –'प्रभापूर्य', 'तमस्तूर्य'। पंत ने लिखा "मुझे 'मरुदाकाश' ऐसा लगा जैसे आकाश में धूल भर गई हो, या बादल घिर आए हों – स्वच्छ आकाश में धूल भर गई हो, या बादल घिर आए हों– स्वच्छ आकाश देखने ही को नहीं मिलता, इसलिए मैंने उसके बदले 'मरुताकाश' ही लिखना उचित समझा।"[9]

इस नई संधि के लिए पंत ने कोई व्याकरणिक तर्क नहीं दिया है। भाषा की चित्रमयता को आधार बनाकर शब्दों का स्वरूप निर्धारित करने का प्रयास है। पर्यायवाची शब्दों के अर्थ–भेद का ध्यान छायावाद में रखा गया तथा अलग–अलग अर्थच्छायाओं को पर्याय शब्दों के साथ कवियों ने जोड़ा। यहाँ भी भाषा की चित्रमयता अर्थ–निर्धारण का आधार बनी। इस तरह व्याकरण के आधार पर इस भाषा–परिवर्तन के संदर्भ की व्याख्या

नहीं की जा सकती। शब्दों के चयन या रूप–परिवर्तन में छायावादी काव्य–दृष्टि काम कर रही थी। पंत के तर्क देखे जा सकते हैं, "कविता के लिए चित्र भाषा की आवश्यकता पड़ती है, उसके शब्द सस्वर होने चाहिए, जो बोलते हों,.... भाव भाषा का सामंजस्य, उनका स्वरैक्य ही चित्र राग है। जैसे भाव ही भाषा में घनीभूत हो गए हों,।"[10]

अपनी बात को समझाने के लिए पंत ने कुछ शब्दों के काव्यार्थ बताए, "ऐसे ही 'हिलोर' में उठान, 'लहर' में सलिल के वक्षःस्थल की कोमल कम्पन, 'तरंग' में लहरों के समूह का एक दूसरे को धकेलना, उठकर गिर पड़ना, 'बढ़ो बढ़ो' कहने का शब्द मिलता है; 'वीचि' से जैसे किरणों में चमकती, हवा के पलने में हौले हौले झूलती हुई हँसमुख लहरियों का, 'उर्म्मि' से मधुर मुखरित हिलोरों का, हिल्लोल कल्लोल से ऊँची ऊँची बाँहें उठाती हुई उत्पात पूर्ण तरंगों का आभास मिलता है। ... 'अनिल' से एक प्रकार की कोमल शीतलता का अनुभव होता है, जैसे खस की टट्टी से छन कर आ रही हो, 'वायु' में निर्मलता तो है ही, लचीलापन भी है, यह शब्द रबर के फीते की तरह खिंचकर फिर अपने ही स्थान पर आ जाता है, 'प्रभंजन' विंड की तरह शब्द करता, बालू के कण और पत्तों को उड़ाता हुआ बहता है, 'श्वसन' की सनसनाहट छिप नहीं सकती, 'पवन' शब्द मुझे ऐसा लगता है जैसे हवा रुक गई हो, 'प' और 'न' की दीवारों से घिर सा जाता है, 'समीर' लहराता हुआ बहता है।"[11]

शब्दों की उपर्युक्त व्याख्याएँ कवि–मन की भावना के अनुसार हैं। छायावाद का दूसरा कवि इससे असहमत भी हो सकता है। 'पंतजी और पल्लव' नामक लेख में निराला ने पंत के भाषा–प्रयोगों से कहीं–कहीं असहमति जताई है, "खड़ी बोली और ब्रजभाषा पर पंतजी ने अपनी कविता की भाषा में जो आलोचना की है, उसमें उन्होंने अपने ही भावों पर जोर दिया है, इसलिए उनके विचारों से अपना एक पृथक विचार रखने पर भी मैं उन्हें विशेष कुछ कहने का अधिकारी नहीं रह जाता।"[12] निराला की आपत्ति है कि पंत ने 'अपने ही भावों पर जोर दिया है' इसलिए दूसरे छायावादी कवियों की भाषा पर उनके विचार लागू नहीं हो सकते। भाषा पर 'कविता की भाषा' में विचार करना ठीक नहीं, भाषा–विज्ञान के अनुसार विचार होना चाहिए। शब्द के स्वरूप को बदलने के बारे में पंत के विचार को निराला मनमानापन मानते हैं, "ब्रजभाषा वालों से शब्दों और क्रियाओं के परिवर्तित रूप तो पंतजी को जाड़े की कुक्कुर–कुण्डलीवत् सिकुड़े हुए दिखलाई पड़ते हैं और स्वयं जो खड़ी बोली को चिर–प्रचलित 'भौंह' शब्द को 'भोंह' कर देते हैं, कहते हैं वह सुन्दर बन जाता है।"[13] निराला 'भौंह' को 'भोंह' से ज्यादा सुंदर मानते हैं। पंत के

इस मौलिक प्रयास को वे अनावश्यक समझते हैं। निराला ने इस लेख में अनेक उदाहरणों के द्वारा बताया है कि पंत ने रवीन्द्रनाथ टैगोर और शेली की काव्य–पंक्तियों का अनुवाद अपनी कविता में रख दिया है। इसी तरह शब्दों की अर्थच्छायाएँ निर्धारित करने में भी पंत ने इन अहिन्दी कवियों का अनुकरण किया है, "बँगला के रवीन्द्रनाथ और अँगरेजी के शेली पंतजी की व्याख्या से, अपने दल की पुष्टि के विचार से प्रसन्न होंगे। .. .. पंतजी की व्याख्या से जाहिर है, उनका झुकाव अँगरेजी शब्दों के तत्सम रूपों की ओर अधिक है और यह प्रयत्न ऐसा है, जैसे भारतवर्ष की आबोहवा को अँगरेजी दवाओं के अनुकूल करना।"[14]

पंत ने लिंग–निर्णय की प्रचलित मान्यता को अस्वीकार किया। व्याकरण के अनुसार लिंग–निर्णय का आधार शब्द होता है, अर्थ नहीं। पंत ने अर्थ के आधार पर लिंग–निर्णय किया और 'प्रभात' को स्त्रीलिंग बताया। निराला ने पंत की एक ही कविता के दो संस्करणों को आधार बनाकर लिखा, "पहले 'कम्पन' और 'दंशन' स्त्रीलिंग में थे, फिर पुलिंग में हो गये। मुमकिन है, परिवर्तन के समय पंतजी में पुरुषत्व का जोश बढ़ गया हो, वह अपनी स्त्री–सुकुमारता भूल गये हों। मुझे तो पहला ही रूप अच्छा लगा है। इन उद्धरणों से जान पड़ता है कि अभी वह एक निश्चित सिद्धान्त पर नहीं पहुँचे। अथवा अभी उन्हें कभी यह अच्छा और कभी वह अच्छा लगता है।"[15]

काव्य–भाषा से सम्बन्धित प्रयोगों को लेकर पंत और निराला के मतभेदों को इन उद्धरणों के द्वारा देखा जा सकता है। न तो पंत के पास भाषा–सम्बन्धी कोई सिद्धान्त है न ही निराला के पास विरोध का कोई भाषावैज्ञानिक आधार। निराला उपर्युक्त उद्धरण में कह रहे हैं कि 'मुझे तो पहला ही रूप अच्छा लगा है'– क्यों अच्छा लगा है?– इसका कोई भाषा–वैज्ञानिक आधार न तो पंत देते हैं और न ही निराला। लिंग–निर्णय भाषा की एक समस्या है, इस पर यादृच्छिक पद्धति से विचार करने पर असंगति आ ही सकती है।

पंत और निराला में शब्दों के अर्थ–निर्धारण पर सहमति भी देखी जा सकती है। 'पंत जी और पल्लव' शीर्षक लेख में निराला ने कई बार पंत की भाषा–दृष्टि की प्रशंसा भी की है। पंत के काव्यांश उद्धृत करते हुए भाषा और विषय की नवीनता और सुन्दर प्रयोग की प्रशंसा करने से भी निराला चूके नहीं है, "पंत जी में सबसे जबरदस्त कौशल जो है, वह शेली की तरह अपने विषय को अनेक उपमाओं से सँवारकर मधुर–से–मधुर और कोमल–से–कोमल कर देना। भावना की प्रबल जागृति तो नहीं, परन्तु सौन्दर्य के

मनोहर रूप जगह-जगह पंक्ति-पंक्ति में मिलते हैं। रूपक और अलंकार बाँधना उनके बायें हाथ का खेल हैं।"[16]

पंत और निराला के उपर्युक्त विचारों को यहाँ रखने के बाद छायावादी काव्य-भाषा के बारे में कुछ टिप्पणियाँ की जा सकती हैं। खड़ी बोली हिन्दी को छायावादी भावबोध के अनुसार ढालने में बँगला और अँग्रेजी की रोमैंटिक काव्य-भाषा का गहरा प्रभाव है। विशेषण के विलक्षण प्रयोग की प्रेरणा वहाँ पर्याप्त मात्रा में मौजूद थी। रोमैंटिक काव्य-भाषा में एक तरह की आकर्षक कोमलता होती है। द्विवेदी-युग की काव्य-भाषा में रोमानी कोमलता बिल्कुल नहीं हैं। छायावादी काव्य-भाषा में ये सभी विशेषताएँ बँगला और अँग्रेजी की रोमैंटिक काव्य-भाषा से प्राप्त हुई। साथ ही उल्लेखनीय है कि छायावादी कवियों ने संस्कृत की भाषिक विशेषताओं की सहायता लेने की कोशिश की। प्रकृति-प्रत्यय, संधि, समास आदि का उपयोग खड़ी बोली को रोमानी काव्य-भाषा में ढालने के लिए किया गया। छायावादियों के भाषा-प्रयोगों पर संस्कृत के जानकारों ने प्रश्न-चिन्ह लगाया है। कारण यही है कि छायावादी भाषा-प्रयोगों का संबंध व्याकरण की अपेक्षा भावबोध से ज्यादा है। भाषा को महसूस करना छायावादी काव्य-भाषा की शर्त है। शब्द का उच्चारण ही नहीं, उसकी लिखावट-बनावट को भी छायावादियों ने महसूस करने की कोशिश की। पर्यायवाची शब्दों को लेकर द्विवेदी-युगीन कवि खास चिंतित नहीं था। छायावादी कवि पर्यायवाची शब्दों के अलग-अलग बिम्ब मन में बसाए हुए है।

छायावादी काव्य-भाषा के अनेक पद अँग्रेजी की रोमैंटिक कविता से छायानुवाद के रूप में लिए गए हैं। छायानुवाद पर बँगला और संस्कृत का प्रभाव है। यह प्रवृत्ति पंत में सबसे ज्यादा है। निराला ने भी लिखा है कि पंतजी पर शेली का प्रभाव है। उदाहरण के तौर पर अँगेजी की रोमैंटिक कविता के कुछ पद और छायावादी कविता में उनके छायानुवाद देखे जा सकते हैं-

ब्रोकेन हर्ट - भग्न हृदय, हेवेन्ली लाइट - स्वर्गीय प्रकाश, गोल्डेन ड्रीम - सुनहला स्वप्न, गोल्डेन टच - सुनहला स्पर्श, गोल्डेन पीरियड - स्वर्ण का काल, लूजस्ट्रिंग्ज- ढीले तार, फायर ऑफ ब्यूटी- रूपज्वाल, फुट प्रिंट्स - पद चिह्न, हेवेन्ली बिलिस - स्वर्गीय हुलास, अननोन - अजान, इनोसेन्ट आईज- अजान नयन, लवली फ्रेंड - मनोरम मित्र, क्वीन ऑफ दि फॉरेस्ट ऑफ फैन्सी - कल्पना के कानन की रानी, बैटल ऑफ लाइफ - जीवन संग्राम।

पूरी कोशिश की गई कि शब्द प्रयोग में ध्वनि–बोध की प्रमुखता बनी रहे। अनुवाद के बावजूद भाषा का ध्वनि–बोध अनजाना और पराया न लगे। छायानुवाद ऐसा हो कि नया होने के बावजूद अपना लगे। यहाँ यह भी संभावना बनी कि इस पद्धति पर नए पदों की तलाश की जा सके।

द्विवेदी युगीन कविता में तुकबन्दी पर बहुत जोर दिया गया। असुंदर लगने की स्थिति तक तुकबन्दी का निर्वाह किया गया। अर्थ की असंगति के बावजूद कवियों ने तुकांत शब्दों को रखा। मैथिलीशरण गुप्त की 'यशोधरा' से एक उदाहरण पर्याप्त है–

'घूम रहा है कैसा चक्र?
वह नवनीत कहाँ जाता है,
रह जाता है तक्र।'

गुप्त जी ने 'चक्र' के साथ तुकबन्दी मिलायी है– तक्र, नक्र, शक्र, वक्र। इन शब्दों के आने से कविता में अर्थ–समृद्धि की संभावना तो दूर, अत्यंत सतही अर्थ लगाने को विवश होना पड़ता है। छायावादी कवियों ने स्वर अथवा व्यंजन संबंधी अनुप्रास के आधार पर कविता में लय उत्पन्न की। समान मात्राओं वाले चरण भी रचे गए, पर इस बाध्यता को छोड़ दिया गया। शब्दों के बीच ऐसा संयोजन बनाया गया कि तुकबंदी की कमी से लय बाधित न हो। जैसे

दिवसावसान का समय/मेघमय आसमान से उतर रही है
वह संध्या–सुंदरी परी सी/धीरे–धीरे–धीरे[17]

'दिवसावसान' में 'वसा वसा', 'समय मेघमय', में 'मय मय', 'सुंदरी परी', में 'अरी अरी' आदि स्वर और व्यंजन संबंधी अनुप्रास की बहुलता से छंद को प्रवाहमय बनाया गया और तुकबंदी की विवशता समाप्त हुई। इस नए प्रयोग ने छायावादी काव्य–भाषा को नूतन प्रवाह प्रदान किया। सचेत वर्ण–योजना तथा वर्ण–संगीत के कारण भाषा अधिक कोमल, मृदुल और मसृण बनी, उसका श्रुतिमधुर रूप प्रकट हुआ।

छायावादी काव्य–भाषा के निर्माण में संस्कृत का बहुत उपयोग किया गया। संस्कृत वैसे भी अप्रचलित भाषा थी, इसलिए उसकी सहायता से रची गयी छायावादी काव्य–भाषा का विकसित होते रहना अस्वाभाविक था। डॉ० वीर भारत तलवार ने अपनी पुस्तक 'रस्साकशी' में आधुनिक हिंदी कविता की भाषा के बारे में बताया है कि उसमें संस्कृत का कृत्रिम प्रभाव ग्रहण करने की कोशिश की गयी। बहुसंख्यक हिन्दी भाषी जनता की भाषा को काव्य–भाषा बनाने की कोशिश छाया वादियों ने नहीं की, "छायावाद

के दौर में यह नई हिन्दी कविता की आम भाषा बन गई। कवि लोग कोशों से कठिन संस्कृत शब्द ढूँढ़–ढूँढ़कर हिन्दी कविता में बिछाने लगे। निराला की 'तुलसीदास' कविता में

'कल्मषोत्सार कवि के दुर्दुम/चेतनोर्मियों के प्राण प्रथम'
और, 'तुले तिर्यक दृग/पहनाकर ज्योतिर्मय स्रक'

जैसी पंक्तियाँ मिलती हैं। जब हिन्दी आलोचक इस भाषा की 'उदात्तता' की तारीफ करते हैं तब उन्हें खबर नहीं रहती कि वे किस भाषा की 'उदात्तता' की तारीफ कर हैं – हिन्दी की या संस्कृत की?[18]

छायावादी काव्य–भाषा का अधिकांश संस्कृत शब्दों से प्रभावित है। यह ठीक है कि इस भाषा में उत्कृष्ट कविताएँ लिखी गयीं किंतु बोध के स्तर पर इनकी कठिनाई आज भी बरकरार है। छायावादी काव्य–भाषा के अभिव्यक्ति–कौशल की प्रशंसा बार–बार की गयी है। मनुष्य की जटिल अनुभूतियों को प्रस्तुत करने में छायावादी कविता सक्षम बतायी गयी है। 'राम की शक्ति–पूजा', 'सरोज–स्मृति', 'कामायनी' आदि श्रेष्ट रचनाओं की भाषा संस्कृत की ओर उन्मुख हिन्दी है। 'तुलसीदास' में इस काव्य–भाषा का अत्यंत जटिल रूप मिलता है। अभिव्यक्ति की दृष्टि से विचार किया जाए तो निश्चय ही इनकी काव्य–भाषा उत्कृष्ट है। संस्कृत व्याकरण के आधार पर संधि और समास के नए–पुराने प्रयोगों की भरमार यहाँ मिलती है। यदि यह भाषा समझ में आ जाए, तो निश्चय ही कविता के अर्थ–गाम्भीर्य तक पहुँचा जा सकता है। छायावादी काव्य–भाषा को अभिव्यक्ति के स्तर पर सशक्त बताया जा सकता है। यहीं सवाल उठता है कि जिस हिन्दी समाज में छायावादी कविता लिखी जा रही थी, क्या उसकी भाषा उसी समाज के लोगों की थी? अथवा कवियों ने सर्वथा नयी काव्य–भाषा का निर्माण किया, जिसका हिन्दी समाज की बोलचाल की भाषा से काफी अंतर था?

छायावाद के प्रतिभाशाली कवियों ने ऐसी काव्य–भाषा जरूर विकसित की, जिसमें उत्कृष्ट कविता लिखी जा सके। शब्द की लक्षणा और व्यंजना शक्ति का इस्तेमाल घनआनन्द के बाद छायावादी कवियों में सर्वाधिक सफलता से हुआ। शब्द के सांस्कृतिक संदर्भ को पूरी अर्थवत्ता के साथ यहाँ रखने में सफलता प्राप्त की गयी। विशेषण–विपर्यय जैसी तकनीक अपनाकर नई अर्थ–भंगिमा पैदा की गयी। बिम्ब, प्रतीक, अलंकार आदि मामलों में भी छायावादी काव्य–भाषा बहुत समृद्ध हुई।

उपर्युक्त संदर्भों में छायावाद ने आधुनिक हिन्दी काव्य–भाषा को बनाने में अहम भूमिका निभायी। परंतु यह विकास बहुत दूर तक नहीं हो पाया। जल्दी ही इस काव्य–भाषा की कठिनाइयाँ कवियों और पाठकों के सामने आने लगी। आगे चलकर छायावादी काव्य–भाषा के विरोध का दौर चला। प्रगतिवाद, प्रयोगवाद तथा बाद में नयी कविता के कवियों और आलोचकों ने छायावादी काव्य–भाषा से प्रभावित होने को दोष के रूप में देखा। छायावादी काव्य–भाषा की जड़ता से हिन्दी कविता को बचाने की पहली कोशिश प्रगतिवाद के साथ शुरू हुई। प्रगतिवाद के सौंदर्य–बोध और इसकी काव्य–भाषा का संबंध सर्वहारा जैसे व्यापक समाज से था। इस दौर की काव्य–भाषा में क्षेत्रीय और ग्रामीण हिंदी के रूप दिखाई पड़ने लगे। शहरी बोलचाल की हिन्दी को अपनाकर प्रगतिवादियों ने हिन्दी काव्य–भाषा को आधारभूत नयापन दिया। पूरा प्रयास किया गया कि संस्कृतनिष्ठ और अप्रचलित शब्दों को छोड़ दिया जाए। आम जनता की भाषा को साहित्यक रूप देकर प्रस्तुत करने की कोशिश की गई। मानो कविता में प्रेमचंद की हिन्दी को अपनाने का प्रयास हुआ। प्रेमचन्द ने परिनिष्ठित हिन्दी को बोलचाल की हिन्दी के रूप में ढाला और बोलचाल की हिन्दी को साहित्यक बनाकर एक ऐसी भाषा तैयार की, जिसे साधारण पढ़ा–लिखा पाठक पूरी तरह समझ सके। प्रेमचन्द ने ऐसी हिन्दी में कहानी–उपन्यास लिखे, जिन्हें पढ़ते समय कहीं भी भाषा बाधक नहीं बनती। परंतु उनके रचना–काल के समांतर चलनेवाली छायावादी कविता में भाषा की बाधा बार–बार मिलती है। छायावादी कविता अपनी विशिष्ट भाषा के कारण बोध के स्तर पर मुश्किल जान पड़ती है।

नामवर सिंह ने 'छायावाद' नाम पुस्तक में लिखा है कि 'साकेत' पढ़ते समय बार–बार शब्दकोश देखने की जरूरत पड़ती है, पर 'कामायनी' पढ़ते समय कभी–कभार! यह स्थिति नामवर सिंह जैसे विद्वान् की है। सामान्य पाठक की दृष्टि से देखा जाए तो 'कामायनी' पढ़ते समय भी अप्रचलित और संस्कृतनिष्ठ शब्दों के कारण शब्दकोश देखने की ज़रूरत बार–बार पड़ती है। 'राम की शक्ति–पूजा' और 'तुलसीदास' को शब्दकोश के बावजूद समझना मुश्किल है। हिन्दी भाषी शिक्षित समाज जिस काव्य–भाषा को समझने में मुश्किल का सामना करे, वह ज़्यादा समय तक नहीं चल सकती थी। अतः छायावादी काव्य–भाषा को व्यापक तौर पर अस्वीकारा गया। आधुनिक हिन्दी काव्य–भाषा के निर्माण में छायावाद की भूमिका ऐतिहासिक है। भारतेन्दु–काल से हिन्दी का जो रूप कविता के लिए क्रमशः निर्धारित होता गया, उसका उत्कृष्ट रूप छायावादी काव्य भाषा में मिलता

है। द्विवेदी–युगीन काव्य–भाषा में शब्दों की तलाश का प्रयास है, छायावादी काव्य–भाषा में भी यह प्रयास चलता रहता है; किन्तु भाषा के प्रयोग की नवीनता पर ज़्यादा ज़ोर है।

छायावादी काव्य–भाषा ने अनेक श्रेष्ठ कविताओं को संभव बनाया। स्वतन्त्रता आंदोलन की ऊर्जा और सांस्कृतिक चेतना को एक साथ व्यक्त कर पाने में यह काव्य–भाषा समर्थ हुई। व्यक्ति और समाज दोनों की स्वतन्त्रता और दोनों के हित इस काव्य–भाषा में एक साथ व्यक्त हुए। पारंपरिक छंदों से लेकर मुक्त छंद की कविता इस काव्य–भाषा में लिखी गयी। हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल में इतने श्रेष्ठ प्रगीत किसी दूसरे काव्यांदोलन में नहीं लिखे जा सके। खण्ड काव्य और महाकाव्य से लेकर कविता–संग्रह और लंबी कविता को इस काव्य–भाषा ने व्यक्त किया। इस तरह छायावादी काव्य–भाषा ने आधुनिक हिन्दी काव्य–भाषा को स्तरीय कविता के लायक बनाया। छायावादी काव्य–भाषा की सीमाएँ संप्रेषणीयता के स्तर पर दिखायी पड़ती हैं। अभिव्यक्ति की दृष्टि से तो यह काव्य–भाषा सफल है, परन्तु संप्रेषणीयता की दृष्टि से यह अनेक कठिनाइयों से भरी है। संप्रेषणीयता की दुरूहता की मुख्य वजह है– संस्कृतनिष्ठ और अप्रचलित शब्दों के द्वारा काव्य–भाषा के विकास का प्रयास।

रचना की सफलता के लिए जरूरी है कि रचनाकार की अभिव्यक्ति सही तरीके से हुई हो और पाठक तक वह संप्रेषित भी हो। अभिव्यक्ति ठीक नहीं होगी, तो संप्रेषण के ठीक होने का प्रश्न ही नहीं है, पर अभिव्यक्ति अच्छी हो और संप्रेषणीयता बाधित हो रही हो, तो ऐसी रचना–परम्परा एकतरफा होती है और दीर्घजीवी नहीं होती है। छायावाद के प्रमुख कवि जयशंकर प्रसाद ने अपने नाटकों की अभिनेयता के संदर्भ में इसी तरह से एकतरफा तर्क दिया है। उनका विचार है कि नाटक को रंगमंच के अनुसार नहीं, बल्कि रंगमंच को नाटक के अनुसार होना चाहिए। प्रसाद को यह चिंता नहीं है कि उनका लिखा हुआ नाटक मौजूदा रंगमंच पर मंचित हो पाएगा या नहीं। वे मानते हैं कि रंगमंच के विकास की जिम्मेदारी उनकी नहीं है। नाटक की वास्तविक संप्रेषणीयता उसके सफल मंचन में है। परन्तु प्रसाद नाटक लिखकर अपनी जिम्मेदारी से मुक्त हो जाते हैं। यहाँ भी वही समस्या है। नाटक तो अच्छे लिखे गए, उनकी प्रशंसा भी खूब हुई, किन्तु मंच पर सफलता नहीं मिली। यही कारण है कि रंगमंच की दुनिया में प्रसाद के नाटक महत्त्वपूर्ण नहीं हो सके। हिंदी साहित्य के इतिहासकारों और आलोचकों ने जयशंकर प्रसाद को नाटककार के रूप में बहुत ऊँची जगह दी। छायावादी कविता की विडंबना यहाँ भी काम कर रही है कि अभिव्यक्ति तो अच्छी रही, पर संप्रेषणीयता अच्छी नहीं हो पायी।

छायावाद ने आधुनिक हिन्दी काव्य–भाषा को विशिष्ट रूप प्रदान करके बीसवीं शताब्दी की अन्य भारतीय काव्य–भाषाओं के बराबर ला खड़ा किया। बँगला काव्य–भाषा से छायावादी काव्य–भाषा का प्रतिस्पर्द्धात्मक सम्बन्ध स्तरीयता की तलाश के कारण है। रवीन्द्रनाथ टैगोर के प्रति निराला की स्पृहात्मक दृष्टि सुपरिचित और चर्चित बात रही है। बाद की काव्य–भाषा पर लंबे समय तक छायावादी काव्य–भाषा का कम या ज़्यादा असर बना रहा। रोमानी विषय की काव्य–भाषा तो मानो आगे चलकर भी छायावादी भाषा से प्रभावित रही। प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नयी कविता के अधिकतर कवियों की भाषा छायावाद से अंश ग्रहण जरूर करती है। आधुनिक हिन्दी काव्य–भाषा के निर्माण और विकास में छायावादी काव्य–भाषा का ऐतिहासिक और स्थाई महत्त्व है।

(ख) प्रगतिशील काव्य–भाषा की भूमिका

आधुनिक हिन्दी काव्य–भाषा के निर्माण में प्रगतिशील काव्य–भाषा की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। हिन्दी भाषी समाज की बोलचाल की हिन्दी को काव्य–भाषा का रूप देने की कोशिश इस दौर में हुई। संस्कृत के अप्रचलित शब्दों को सचेत होकर कवियों ने छोड़ा। बँगला–काव्य भाषा का प्रभाव प्रगतिशील कवियों पर नहीं रहा। छायावादी कवि बँगला के माध्यम से लिए गए संस्कृत शब्दों को प्रचलित करने का प्रयास कर रहे थे। प्रगतिशील कवियों ने समझ लिया था कि ऐसा करने से काव्य–भाषा असंप्रेष्य हो जाती है। प्रगतिशील कविता के केन्द्र में मुख्यतः सर्वहारा वर्ग था, इसलिए इस वर्ग की भाषा कविता में आई। यह वर्ग गाँव से जुड़ा था। शहर में आने के बावजूद ग्रामीण छाप इनपर पड़ी हुई थी। इस वर्ग की भाषा बोलचाल की शहरी हिंदी थी, जिस पर बोलियों का गहरा प्रभाव था। प्रगतिशील काव्य–भाषा का सामाजिक आधार छायावादी काव्य–भाषा से भिन्न था। दोनों तरह के अधिकतर कवि मध्यवर्ग के ही थे, किन्तु छायावादी कवि संस्कृत के शब्दों को आधार बनाकर नए प्रयोग कर रहे थे; बँगला और अँग्रेजी की रोमानी काव्य–भाषा से प्रभावित हो रहे थे। प्रगतिशील कवि क्षेत्रीय भाषाओं/बोलियों और शहरी बोलचाल की हिन्दी के आधार पर सहज समझ में आनेवाली काव्य–भाषा में कविता रचने की कोशिश कर रहे थे। छायावादी काव्य–भाषा अपने ही क्षेत्र की बोलचाल की उर्दू से काफी दूरी बनाए हुए थी, जबकि प्रगतिशील काव्य–भाषा ने अपने स्वरूप को संवारने में उर्दू की भी मदद ली।

प्रगतिशील काव्य–भाषा ने आधुनिक हिन्दी काव्य–भाषा को बोलचाल की हिन्दी के करीब लाने का पूरा प्रयास किया। छायावादी काव्य–भाषा ने आधुनिक हिन्दी काव्य–भाषा को इस लायक जरूर बना दिया था कि श्रेष्ठ रचनाएँ रची जा सके, किंतु बोलचाल की हिंदी से अलग–थलग पड़ जाने के कारण इन रचनाओं को समझ पाना आसान नहीं था। प्रगतिशील काव्य–भाषा ने संप्रेषणीयता के प्रश्न पर बहुत गौर किया और सहज संप्रेष्य काव्य–भाषा के नमूने पेश किए। इस प्रक्रिया में आधुनिक हिंदी काव्य–भाषा को अनेक ऐसी रचनाएँ मिली, जिन्हें समझना भी आसान था और जिनमें ऊँची कविताई भी थी। नागार्जुन की अधिकतर कविताएँ सहज संप्रेष्य हैं। भाषा यहाँ बाधक नही है।

हिंदी गद्य और हिंदी कविता की भाषा का अंतर प्रगतिशील दौर में ही समाप्त हुआ। अन्यथा, छायावादी काव्य–भाषा और उसके समकालीन प्रेमचंद की कथा–भाषा में

कोई मेल ही नहीं है। लगता ही नहीं है कि ये दोनों एक ही क्षेत्र और एक ही समय की हिंदी हैं। खड़ी बोली हिंदी में कविता रचने का जो स्वप्न 19वीं शताब्दी के अंत और 20वीं शताब्दी के शुरू में देखा गया था, वह सच्चे अर्थों में प्रगतिशील दौर में ही पूरा हुआ।

काव्य–भाषा को जन–सामान्य की भाषा के अनुकूल बनाने के क्रम में खतरा होता है कि कहीं सपाट बयानी की अधिकता से कविताई ही न लुप्त हो जाए। प्रगतिवादी काव्य–भाषा का एक पक्ष यह भी है कि लोकभाषा को अपनाने के अतिरिक्त आग्रह के कारण परंपरा का पिष्टपेषण किया गया, कोई नवीनता नहीं आ पायी। नामवर सिंह इस प्रवृत्ति को 'अंध लोकवाद' कहते हैं और काव्य–भाषा में नये प्रयोगों को प्रगतिशीलता के अनुकूल बताते हैं, "अंध लोकवाद का ही एक और रूप है सुगम और लोकप्रिय साहित्य रूप के लिए आग्रह। इस आग्रह का परिणाम है परंपरागत चिरपरिचित रूपों और भाषा की स्वीकृति। दुरूहता और जटिलता इस दृष्टि के लिए दुश्मन हैं और प्रयोग की दिशा में उठाया जानेवाला एक भी कदम संदिग्ध है। धारणा यह है कि जनता के लिए लिखे जानेवाले साहित्य को सुगम और सपाट ही होना चाहिए। स्पष्टतः यह जनता को नीची नजर से देखने का फल है। जनता को मूर्ख समझने वाले 'ज्ञानी' जनवादी ही इस तरह सोचते हैं।"[19]

प्रगतिशील काव्य–भाषा में नये प्रयोग बहुतायत से हैं। मुक्तिबोध, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल और शमशेर बहादुर सिंह की काव्य–भाषा को ध्यान में रखे तो पाएँगे कि इनमें काव्यात्मक 'दुरूहता और जटिलता' के पर्याप्त उदाहरण हैं। इनका यह पक्ष आधुनिक काव्य–भाषा को समृद्धि प्रदान करता है। सर्वहारा वर्ग, ग्रामीण समाज और मध्य वर्ग की भाषा केवल सपाट नहीं होती, इनकी भाषा में पर्याप्त कलात्मकता होती है तथा साहित्य के अनुकूल कला की संभावना भी अंतर्निहित होती है। सर्वहारा वर्ग श्रमशील, संघर्षशील और जीवंत होता है। इसकी भाषा लोकोक्तियों, मुहावरों और व्यंजना–शक्ति से संपन्न होती है। ये सारी विशेषताएँ प्रगतिशील काव्य–भाषा में मौजूद हैं।

प्रगतिशील काव्य–भाषा ने आधुनिक हिंदी काव्य–भाषा को सपाट नहीं बनाया। काव्य–भाषा का सपाट रूप द्विवेदी युग में मौजूद है, शुद्ध अभिधात्मक काव्य–भाषा। सीधी, सरल, सुबोध हिंदी में मानो कविता लिखने का प्रयास चल रहा था। प्रगतिशील काव्य–भाषा का मुख्य स्वर है हिंदी भाषा की जातीय शैली को काव्यात्मक बनाना। इस

काम में सर्वाधिक सफलता नागार्जुन और केदारनाथ अग्रवाल को मिली। मुक्तिबोध ने काव्यभाषा को विचारात्मक बनाया। जनता के श्रमशील संघर्ष को मार्क्सवादी और भारतीय परिप्रेक्ष्य में विचारात्मक भाषा देने में मुक्तिबोध को सर्वाधिक सफलता मिली। प्रगतिशील काव्य–भाषा का यह पक्ष महत्त्वपूर्ण है। आधुनिक हिन्दी काव्य–भाषा का भविष्य इससे प्रभावित हुआ। शमशेर ने कलात्मक काट–छाँट से प्रचलित भाषा को ऐसी ऊँचाई दी कि पुरानी काव्य–भाषा की तुलना में प्रगतिशील काव्य–भाषा की कलात्मकता कमतर न लगे।

प्रगतिशील काव्य–भाषा के विभिन्न आयामों ने आधुनिक हिंदी काव्य–भाषा को समृद्ध किया और आगे की काव्य–भाषा को जातीय भाषा से जुड़े रहने की राह दिखायी। प्रगतिशील कवियों ने सर्वहारा वर्ग की चिंता करते हुए ऐसी काव्य–भाषा में भी कविताएँ लिखीं, जो चिंतनपरक और परिनिष्ठित हैं। ऐसी कविताएँ व्याख्या की माँग करती हैं। विश्वनाथ त्रिपाठी ने लिखा है, "प्रगतिशील ऐसी भी रचना करता है जो समाज के निम्नतम वर्ग के विषय में तो होती है लेकिन जिन्हें वह समझ नहीं सकता। ऐसे रचनाकारों को हम प्रगतिशीलता के दायरे से बाहर नहीं कर सकते। हिन्दी में ऐसे रचनाकारों की बहुत बड़ी संख्या है जो नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल की तरह नहीं लिख सकते लेकिन जो साम्राज्यवाद–पूँजीवाद के विरूद्ध हैं और समाजवाद में दृढ़ आस्था रखते हैं। ऐसे लोगों की स्थिति पर विचार करना बहुत जरूरी है। मध्य वर्ग भी इनकी रचनाएँ तभी समझ सकता है जब ये निम्न वर्ग से जुड़े रहें और रचना में उसकी समस्याओं, भाषा–भंगिमाओं को सीखने का प्रयास करें। हमारे अनेक प्रगतिशील रचनाकार इस गलतफहमी के शिकार हैं कि चलो कोई बात नहीं अनपढ़ किसान–मजदूर उनकी रचनाएँ नहीं समझ पाते, मध्यवर्ग तो समझता ही है।"[20]

विश्वनाथ त्रिपाठी ने यहाँ प्रगतिवादी काव्य के एक अंतर्विरोध की तरफ संकेत किया है। इसी बहाने काव्य–भाषा का प्रश्न भी उठ खड़ा हुआ है। सर्वहारा को पूरी तरह समझ में आनेवाली प्रगतिशील काव्य–भाषा का औचित्य यही है कि उसकी 'समाजवाद में दृढ़ आस्था' हो तथा उसमें 'निम्न वर्ग' की 'भाषा–भंगिमाओं को सीखने का प्रयास' हो। मध्यवर्ग की भाषा को एकमात्र आधार बनाकर प्रगतिशील काव्य–भाषा नहीं रची जा सकती। प्रगतिशील काव्य–भाषा पर मध्यवर्ग की भाषा के प्रभाव को स्वीकार किया जाना चाहिए। यहाँ कलात्मकता का प्रश्न उठाते हुए विश्वनाथ त्रिपाठी की मान्यता है कि प्रगतिशील काव्य–भाषा के लिए वही कलात्मकता स्वीकार्य हो सकती है जिसमें सर्वहारा की कला मौजूद हो, "कलात्मकता के नाम पर किसान–मजदूर का साथ छुटा तो मध्यवर्ग

का भी साथ छुटा। यह कौन–सी कलात्मकता हुई जो कला को पाठकों से वंचित कर दे। निम्न वर्ग की ओर पीठ करके कला कलाबाजी बन गई।"[21]

मुक्तिबोध की काव्य–भाषा उपर्युक्त कलात्मकता से मुक्त होने का प्रयास करती है। उनकी कविता सर्वहारा वर्ग की भाषा–शैली में नहीं है। मध्यवर्ग के प्रगतिशील बुद्धिजीवी की विचारात्मक भाषा में वे कविता रचते हैं। वे अपनी प्रतिबद्धता और वैचारिकता के कारण प्रगतिशील कवियों के बीच स्वीकृत हैं, "कलात्मकता से ग्रस्त होने के बावजूद मुक्तिबोध ने इस कलात्मकता से उबरने की महान् कोशिश की है, कई स्थलों पर वे उबर सके हैं, वहाँ वे सफल प्रगतिशील कवि हैं। मुक्तिबोध की कई समस्याएँ थीं। मैं नहीं जानता कि मराठी–भाषी होने के नाते उन्हें हिन्दी के जातीय–रूपों को ग्रहण करने में क्या दिक्कतें पड़ीं।"[22]

प्रगतिशील कवि काव्य–भाषा के लिए कई स्तरों पर संघर्ष कर रहे थे। सर्वहारा की भाषा को काव्य भाषा के रूप में ढालना उनका प्राथमिक संघर्ष था। सर्वहारा की भाषा के प्रतिगामी तत्त्वों को दूर करके प्रगतिशील काव्य–भाषा का निर्माण, इस संघर्ष का अगला चरण था। किसान रूढ़ियों से ग्रस्त होता है। उसकी भाषा में भी ये रूढ़ियाँ मौजूद होती हैं। किसान को समाज की तरफ से जातिवादी, सामंती और पुरोहिती मानसिकता मिलती है। किसान चाहे किसी भी जाति का हो, उसे विरासत और परिवेश से यह मानसिकता निश्चित रूप से मिलती है। मजदूर अपने मूलस्थान से कटकर शहर में उपेक्षित होकर रहने को विवश होता है। वह अपने संस्कारों से ग्रामीण होता है, पर शहरी परिवेश उसे परिवर्तित होने का अवसर प्रदान करता है। शहर की बाजारू बनावट में ससम्मान जीवनयापन करने लायक आर्थिक स्थिति नहीं होने के कारण मजदूर वर्ग प्रायः अस्वस्थ माहौल और जीवन शैली अपनाने को विवश होता है। इन सबका असर उसकी भाषा–शैली पर पड़ता है। प्रगतिवादी दौर में मजदूरों के संगठन मजबूत थे और क्रमशः और मजबूत होते जा रहे थे। उम्मीद थी कि संघर्ष के रास्ते मजदूरों के लिए अनुकूल व्यवस्था कायम हो जाएगी। इस आशावाद का प्रभाव प्रगतिवादी काव्य–भाषा को क्रांतिकारी बनाने में पड़ा।

किसान–मजदूर की भाषा को काव्य–भाषा बनाने के लिए जरूरी था कि उसे जातिवाद, सामंतवाद, पुरोहितवाद से मुक्त किया जाए और प्रगतिशील रूप प्रदान किया जाए। आधुनिक हिन्दी काव्य–भाषा को प्रगतिशील काव्य–भाषा ने उपर्युक्त दृष्टि से

(ख) प्रगतिशील काव्य–भाषा की भूमिका

आधुनिक हिन्दी काव्य–भाषा के निर्माण में प्रगतिशील काव्य–भाषा की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। हिन्दी भाषी समाज की बोलचाल की हिन्दी को काव्य–भाषा का रूप देने की कोशिश इस दौर में हुई। संस्कृत के अप्रचलित शब्दों को सचेत होकर कवियों ने छोड़ा। बँगला–काव्य भाषा का प्रभाव प्रगतिशील कवियों पर नहीं रहा। छायावादी कवि बँगला के माध्यम से लिए गए संस्कृत शब्दों को प्रचलित करने का प्रयास कर रहे थे। प्रगतिशील कवियों ने समझ लिया था कि ऐसा करने से काव्य–भाषा असंप्रेष्य हो जाती है। प्रगतिशील कविता के केन्द्र में मुख्यतः सर्वहारा वर्ग था, इसलिए इस वर्ग की भाषा कविता में आई। यह वर्ग गाँव से जुड़ा था। शहर में आने के बावजूद ग्रामीण छाप इनपर पड़ी हुई थी। इस वर्ग की भाषा बोलचाल की शहरी हिंदी थी, जिस पर बोलियों का गहरा प्रभाव था। प्रगतिशील काव्य–भाषा का सामाजिक आधार छायावादी काव्य–भाषा से भिन्न था। दोनों तरह के अधिकतर कवि मध्यवर्ग के ही थे, किन्तु छायावादी कवि संस्कृत के शब्दों को आधार बनाकर नए प्रयोग कर रहे थे; बँगला और अँग्रेजी की रोमानी काव्य–भाषा से प्रभावित हो रहे थे। प्रगतिशील कवि क्षेत्रीय भाषाओं/बोलियों और शहरी बोलचाल की हिन्दी के आधार पर सहज समझ में आनेवाली काव्य–भाषा में कविता रचने की कोशिश कर रहे थे। छायावादी काव्य–भाषा अपने ही क्षेत्र की बोलचाल की उर्दू से काफी दूरी बनाए हुए थी, जबकि प्रगतिशील काव्य–भाषा ने अपने स्वरूप को संवारने में उर्दू की भी मदद ली।

प्रगतिशील काव्य–भाषा ने आधुनिक हिन्दी काव्य–भाषा को बोलचाल की हिन्दी के करीब लाने का पूरा प्रयास किया। छायावादी काव्य–भाषा ने आधुनिक हिन्दी काव्य–भाषा को इस लायक जरूर बना दिया था कि श्रेष्ठ रचनाएँ रची जा सके, किंतु बोलचाल की हिंदी से अलग–थलग पड़ जाने के कारण इन रचनाओं को समझ पाना आसान नहीं था। प्रगतिशील काव्य–भाषा ने संप्रेषणीयता के प्रश्न पर बहुत गौर किया और सहज संप्रेष्य काव्य–भाषा के नमूने पेश किए। इस प्रक्रिया में आधुनिक हिंदी काव्य–भाषा को अनेक ऐसी रचनाएँ मिली, जिन्हें समझना भी आसान था और जिनमें ऊँची कविताई भी थी। नागार्जुन की अधिकतर कविताएँ सहज संप्रेष्य हैं। भाषा यहाँ बाधक नही है।

हिंदी गद्य और हिंदी कविता की भाषा का अंतर प्रगतिशील दौर में ही समाप्त हुआ। अन्यथा, छायावादी काव्य–भाषा और उसके समकालीन प्रेमचंद की कथा–भाषा में

कोई मेल ही नहीं है। लगता ही नहीं है कि ये दोनों एक ही क्षेत्र और एक ही समय की हिंदी हैं। खड़ी बोली हिंदी में कविता रचने का जो स्वप्न 19वीं शताब्दी के अंत और 20वीं शताब्दी के शुरू में देखा गया था, वह सच्चे अर्थों में प्रगतिशील दौर में ही पूरा हुआ।

काव्य–भाषा को जन–सामान्य की भाषा के अनुकूल बनाने के क्रम में खतरा होता है कि कहीं सपाट बयानी की अधिकता से कविताई ही न लुप्त हो जाए। प्रगतिवादी काव्य–भाषा का एक पक्ष यह भी है कि लोकभाषा को अपनाने के अतिरिक्त आग्रह के कारण परंपरा का पिष्टपेषण किया गया, कोई नवीनता नहीं आ पायी। नामवर सिंह इस प्रवृत्ति को 'अंध लोकवाद' कहते हैं और काव्य–भाषा में नये प्रयोगों को प्रगतिशीलता के अनुकूल बताते हैं, "अंध लोकवाद का ही एक और रूप है सुगम और लोकप्रिय साहित्य रूप के लिए आग्रह। इस आग्रह का परिणाम है परंपरागत चिरपरिचित रूपों और भाषा की स्वीकृति। दुरूहता और जटिलता इस दृष्टि के लिए दुश्मन हैं और प्रयोग की दिशा में उठाया जानेवाला एक भी कदम संदिग्ध है। धारणा यह है कि जनता के लिए लिखे जानेवाले साहित्य को सुगम और सपाट ही होना चाहिए। स्पष्टतः यह जनता को नीची नजर से देखने का फल है। जनता को मूर्ख समझने वाले 'ज्ञानी' जनवादी ही इस तरह सोचते हैं।"[19]

प्रगतिशील काव्य–भाषा में नये प्रयोग बहुतायत से हैं। मुक्तिबोध, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल और शमशेर बहादुर सिंह की काव्य–भाषा को ध्यान में रखे तो पाएँगे कि इनमें काव्यात्मक 'दुरूहता और जटिलता' के पर्याप्त उदाहरण हैं। इनका यह पक्ष आधुनिक काव्य–भाषा को समृद्धि प्रदान करता है। सर्वहारा वर्ग, ग्रामीण समाज और मध्य वर्ग की भाषा केवल सपाट नहीं होती, इनकी भाषा में पर्याप्त कलात्मकता होती है तथा साहित्य के अनुकूल कला की संभावना भी अंतर्निहित होती है। सर्वहारा वर्ग श्रमशील, संघर्षशील और जीवंत होता है। इसकी भाषा लोकोक्तियों, मुहावरों और व्यंजना–शक्ति से संपन्न होती है। ये सारी विशेषताएँ प्रगतिशील काव्य–भाषा में मौजूद हैं।

प्रगतिशील काव्य–भाषा ने आधुनिक हिंदी काव्य–भाषा को सपाट नहीं बनाया। काव्य–भाषा का सपाट रूप द्विवेदी युग में मौजूद है, शुद्ध अभिधात्मक काव्य–भाषा। सीधी, सरल, सुबोध हिंदी में मानो कविता लिखने का प्रयास चल रहा था। प्रगतिशील काव्य–भाषा का मुख्य स्वर है हिंदी भाषा की जातीय शैली को काव्यात्मक बनाना। इस

काम में सर्वाधिक सफलता नागार्जुन और केदारनाथ अग्रवाल को मिली। मुक्तिबोध ने काव्यभाषा को विचारात्मक बनाया। जनता के श्रमशील संघर्ष को मार्क्सवादी और भारतीय परिप्रेक्ष्य में विचारात्मक भाषा देने में मुक्तिबोध को सर्वाधिक सफलता मिली। प्रगतिशील काव्य–भाषा का यह पक्ष महत्त्वपूर्ण है। आधुनिक हिन्दी काव्य–भाषा का भविष्य इससे प्रभावित हुआ। शमशेर ने कलात्मक काट–छाँट से प्रचलित भाषा को ऐसी ऊँचाई दी कि पुरानी काव्य–भाषा की तुलना में प्रगतिशील काव्य–भाषा की कलात्मकता कमतर न लगे।

प्रगतिशील काव्य–भाषा के विभिन्न आयामों ने आधुनिक हिंदी काव्य–भाषा को समृद्ध किया और आगे की काव्य–भाषा को जातीय भाषा से जुड़े रहने की राह दिखायी। प्रगतिशील कवियों ने सर्वहारा वर्ग की चिंता करते हुए ऐसी काव्य–भाषा में भी कविताएँ लिखीं, जो चिंतनपरक और परिनिष्ठित हैं। ऐसी कविताएँ व्याख्या की माँग करती हैं। विश्वनाथ त्रिपाठी ने लिखा है, "प्रगतिशील ऐसी भी रचना करता है जो समाज के निम्नतम वर्ग के विषय में तो होती है लेकिन जिन्हें वह समझ नहीं सकता। ऐसे रचनाकारों को हम प्रगतिशीलता के दायरे से बाहर नहीं कर सकते। हिन्दी में ऐसे रचनाकारों की बहुत बड़ी संख्या है जो नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल की तरह नहीं लिख सकते लेकिन जो साम्राज्यवाद–पूँजीवाद के विरूद्ध हैं और समाजवाद में दृढ़ आस्था रखते हैं। ऐसे लोगों की स्थिति पर विचार करना बहुत जरूरी है। मध्य वर्ग भी इनकी रचनाएँ तभी समझ सकता है जब ये निम्न वर्ग से जुड़े रहें और रचना में उसकी समस्याओं, भाषा–भंगिमाओं को सीखने का प्रयास करें। हमारे अनेक प्रगतिशील रचनाकार इस गलतफहमी के शिकार हैं कि चलो कोई बात नहीं अनपढ़ किसान–मजदूर उनकी रचनाएँ नहीं समझ पाते, मध्यवर्ग तो समझता ही है।"[20]

विश्वनाथ त्रिपाठी ने यहाँ प्रगतिवादी काव्य के एक अंतर्विरोध की तरफ संकेत किया है। इसी बहाने काव्य–भाषा का प्रश्न भी उठ खड़ा हुआ है। सर्वहारा को पूरी तरह समझ में आनेवाली प्रगतिशील काव्य–भाषा का औचित्य यही है कि उसकी 'समाजवाद में दृढ़ आस्था' हो तथा उसमें 'निम्न वर्ग' की 'भाषा–भंगिमाओं को सीखने का प्रयास' हो। मध्यवर्ग की भाषा को एकमात्र आधार बनाकर प्रगतिशील काव्य–भाषा नहीं रची जा सकती। प्रगतिशील काव्य–भाषा पर मध्यवर्ग की भाषा के प्रभाव को स्वीकार किया जाना चाहिए। यहाँ कलात्मकता का प्रश्न उठाते हुए विश्वनाथ त्रिपाठी की मान्यता है कि प्रगतिशील काव्य–भाषा के लिए वही कलात्मकता स्वीकार्य हो सकती है जिसमें सर्वहारा की कला मौजूद हो, "कलात्मकता के नाम पर किसान–मजदूर का साथ छुटा तो मध्यवर्ग

का भी साथ छुटा। यह कौन–सी कलात्मकता हुई जो कला को पाठकों से वंचित कर दे। निम्न वर्ग की ओर पीठ करके कला कलाबाजी बन गई।"[21]

मुक्तिबोध की काव्य–भाषा उपर्युक्त कलात्मकता से मुक्त होने का प्रयास करती है। उनकी कविता सर्वहारा वर्ग की भाषा–शैली में नहीं है। मध्यवर्ग के प्रगतिशील बुद्धिजीवी की विचारात्मक भाषा में वे कविता रचते हैं। वे अपनी प्रतिबद्धता और वैचारिकता के कारण प्रगतिशील कवियों के बीच स्वीकृत हैं, "कलात्मकता से ग्रस्त होने के बावजूद मुक्तिबोध ने इस कलात्मकता से उबरने की महान् कोशिश की है, कई स्थलों पर वे उबर सके हैं, वहाँ वे सफल प्रगतिशील कवि हैं। मुक्तिबोध की कई समस्याएँ थीं। मैं नहीं जानता कि मराठी–भाषी होने के नाते उन्हें हिन्दी के जातीय–रूपों को ग्रहण करने में क्या दिक्कतें पड़ीं।"[22]

प्रगतिशील कवि काव्य–भाषा के लिए कई स्तरों पर संघर्ष कर रहे थे। सर्वहारा की भाषा को काव्य भाषा के रूप में ढालना उनका प्राथमिक संघर्ष था। सर्वहारा की भाषा के प्रतिगामी तत्त्वों को दूर करके प्रगतिशील काव्य–भाषा का निर्माण, इस संघर्ष का अगला चरण था। किसान रूढ़ियों से ग्रस्त होता है। उसकी भाषा में भी ये रूढ़ियाँ मौजूद होती हैं। किसान को समाज की तरफ से जातिवादी, सामंती और पुरोहिती मानसिकता मिलती है। किसान चाहे किसी भी जाति का हो, उसे विरासत और परिवेश से यह मानसिकता निश्चित रूप से मिलती है। मजदूर अपने मूलस्थान से कटकर शहर में उपेक्षित होकर रहने को विवश होता है। वह अपने संस्कारों से ग्रामीण होता है, पर शहरी परिवेश उसे परिवर्तित होने का अवसर प्रदान करता है। शहर की बाजारू बनावट में ससम्मान जीवनयापन करने लायक आर्थिक स्थिति नहीं होने के कारण मजदूर वर्ग प्रायः अस्वस्थ माहौल और जीवन शैली अपनाने को विवश होता है। इन सबका असर उसकी भाषा–शैली पर पड़ता है। प्रगतिवादी दौर में मजदूरों के संगठन मजबूत थे और क्रमशः और मजबूत होते जा रहे थे। उम्मीद थी कि संघर्ष के रास्ते मजदूरों के लिए अनुकूल व्यवस्था कायम हो जाएगी। इस आशावाद का प्रभाव प्रगतिवादी काव्य–भाषा को क्रांतिकारी बनाने में पड़ा।

किसान–मजदूर की भाषा को काव्य–भाषा बनाने के लिए जरूरी था कि उसे जातिवाद, सामंतवाद, पुरोहितवाद से मुक्त किया जाए और प्रगतिशील रूप प्रदान किया जाए। आधुनिक हिन्दी काव्य–भाषा को प्रगतिशील काव्य–भाषा ने उपर्युक्त दृष्टि से

सँवारा। सर्वहारा वर्ग पिछड़ापन का शिकार होता है। अशिक्षा, आर्थिक विपन्नता, और सामाजिक सम्मान का अभाव उनकी भाषा को प्रभावित करते हैं। सर्वहारा की भाषा में से गाली–गलौज को निकालना एक चुनौती है। प्रगतिशील कवियों ने सर्वहारा की भाषा के स्वाभाविक रूप को कविता में लाने की कोशिश की और अपशब्दों को यथासंभव निकालकर ग्राह्य बनाने की कोशिश भी की। कथा–साहित्य में अपशब्दों का प्रयोग अपेक्षाकृत ज्यादा हुआ है। समाज की यथावत् तस्वीर पेश करने के उद्देश्य से कथाकारों ने ऐसा किया है। कवियों ने प्रायः गलियों से परहेज किया है, यद्यपि इसके अपवाद मौजूद हैं। प्रगतिवाद के बाद की काव्य–भाषा भी प्रायः गालियों से मुक्त रही है। हिन्दी कविता में उत्तरोत्तर हाशिये पर का समाज चित्रित हो रहा है। दलित और स्त्री–समाज से जुड़े कथा–साहित्य और कविता में अपशब्दों के प्रयोग को लेकर उपर्युक्त अंतर आज भी मौजूद है। दलित रचनाकारों की आत्मकथाएँ गालियों से भरी हैं, परंतु कविताएँ प्रायः इससे बची हुई हैं।

प्रगतिवादी काव्य–भाषा ने आधुनिक हिन्दी काव्य–भाषा को जनभाषा से जोड़ने तथा स्वयं को बार–बार नया बनाए रखने का रास्ता दिखाया। जनभाषा को काव्य–भाषा का आधार बनाने का काम छायावाद में नहीं हो पाया था। कहीं–कहीं क्षेत्रीय शब्द छायावादी काव्य–भाषा में भले ही दिख जाते हैं, परंतु इसे प्रवृत्ति के रूप में रेखांकित नहीं किया जा सकता है। प्रगतिवाद के पहले आधुनिक काल में कविता की क्रांतिकारी भाषा नहीं दिखायी पड़ती। काव्य–भाषा को परिवर्तन की भाषा बनाने का काम प्रगतिवाद में हुआ। क्रांति और परिवर्तन अपने राजनैतिक पहचान के साथ प्रगतिवादी काव्य–भाषा में व्यक्त हुए। क्रांतिकारी भाषा स्वभावतः आमूल परिवर्तनकारी होती है। अन्याय के खिलाफ संघर्ष का रास्ता अपनाने वालों की भाषा परिवर्तनकामी होती है। उसमें दया की माँग और ईश्वर से न्याय की कामना नहीं होती। अन्याय के मूल कारणों की पहचान करके उनके उन्मूलन की प्रवृत्ति यहाँ काम करती है। प्रगतिवादी कवियों ने क्रांति की भाषा को अनेक रूपों में काव्य–भाषा में ढाला। क्रांतिकारी नारों को कविता में शामिल किया, सामंती–पुरोहिती वर्चस्व को चुनौती दी, दबे–कुचले लोगों को संघर्ष का रास्ता दिखाया, क्रांतिकारी घटनाओं के समर्थन में कविताएँ लिखीं। इन सबके उदाहरण हम अगले उपशीर्षक में देखेंगे।

क्रांतिकारी तेवर का एक अगला दौर था, आजादी के बाद की जनतांत्रिक शासन–व्यवस्था के अत्याचारों से पीड़ित जनता की आवाज को कविता में व्यक्त करना।

सँवारा। सर्वहारा वर्ग पिछड़ापन का शिकार होता है। अशिक्षा, आर्थिक विपन्नता, और सामाजिक सम्मान का अभाव उनकी भाषा को प्रभावित करते हैं। सर्वहारा की भाषा में से गाली–गलौज को निकालना एक चुनौती है। प्रगतिशील कवियों ने सर्वहारा की भाषा के स्वाभाविक रूप को कविता में लाने की कोशिश की और अपशब्दों को यथासंभव निकालकर ग्राह्य बनाने की कोशिश भी की। कथा–साहित्य में अपशब्दों का प्रयोग अपेक्षाकृत ज्यादा हुआ है। समाज की यथावत् तस्वीर पेश करने के उद्देश्य से कथाकारों ने ऐसा किया है। कवियों ने प्रायः गलियों से परहेज किया है, यद्यपि इसके अपवाद मौजूद हैं। प्रगतिवाद के बाद की काव्य–भाषा भी प्रायः गालियों से मुक्त रही है। हिन्दी कविता में उत्तरोत्तर हाशिये पर का समाज चित्रित हो रहा है। दलित और स्त्री–समाज से जुड़े कथा–साहित्य और कविता में अपशब्दों के प्रयोग को लेकर उपर्युक्त अंतर आज भी मौजूद है। दलित रचनाकारों की आत्मकथाएँ गालियों से भरी हैं, परंतु कविताएँ प्रायः इससे बची हुई हैं।

प्रगतिवादी काव्य–भाषा ने आधुनिक हिन्दी काव्य–भाषा को जनभाषा से जोड़ने तथा स्वयं को बार–बार नया बनाए रखने का रास्ता दिखाया। जनभाषा को काव्य–भाषा का आधार बनाने का काम छायावाद में नहीं हो पाया था। कहीं–कहीं क्षेत्रीय शब्द छायावादी काव्य–भाषा में भले ही दिख जाते हैं, परंतु इसे प्रवृत्ति के रूप में रेखांकित नहीं किया जा सकता है। प्रगतिवाद के पहले आधुनिक काल में कविता की क्रांतिकारी भाषा नहीं दिखायी पड़ती। काव्य–भाषा को परिवर्तन की भाषा बनाने का काम प्रगतिवाद में हुआ। क्रांति और परिवर्तन अपने राजनैतिक पहचान के साथ प्रगतिवादी काव्य–भाषा में व्यक्त हुए। क्रांतिकारी भाषा स्वभावतः आमूल परिवर्तनकारी होती है। अन्याय के खिलाफ संघर्ष का रास्ता अपनाने वालों की भाषा परिवर्तनकामी होती है। उसमें दया की माँग और ईश्वर से न्याय की कामना नहीं होती। अन्याय के मूल कारणों की पहचान करके उनके उन्मूलन की प्रवृत्ति यहाँ काम करती है। प्रगतिवादी कवियों ने क्रांति की भाषा को अनेक रूपों में काव्य–भाषा में ढाला। क्रांतिकारी नारों को कविता में शामिल किया, सामंती–पुरोहिती वर्चस्व को चुनौती दी, दबे–कुचले लोगों को संघर्ष का रास्ता दिखाया, क्रांतिकारी घटनाओं के समर्थन में कविताएँ लिखीं। इन सबके उदाहरण हम अगले उपशीर्षक में देखेंगे।

क्रांतिकारी तेवर का एक अगला दौर था, आजादी के बाद की जनतांत्रिक शासन–व्यवस्था के अत्याचारों से पीड़ित जनता की आवाज को कविता में व्यक्त करना।

प्रगतिवादी कविता में पुलिसिया अत्याचार को कई बार व्यक्त किया गया। दलितों के सामूहिक संहार पर सत्ताविरोधी क्रांतिकारी कविताएँ रची गयीं। छात्र आंदोलनों को कुचले जाने और उनपर पुलिस अत्याचार के खिलाफ कविताएँ लिखी गयीं। किसानों के सशस्त्र विद्रोह को इन कवियों ने कविता का विषय बनाया। नक्सलबाड़ा और तेलंगाना जैसे सशस्त्र किसान आंदोलनों पर लिखी गयी कविताओं की भाषा का स्वरूप हिन्दी कविता के लिए निश्चय ही नया था।

स्वतंत्र भारत विश्व का सबसे बड़ा लोकतंत्र बना। विशाल जनमत संग्रह की व्यवस्था होते हुए भी सामंती पुरोहिती तत्त्व समाप्त नहीं हो पाए। क्रमशः पूँजीवाद मजबूत होता गया और कालाबाजारी बढ़ती गयी। माफियाओं का दबदबा विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका पर बढ़ता गया। कुल मिलाकर आम जनता के सपने पूरे नहीं हुए और उसके लिए जनतांत्रिक अधिकारों का कोई मतलब नहीं रह गया। कविता में इन सब बातों की अभिव्यक्ति एक चुनौती थी। मुक्तिबोध की 'अंधेरे में' जैसी कविताएँ उपर्युक्त तस्वीर को सर्वथा नयी काव्य–भाषा में व्यक्त करती है। प्रगतिवाद के पहले सत्ताविरोधी राजनीतिक कविताएँ प्रायः नहीं लिखी गयी थीं। नागार्जुन और केदारनाथ अग्रवाल ने खेतिहर प्रकृति को कविता का विषय बनाया। खेती–बाड़ी के पौधों को कविता में जगह दी। धान, गेहूँ, तीसी, अलसी, चना, सरसों, आदि फसल अपनी पूरी पहचान और सुंदर छवि के साथ कविता में आए। प्रगतिशील कवियों का ध्यान गुलाब जैसे विशुद्ध फूल की बजाय सरसों और अलसी के किसानी फूलों की चर्चा में किसान–जीवन के रंग–रूप और भाषा–व्यवहार चित्रित हुए हैं।

प्रगतिवादी कवियों ने दलित जातियों पर अनेक कविताएँ लिखीं। इनके पहले इन जातियों से संबंधित कविताओं की संख्या नहीं के बराबर है। यदि इन जातियों की झलक कहीं दिखायी पड़ती भी है तो भिन्न उद्देश्य से। निराला की कविता–

"मैं ही वसंत का अग्रदूत
ब्राह्मण समाज में ज्यो अछूत"

में दलित को विषय बनाकर कविता नहीं लिखी गयी है। प्रगतिशील कवियों ने धोबी, चमार, कहार आदि जातियों के नाम स्पष्ट रूप से लिखते हुए इन्हें मुख्य विषय बनाकर कविताएँ लिखीं। ऐसी कविताओं की भाषा निश्चय ही आधुनिक हिंदी काव्य–भाषा को नया रूप दे रही थी।

प्रगतिवादी कवियों के द्वारा लिखी गयी दलित कविताओं से आज का दलित विमर्श अपनी असहमति प्रकट करता रहा है। ऐसी असहमतियों के अपने तर्क रहे हैं। परंतु यहाँ केवल इतना बताना प्रासंगिक है कि प्रगतिवाद कवियों ने दलित–विषय को कविता से जोड़कर काव्य–भाषा में नए पक्ष की संभावना को जन्म दिया। कविता का विचारधारा से स्पष्ट संबंध प्रगतिवाद कवियों ने स्वीकार किया। राजनीतिक विचारधारा कविता को समृद्ध कर सकती है, इसकी संभावना इसके पहले नहीं दिखी थी। मार्क्सवाद अंततः राजनीतिक विचारधारा के रूप में प्रगतिवादियों द्वारा अपनाया गया था। उनके साझे प्रयासों का आधार मार्क्सवाद था। मार्क्सवाद को अपनाने के कारण कविता में सैद्धांतिक विश्लेषण की प्रवृत्ति दिखायी पड़ी। वामपंथी कार्यक्रमों को कविता में व्यक्त किया गया। पूँजीवाद, समाजवाद, सर्वहारा, बुर्जुआ, सामंतवाद, पुरोहितवाद जैसे शब्द काव्य–भाषा में शामिल हुए। मुक्तिबोध की कविताओं में मार्क्सवादी शब्दों का प्रयोग सर्वाधिक हुआ है। इसी का एक पक्ष और है कि पूँजीवादी–साम्राज्यवादी देशों खासकर अमेरिका की दमनकारी विदेश–नीति के खिलाफ प्रगतिवादी कविताएँ लिखी जाती रही हैं, जैसे– वियतनाम पर अमेरिकी आक्रमण के खिलाफ नागार्जुन की कविताएँ।

आधुनिक हिन्दी कविता में प्रगतिवाद के पहले गाँव बहुत हल्के तौर पर आया है। प्रगतिवाद कवियों ने अपने गाँवों के नाम तक कविता में दिए हैं। अपने जाने–पहचाने गाँवों का विस्तार से चित्रण किया है। नागार्जुन ने 'तरउनी' तथा केदारनाथ अग्रवाल ने 'चन्द्रगहना' की खेतिहर प्रकृति के बारे में लिखा है। इन कविताओं में वर्णित बातों का संबंध किसान जीवन से है। संध्या, प्रातः, बारिश, धूप, बादल, मौसम, नदी, नाले, खेत–खलिहान, पेड़–पौधे, पर्व–त्योहार, मेला–बाजार आदि ग्रामीण जीवन के अभिन्न अंग हैं। गाँव के लोगों के लिए ये वैकल्पिक नहीं हैं, बल्कि उनकी जीवन–शैली को अभिन्न रूप से निर्मित करते हैं। इन सबको नजर अंदाज करके गाँव के जीवन का सहज और जीवन्त चित्रण नहीं हो सकता। प्रगतिशील कवियों ने पहली बार ग्रामीण जीवन को बारीकी से कविता का विषय बनाया। जाहिर है कि इससे ग्रामीण जीवन की विशाल शब्द–सम्पदा को हिन्दी कविता में लाने की गुंजाइश बनी। इस तरह प्रगतिवादी काव्य–भाषा ने हिन्दी कविता को जातीय रूप प्रदान करने में सफलता पाई। केदारनाथ सिंह ने नागार्जुन के बारे में लिखा है कि उनकी संवेदना का केन्द्र गाँव–सम्बंधी कविताओं पर लागू किया जा सकता है, "गाँव के साथ नागार्जुन के इस संबंध को थोड़ा रुककर समझने की जरूरत है। यदि उनकी गाँव–संबंधी कविताओं का गहराई से

अध्ययन किया जाए तो पता चलेगा कि इस संबंध के पीछे 'नास्टेल्जिया' या 'घर की याद' जैसी किसी चीज की (चाहे दो–एक कविताओं में उसका हल्का–सा आभास मिल भी जाए) कोई भूमिका नहीं है। वस्तुतः नागार्जुन की गाँव–संबंधी चेतना का एक ठोस और मजबूत वैचारिक आधार है। कृषक–जीवन और उसकी समस्याओं में उनकी सक्रिय और गहरी दिलचस्पी रही है। यह एक तथ्य है कि वे स्वाधीनता के पहले से ही किसान–आन्दोलनों से जुड़े रहे हैं। उनकी कुछ नवीनतम कविताओं में, कृषि–संबंधों में जो एक खास तरह की हलचल पिछले दिनों पैदा हुई है, उसकी आहटें सुनी जा सकती हैं। वस्तुतः गाँव के साथ नागार्जुन के संबंध को कृषि–संबंधों की इसी हलचल के सन्दर्भ में देखा जाना चाहिए। बहुत कुछ इस हलचल के उतार–चढ़ाव के समानांतर ही उनकी कविता का एक ऐसा पक्ष है, जिस पर अलग से विचार होना चाहिए।[23]

प्रगतिवादी कवि गाँव से केवल मातृभूमि होने कारण नहीं जुड़ा है, बल्कि किसान–आंदोलन जैसे देशव्यापी परिप्रेक्ष्य में गाँव का जिक्र करता है। काव्य–वस्तु को अपनाकर प्रगतिशील कविता ने नयी काव्य–भाषा की संभावना उत्पन्न की।

प्रगतिवादी कवियों ने अपने समय की राजनीतिक घटनाओं या महत्त्वपूर्ण प्रसंगों पर कविताएँ लिखकर, एक तरह से तात्कालिक काव्य–भाषा की रचना की। ऐसी रचनाओं को प्रायः तात्कालिक और अगम्भीर बताकर उपेक्षा करने की कोशिश की गयी। इस उपेक्षा का कारण केदारनाथ सिंह बताते हैं, "दरअसल, आलोचना के प्रचलित मान–मूल्यों और अपने समय के पूरे सौंदर्यबोध को सबसे ज्यादा यही कविताएँ झकझोरती हैं।"[24] केदारनाथ सिंह के कथन में यह बात निहित है कि ऐसी कविताओं की भाषा निश्चय ही प्रचलित काव्य–भाषा से भिन्न होगी और काव्य–भाषा प्रचलित 'मान्य–मूल्यों' को 'झकझोरती' हुई आलोचना के लिए चुनौती पेश करेगी।

मुक्तिबोध और नागार्जुन की प्रसंगतः तुलना करते हुए केदारनाथ सिंह लिखते हैं, " मुक्तिबोध की समस्या थी – "कविता में कहने की आदत नहीं है, पर कह दूँ, वर्तमान समाज चल नहीं सकता।" नागार्जुन की स्थिति इससे बिल्कुल विपरीत है। उन्हें सीधी–से–सीधी बात और कई बार एकदम कविता न लगनेवाली बात को भी कविता में कहने की आदत है और खूब है। यह इन दोनों कवियों के मानसिक गठन का बुनियादी अंतर है। नागार्जुन जितना कुछ देखते हैं, सुनते हैं, सूँघते हैं या महसूस करते हैं, उसे पूरा–का–पूरा और कई बार उसके संपूर्ण अनगढ़पन के साथ कविता में कहने की अद्‌भुत

कला उनके पास है। उनके लिए कविता से बाहर कुछ नहीं है, न इतिहास का सत्य और न भूगोल का ऊबड़–खाबड़पन। उनके रचनातंत्र में कविता और इतिहास के बीच कोई सीधा द्वन्द्व इसलिए नहीं है कि वे कविता को, अपनी विलक्षण काव्य दृष्टि के द्वारा सीधे स्थूल दैनिक घटनाओं के बीच घटित होते हुए देखते हैं।"[25]

ऊपर के उद्धरण से प्रगतिवादी काव्य–भाषा के दो छोरों को समझा जा सकता है। मुक्तिबोध के लिए कुछ बातों को काव्य–भाषा में व्यक्त कर पाना आसान नहीं है, फिर भी वे कोशिश कर रहे हैं कि 'उस तरह' की बातों को भी कविता में कह दिया जाए। दूसरी तरफ नागार्जुन को ऐसी कोई परेशानी नहीं है। उनकी काव्य–भाषा का विस्तार इस छोर तक बखूबी है। नागार्जुन 'सीधी से सीधी बात' को कविता में व्यक्त कर लेते हैं तो मुक्तिबोध जटिल से जटिल बात को अपनी काव्य–भाषा में साध लेते हैं। सरलता से जटिलता की इस लंबी सीमा को प्रगतिवादी काव्य–भाषा संभव बनाती है। 'गम्भीर' और 'अगम्भीर' विषयों को व्यक्त करने वाली प्रगतिवादी काव्य–भाषा की भूमिका पर विचार करना आवश्यक है। एक ही समय में दो स्वरूपवाली काव्य–भाषा के प्रचलन के क्या कारण हो सकते हैं? नागार्जुन के संदर्भ में केदारनाथ सिंह के कथन को प्रसंगतः उद्धृत किया जा सकता है, "एक बदलते हुए संघर्षशील समाज में कविता की यह दोहरी भूमिका अनिवार्य है। ... उनकी कविता में समकालीन राजनीतिक और सांस्कृतिक परिवेश से जुड़े हुए कुछ नाम बार–बार आते हैं– इन्दिरा गाँधी, मोरारजी देसाई, विनोबा भावे, अरविन्द घोष या यहाँ तक कि राजनारायण भी। ये नाम अगर उनकी संवेदना को कहीं झकझोरते या छूते हैं तो इसलिए कि एक हद तक ये जनता से दिलचस्पी या उसके सामान्य बोध का हिस्सा होते हैं। इसलिए इन नामों में एक सीधी अपील होती है और नागार्जुन अपनी रचना में अपने समय के यथार्थ की चीर–फाड़ करते समय उस 'अपील' का पूरा–पूरा फायदा उठाते हैं।[26]

प्रगतिशील काव्य–भाषा 'दोहरी भूमिका' निभा रही थी। समकालीन प्रसंगों से जनता के लिए 'अपील' की तलाश यह काव्य–भाषा कर रही थी। दूसरी तरफ, 'प्रेम, वात्सल्य, करुणा और सौन्दर्य' जैसे विषयों को युगानुकूल काव्य–भाषा में नवीनता और ताजगी के साथ बनाए रखना आवश्यक था।

आधुनिक हिन्दी काव्य–भाषा के निर्माण में प्रगतिशील काव्य–भाषा की भूमिका अहम और दूरगामी रही है। प्रगतिवाद के बाद हिन्दी कविता के इतिहास में कई प्रयोग

और परिवर्तन हुए। इन सब प्रसंगों की प्रक्रियाओं से गुजरती हुई हिंदी काव्य–भाषा आधी शताब्दी से ज्यादा का सफर तय कर चुकी है। इस आधी शताब्दी की काव्य–भाषा पर पूर्ववर्ती प्रभाव और प्रेरणा की तलाश की जाए तो हम पाएँगें कि प्रतिनिधि कवियों की भाषा पर छायावादी से ज्यादा प्रगतिवादी भाषा का असर है। इसका कारण यही है कि छायावादी काव्य–भाषा की तुलना में प्रगतिवादी काव्य–भाषा हिंदी की जातीय भाषा के अधिक नजदीक है। हिंदी भाषी के लिए प्रगतिवादी काव्य–भाषा ज्यादा अपनी है। कहा जा सकता है कि खड़ी बोली हिंदी को प्रगतिवादी काव्य–भाषा में 'निज भाषा' का पूरा सम्मान और स्वीकार मिला। अभिव्यक्ति और संप्रेषण के बीच का अंतराल यहाँ समाप्त हो गया। इस काव्य–भाषा को गंभीर मीमांसा और भाष्य के झंझट में नहीं पड़ना पड़ा। जनता की भाषा कविता की भाषा बन गयी।

(ग) प्रगतिशील कवियों की काव्य–भाषा और प्रगतिशील आंदोलन

प्रमुख प्रगतिशील कवियों की काव्य–भाषा अलग–अलग तरह की है। एक ही आंदोलन के कवि होने के बावजूद विषय–वस्तु को अलग तरीके से व्यक्त करने के कारण काव्य–भाषा में भिन्नता स्वाभाविक है। प्रगतिशील आंदोलन बहुआयामी था। रचनाकारों ने अपनी रुचि के अनुसार भिन्न पक्षों को अपनी कविता का विषय बनाया। नागार्जुन और केदारनाथ अग्रवाल ने गाँव को प्रमुखता दी तो मुक्तिबोध ने सैद्धान्तिक पक्ष के विश्लेषण को कविता का विषय बनाया, शमशेर ने प्रगतिशील सौन्दर्य-बोध को कलात्मक ऊँचाई दी। इन कवियों की काव्य–भाषा के पक्षों पर विस्तार से विश्लेषण आवश्यक है। यहाँ केवल संकेत किया गया है। अलग–अलग पक्ष को विषय बनाने के कारण इन कवियों ने भिन्न काव्य–भाषा की रचना की। काव्य–भाषा की यह बहुरूपता समृद्धि का प्रतीक है, मतभेद का नहीं। प्रगतिशील कवियों की विविधवर्णी काव्य–भाषा पर विचार करते समय यह जरूर ध्यान जाता है कि इस भिन्नता के स्रोत अंततः प्रगतिशील आंदोलन के भीतर ही हैं। गाँव, सर्वहारा, कृषि–संस्कृति, वामपंथ, मार्क्सवाद, जनवादी कला आदि सभी के संदर्भ प्रगतिशील आंदोलन में अंतर्निहित हैं। प्रगतिशील आंदोलन ने इस बहुरंगी काव्य भाषा को निर्मित करने में प्रेरणा का काम किया और इनके बीच एकता का आधार भी उपलब्ध कराया।

प्रगतिशील कवियों ने प्रगतिशील आंदोलन के प्रति अपनी प्रतिबद्धता जताई है। सबने मार्क्सवाद को विचारधारा के रूप में अपनाया और इसे तर्कसंगत माना। प्रगतिशील कवि छिपी हुई विचारधारा का विरोधी रहा है। वह अपने राजनैतिक विचारों को स्पष्ट शब्दों में व्यक्त करना आवश्यक समझता है। राजनैतिक रूप से स्पष्ट नजरिया रखने वाला इतना बड़ा कोई दूसरा साहित्यिक आंदोलन दिखाई नहीं पड़ता है। प्रगतिशील आंदोलन के पहले लेखकों की गुटबाजी भले होती हो, परन्तु लेखक संगठन का अभाव था। वामपंथी राजनैतिक विचारधारा और मार्क्सवादी दर्शन को अपनाकर लेखक संगठन बनाया गया और साहित्य को उद्देश्यपरक बनाने की घोषणा की गयी। इस तरह, साहित्य को निर्धारित रूप और अनुशासित दिशा देने की पहली बार कोशिश की गयी। ऐसे प्रयासों का असर काव्य–भाषा पर स्वाभाविक रूप से पड़ा।

प्रगतिशील कवियों की काव्य–भाषा कवियों की नितान्त व्यक्तिगत रुचि से निर्मित नहीं है। परम्परागत काव्य–भाषा से उन्हें बहुत कुछ प्राप्त नहीं हो पाया। द्विवेदीयुगीन या

छायावादी काव्य–भाषा से विकसित काव्यभाषा में प्रगतिशील काव्य–वस्तु को व्यक्त कर पाना संभव नहीं था। इस नयी काव्य–भाषा के लिए पुराना साहित्यिक संदर्भ उतना मूल्यवान नहीं था, जितना युगीन सामाजिक–राजनैतिक संदर्भ। इस तरह, प्रगतिवादी काव्य–भाषा की निर्मिति में शुद्ध साहित्यिकता की तलाश ठीक नहीं है। अपने समय समाज और राजनीति से गहरे जुड़ाव के कारण इस काव्यांदोलन की भाषा को साहित्येतर प्रसंगों की कसौटी पर भी कसने की ज़रूरत पड़ सकती है। काव्य–भाषा की तलाश करते हुए कवि भाषा के मान्य अर्थों और मूल्यों से स्वयं नए अर्थ और संदर्भ प्राप्त करता है। इसके समानान्तर कवि व्यक्तिगत अनुभूति और संदर्भ को जोड़कर भाषा में नए अर्थ उत्पन्न करता है। इस तरह काव्य–भाषा के सृजन में कवि के निजी अनुभव–संसार और सामाजिक अनुभवों में अभिवृद्धि होती है। इसमें कवि और समाज अनुभवों तथा भाषा के स्वीकृत सामाजिक रूप में व्यापकता आती है। कविता से सामाजिक भाषा जब सर्जनात्मक स्तर पर जुड़ती है तब उसमें नई गतिशीलता आती है। इस गतिशीलता का अध्ययन करके देखा जा सकता है कि काव्य–भाषा के स्वरूप में परिवर्तन का सामाजिक बदलावों से कैसा सम्बन्ध होता है। प्रगतिशील काव्य–भाषा के स्वरूप और उसके मूल्य–बोध का सम्बन्ध नए सामाजिक–राजनैतिक परिदृश्य से जुड़ता है।

प्रगतिशील कविता का भावबोध समाज के ऐसे तबके से जुड़ा था, जिसकी अभिव्यक्ति अब तक नहीं के बराबर हुई थी। इस नई जनता से सम्पर्क और प्रत्यक्ष संवाद स्थापित करने तथा उससे पूरी तरह जुड़ जाने के संकल्प के साथ इन कवियों ने सृजन में हाथ लगाया। किसान, मजदूर और जन–जन की भाषा को काव्य–भाषा बनाने की कोशिश इन कवियों में दिखलायी पड़ती है। जन साधारण के निकट कविता को लाने का प्रयास आसान नहीं था। यहाँ अध्यात्मवादी, साम्प्रदायिक, रूढ़िवादी और कुलीनतावादी भाषा–संस्कारों से न केवल बचने की कोशिश की गयी, बल्कि इन्हें चुनौती भी दी गयी। डॉ. जगदीश गुप्त ने लिखा है, "प्रगतिवाद ने भाषा को गेय रोमैंटिकता की परिधि से निकालकर सड़कों और पगडण्डियों पर चलने को विवश किया। इससे उसमें एक खुलापन आया; उसने आसपास की लोकभाषाओं से अपना शब्द–भण्डार समृद्ध किया।"[27]

यह नयी भाषा निष्क्रिय सामाजिक जीवन से उत्पन्न नहीं हो सकती थी। यथार्थ से मुठभेड़ करता हुआ और कवि के प्रामाणिक अनुभवों की लय से जुड़ता हुआ प्रगतिशील कवि रचना में जिस संसार का पुनःसृजन कर रहा था उसमें उसकी सक्रिय हिस्सेदारी थी। 'ध्वनि ग्राहक' नामक सॉनेट में त्रिलोचन ने लिखा है–

"लड़ता हुआ समाज, नयी आशा–अभिलाषा
नये चित्र के साथ नयी देता हूँ भाषा।"[28]

कवि अपने लिए एक नया शब्द दे रहा है 'ध्वनिग्राहक'। वह अपनी काव्य–भाषा के स्रोत स्पष्ट शब्दों में बता रहा है– "समाज में उठने वाली/ध्वनियाँ पकड़ लिया करता हूँ।"[29] काव्य–वस्तु के बारे में भी उसकी ऐसी ही राय है– "अगर कोठरी अँधेरी/ है तो उसे अँधेरी समझाने–कहने का/मुझको है अधिकार।"[30] प्रगतिशील कवि 'बहुजन समाज की अनुपल प्रगति के निमित्त' (नागार्जुन की कविता– 'प्रतिबद्ध हूँ') शतधा प्रतिबद्ध है। वह जीवन के अँधेरे–उजाले को अपनाते हुए काव्य–दृष्टि की व्यापकता में आस्था व्यक्त करता है।

त्रिलोचन एक तरफ लिखते हैं, "तुलसी बाबा, भाषा मैंने तुमसे सीखी"[31] तो दूसरी तरफ, "गालिब ग़ैर नहीं है, अपनों से अपने हैं।/ग़ालिब की बोली ही आज हमारी बोली/ है"।[32] तुलसी और ग़ालिब की भिन्न भाषा–परम्परा को अपनाकर प्रगतिवादी काव्य–भाषा को समृद्ध करने की सर्जनात्मक प्रतिबद्धता प्रशंसनीय है। हिन्दी की परंपरा में ग़ालिब को शामिल करना 'हिन्दी जाति' की अवधारणा में उर्दू को नज़रअंदाज़ न करने की पक्षधरता है। आम आदमी की भाषा कैसे सर्जनात्मक बन सकती है? –– त्रिलोचन मानो तुलसी और ग़ालिब की काव्य–भाषा में इसका रास्ता देख ले रहे हैं। रामविलास शर्मा ने लिखा है, "भावों की गहनता, सूक्षमता या उच्चता के साथ भाषा सरल रहे, साथ ही, शिथिल भी न हो यह अत्यन्त दुष्कर है। इसकी सफलता का उदाहरण 'रामचरितमानस' है।[33]

केदारनाथ सिंह ने त्रिलोचन की भाषा पर जो टिप्पणी की है उसे प्रगतिशील काव्य–भाषा की विशेषता के रूप में रखा जा सकता है, "भाषा के प्रति त्रिलोचन एक बेहद सजग कवि हैं– एक ऐसे कवि जो अपनी भाषा की समस्त गूँजों और अनुगूँजों को बखूबी जानते हैं और एक रचनाकार की हैसियत से उनके प्रति गहरा सम्मान का भाव रखते हैं। यही कारण है कि उनकी कविता में भाषा के विविध धरातल दिखायी पड़ते हैं। वे ठेठ अवध के कवि हैं और फलतः अवधी बोली की सर्जनात्मक क्षमता से खड़ी बोली को अधिक आत्मीय और अधिक व्यंजनाक्षम बनाने के आग्रही कवि भी। परन्तु वे लोक बोली और पंडितों की भाषा के बीच कोई सुविधाजनक सेतु निर्मित करने की कोशिश कभी नहीं करते। इसी मानी में उनके आदर्श तुलसीदास हैं, जहाँ कविता एक साथ बोली

के सारे ठाठ और अभिव्यक्ति की सारी परिचित–अपरिचित भंगिमाओं को अपने भीतर समेटकर चलती है। इसीलिए आप पाएँगे कि त्रिलोचन की कविता में बोली के अपरिचित शब्द जितनी सहजता से आते हैं, कई बार संस्कृत के कठिन और लगभग प्रवाहच्युत शब्द भी उतनी ही सहजता से कविता में प्रवेश करते हैं और चुपचाप अपनी जगह बना लेते हैं। वस्तुतः त्रिलोचन 'हिन्दी' शब्द से जिस विपुल भाषिक सम्पदा का बोध होता है, उसकी संपूर्णता को अपनी रचनाशीलता के विविध स्तरों पर पकड़ने और उद्‌घाटित करने वाले कवि हैं– एक ऐसे कवि जिनके यहाँ भाषा की श्रेणियाँ नहीं बनायी जा सकती।''[34]

भाव और भाषा के अन्तस्सम्बन्ध की चुनौती तब ज्यादा जटिल हो जाती है जब कवि भावों की गहनता और सूक्ष्मता को जनता को समझ में आने वाली सरल शैली में व्यक्त करना चाहता है। प्रचार और लोकप्रियता के उद्देश्य से अपनायी गयी शब्दावली उपयुक्त भाव को व्यक्त करने में समर्थ नहीं हो पाती। प्रगतिशील दर्शन से उत्पन्न सामाजिक दृष्टि के लिए नयी भाषा–दृष्टि की आवश्यकता कवियों ने महसूस की। अनेक कवियों ने अपनी दृष्टि, सामाजिक समझ, जीवन की अनुभूति और कलात्मक सामर्थ्य के अनुरूप सफलता–असफलता प्राप्त करते हुए प्रगतिशील काव्य–भाषा को रचने में योगदान दिया।

भारत भूषण अग्रवाल ने लिखा कि 'अपनी मिट्टी के पुतलों के शब्दों में' नयी काव्य–भाषा रचेंगे–

> ''युग के मानव के सुख–दुख, आशा प्रत्याशा का प्रतिनिधित्व
> इसके कण्ठ से नहीं संभव। यह सदा स्वर्ग–वासिनी रही
> अप्सरा बनी। जाने दो इसको स्वर्ग, खोज ले आज मही
> अपनी मिट्टी के पुतलों के शब्दों में ही अपना कवित्व
> हमको न जरूरत आज देव–वाणी की, हम खुद ढालेंगे
> जीवन की भट्ठी में भाषा, जी–चाहा रूप बना लेंगे।''[35]

'कूप–जल' को हिन्दी काव्य–भाषा के इतिहास में भक्तिकाव्य के बाद पुनः इस दौर में अस्वीकृत किया गया और 'जीवन की भट्ठी' में 'बहता नीर' को तलाशने की चुनौती स्वीकार की गयी। यहाँ चुनौती केवल यह नहीं थी कि जनता की भाषा में कविता लिखी जाए, बल्कि कविता की पहचान और प्रकृति के अनुरूप जनता की भाषा को सर्जनात्मक रूप दिया जाए। भारत भूषण अग्रवाल चिंतित है कि 'कितनी संकुचित जीर्ण,

वृद्धा हो गयी आज कवि की भाषा!' उनका तर्क है कि जीवन तेजी से बदल रहा है, पर काव्य–भाषा वहीं की वहीं पड़ी हुई है–

"..... कैसी विडम्बना ! स्थिर साधन
यद्यपि चिर–गतिमय साध्य ! देवता बदल गए, बदली न मूर्ति।"

'साधन' (भाषा) की स्थिरता को गतिशीलता में बदलना ज़रूरी हो गया है। कविता का विषय ('साध्य') 'चिर–गतिमय' है, अतः काव्य–भाषा में अपेक्षित गतिशीलता जीवन्तता के लिए ज़रूरी है। 'अपने कवि से' शीर्षक कविता में वे छायावादी काव्य–भाषा तक की परम्परा से भिन्न और आगे बढ़ी हुई काव्य–भाषा को खोजने और अपनाने पर ज़ोर देते हैं–

"कवि ! तोड़ो अपना शब्द–जाल, जो आज खोखला, शून्य हुआ
यह है अपने पुरुषों की वैभव–भोगमयी कलुषित वाणी,
मदमत्त, विलासिनि ! त्याग इसे ! बनना है तुझ को तो अगुआ
युग का, युग की भूखी, कमज़ोर हड्डियों का, जिन का पानी
है उठा खौल, घिर रहा विश्व पर घटाटोप बादल बन कर।
बज नहीं सकेगा तेरी इस मधु की वंशी पर इनका स्वर
गर्जना–भरा ! ....."[36]

कवि महसूस कर रहा है कि 'युग की भूखी, कमज़ोर हड्डियों का' 'पानी है उठा खौल'। इस नये 'घटाटोप बादल' का स्वर 'बज नहीं सकेगा तेरी इस मधु की वंशी पर'। इसलिए ज़रूरी हो गया है कि 'खोखला' और 'शून्य' 'शब्द–जाल' को तोड़कर युगानुकूल काव्य–भाषा रची जाए। अन्यथा भाषा की पुरानी मनोवृत्ति ऐसी विसंगति को जन्म देगी–

'तू सुनता रहा मधुर नूपुर–ध्वनि यद्यपि बजती थी चप्पल'

भारत भूषण अग्रवाल छायावादी कवियों की तुलना में स्वयं की पीढ़ी को काव्य–भाषा को रचने की दृष्टि से अपेक्षाकृत ज़्यादा कठिनाई में महसूस करते हैं–

" 'तारसप्तक' के छायावादी पूर्वजों को एक ऐतिहासिक सुविधा मिली थी कि जिस भाषा में वे अपनी अभिव्यक्ति कर रहे थे, उस भाषा का वे साथ ही साथ विकास और रूपायन भी कर रहे थे। उनके पहले तो कविता अवधी, ब्रज–भाषा आदि बोलियों में लिखी जाती थी। यही कारण है कि उनके लिए काव्यभाषा का निर्माण एक कठिनाई न होकर अनरुँधे पथ पर चलने का गौरवोल्लास बन गया था। यही नहीं, जनतान्त्रिक

सिद्धान्त उनके आदर्श तो थे, व्यवहार नहीं बने थे; और इसी कारण जहाँ संस्कृत का अनन्त भाण्डार उन्हें नवीन अर्थ–प्राप्ति के लिए उपलब्ध था, वहीं उसे लोक–मानस तक लाने की उन्हें कोई बाध्यता न थी (छायावादी कविता में लोकोक्तियाँ और मुहावरे मरु में मरूद्यान की ही भाँति मिलते हैं।) पर नये कवि को यह सुविधा प्राप्त नहीं है। उसे प्रचलित भाषा में ही नया अर्थ भरना है, नयी अभिव्यक्ति का माध्यम पाना है। यही नहीं, उसके आस–पास एक विदेशी भाषा का ऐसा धड़ल्ले से व्यवहार होता है कि सही भावाभिव्यक्ति के लिए उसके शब्दों का संपूर्ण बहिष्कार करने की स्थिति में वह नहीं है। परिशुद्धतावादी उसे चाहे कितना ही क्यों न कोसें, दैनन्दिन बोल–चाल में प्रचलित इन अँगरेजी शब्दों के स्थान पर हिन्दी के शब्द बैठाना कृत्रिम ही कहा जायेगा और ऐसे शब्द भाव की व्यंजना नहीं कर सकेंगे। यथार्थ की भूमि पर जो काव्य खड़ा है उसका माध्यम यथार्थ–भाषा ही हो सकती है– शब्द–कोश की भाषा नहीं।''[37] परिवेश के अनुसार यथार्थ–भाषा को काव्य–भाषा बनाने की चुनौती प्रगतिशील कवियों के सामने थी। सभी प्रमुख प्रगतिशील कवियों ने अलग–अलग तरीके से इस चुनौती को स्वीकारा और प्रगतिशील काव्य–भाषा की बहुरूपता को संभव बनाया।

जनता की भाषा के सर्जनात्मक रूप का सुंदर उदाहरण है नागार्जुन की कविता 'हरिजन–गाथा'। यहाँ सर्जना का ऐसा कोई मोह नागार्जुन को नहीं है कि काव्य–भाषा दुरूह हो जाए। दलितों को जिंदा जला दिए जाने की घटना को कविता में चित्रित करते हुए पूरी सावधानी रखी गयी है कि घटना का दर्द और तीखापन संतुलित रूप में व्यक्त हो सके। भावी दलित–उभार को रेखांकित करते हुए तात्कालिक असुरक्षा को एक साथ समर्थ भाषा में व्यक्त किया गया है। इस कविता के कुछ टुकड़ों को रखकर इसकी भाषागत विशेषता पर बात की जा सकती है।

'तेरह के तेरह अभागे– / अकिंचन मनुपुत्र'

और

'साधन सम्पन्न ऊँची जातियों वाले / सौ–सौ मनुपुत्रों द्वारा !'

शोषक और शोषित दोनों पक्षों के लिए 'मनुपुत्र' शब्द का इस्तेमाल बताता है कि इस घटना का असली कारण जातिवाद है। ठेठ मार्क्सवादी समझ से इसे वर्ग–संघर्ष कहा जाएगा, पर नागार्जुन असली नब्ज़ पर ऊँगली रखते हैं। 'दरोगा जी' तक 'संभावित दुर्घटनाओं की' ख़बर पहुँचा दी गयी थी, पर दुर्घटना हुई। गरीब जनता के बीच रोबोदाब रखने वाले 'दरोगा जी' सदैव 'जी' प्रत्यय के साथ याद किए जाते हैं। प्रेमचन्द के 'नमक

का दारोगा' को यहाँ रखें तो 'दारोगा' और 'दरोगा' का फ़र्क उत्तर प्रदेश और बिहार की हिन्दी का फ़र्क है। मानक हिन्दी में भले 'दारोगा' होता हो पर नागार्जुनी छाप बिहारी हिन्दी में 'दरोगा' शुद्ध है। कवि ने सावधानीपूर्वक भाषा की सहजता को बचाकर प्रगतिशील काव्य–भाषा को नई ताकत दी है।

नागार्जुन एक ही कविता में बहुस्तरीय भाषा का उपयोग करते हैं और कथ्य ही बहुस्तरीयता को व्यक्त करने में सफलता प्राप्त करते हैं। कुछ उदाहरण–

क– 'ऐसा *नवजातक*'– (ज्योतिष और संस्कृत की भाषा)

ख– 'रामजी के आसरे जी गया अगर' – (ग्रामीण बोल चाल की भाषा)

ग– '*मग्गह* का यह बदनाम इलाका'–(मगही भाषा से लिया गया शब्द–रूप)

घ– '*भूमिहीन बंधुआ मजदूरों* के घर में' – (राजनीतिक भाषा)

ङ– 'देखो तो कैसा *मुलुर–मुलुर* देख रहा शैतान'। (मगही भाषा)

च– 'हाल ही में घटित हुआ था वो विराट् दुष्कांड .....' (संस्कृत शब्दों के सहारे सांस्कृतिक–सामाजिक संकट की अभिव्यक्ति)[38]

'हरिजन–गाथा' कविता की उपर्युक्त पंक्तियाँ केवल नमूने के तौर पर रखी गयी हैं। पूरी कविता पढ़ते हुए भाषायी प्रभाव को महसूस करना संभव हो पाता है। आसान लगने वाली नागार्जुन की भाषा कथ्य और उद्देश्य की जटिलता को खुद में समेटे हुए है। कथ्य के अनुकूल उच्चकोटि का कलात्मक सौन्दर्य यहाँ मौजूद है। मात्रिक छंद का प्रवाह, हल्की–फुल्की तुकबंदी, बोलचाल के टोन के अनुकूल यति–गति मिलकर इस कविता के पाठ को प्रभावशाली और बोधगम्य बनाते हैं।

अकेले नागार्जुन ने प्रगतिशील काव्य–भाषा के विभिन्न पक्षों को समृद्ध करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। रूप, छंद, बोली, भाषा, शैली आदि दृष्टियों से नागार्जुन की विशिष्टता को रेखांकित करते हुए नामवर सिंह ने लिखा है, ''नागार्जुन की गिनती न तो प्रयोगशील कवियों के संदर्भ में होती है, न नई कविता के प्रसंग में; फिर भी कविता के रूप सम्बन्धी जितने प्रयोग अकेले नागार्जुन ने किए हैं, उतने शायद ही किसी ने किए हों। कविता की उठान तो कोई नागार्जुन से सीखे और नाटकीयता में तो वे जैसे लाजवाब ही हैं। जैसी सिद्धि छंदों में, वैसा ही अधिकार बेछंद या मुक्तछंद की कविता पर। उनके बात करने के हजार ढंग हैं। और भाषा में भी बोली के ठेठ शब्दों से लेकर संस्कृत की संस्कार पदावली तक इतने स्तर है कि कोई भी अभिभूत हो सकता है।''[39]

नागार्जुन के प्रयास और प्रयोग की सराहना करते हुए रामविलास शर्मा ने बिल्कुल उचित निष्कर्ष निकाला है, "हिन्दी–भाषी प्रदेश के किसान और मजदूर जिस तरह की भाषा आसानी से समझते और बोलते हैं, उसका निखरा हुआ काव्यमय रूप नागार्जुन के यहाँ है।"[40]

नागार्जुन की काव्य–भाषा को वर्गीकृत करते हुए मैनेजर पाण्डेय ने लिखा है, "नागार्जुन की कविता में काव्य–भाषा के भी अनेक रूप हैं। एक रूप वह है जो 'कालिदास सच–सच बतलाना' में दिखाई पड़ता है तो दूसरा रूप सामाजिक ज़िंदगी की समस्याओं से जुड़ी हुई कविताओं में दीख पड़ता है, जैसे– 'मन करता है', 'प्रेत का बयान' या 'अकाल और उसके बाद।'

"उनकी काव्य–भाषा का तीसरा रूप राजनीतिक व्यंग्य की कविताओं में है और चौथा रूप आंदोलनधर्मी कविताओं में। यहाँ कविता की भाषा अखबार की तरह तात्कालिकता को छूती नज़र आती है। उनकी काव्य–भाषा का एक और रूप उनके गीतों में है जहाँ वे विद्यापति के गीतों की स्मृति जगाते हैं।"[41]

प्रगतिशील काव्य–भाषा किसी एक कवि की देन नहीं है और न ही इसका कोई एक सीमित रूप ही है। एक ही कवि के भीतर एक से अधिक शैलियाँ मौजूद हैं। यह तथ्य प्रगतिशील काव्य–भाषा की समृद्धि का प्रमाण है। इसके साथ–साथ यह भी कहना पड़ेगा कि प्रगतिशील काव्य–भाषा समग्रता में गाँव, सर्वहारा और वैचारिक प्रतिबद्धता से जुड़ाव को व्यक्त करती है। अतः शैलीगत विविधता के साथ सोद्देश्य भाषा की एकता यहाँ एक साथ मौजूद है।

काव्य–भाषा की दृष्टि से शमशेर बहादुर सिंह का अलग स्थान है। कलावादी कलेवर के बावजूद वे प्रगतिशील हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रगतिशील काव्यभाषा का कलात्मकता से विरोध नहीं है। सूक्ष्म और सघन कलात्मक आग्रह के साथ वैचारिक प्रतिबद्धता शमशेर की पहचान है। 'काल, तुझसे होड़ है मेरी' शीर्षक कविता में वे लिखते हैं–

"जो मैं हूँ– / मैं कि जिसमें सब कुछ है .....
क्रांतियाँ, कम्यून / कम्यूनिस्ट समाज के
नाना कला विज्ञान और दर्शन के
जीवंत वैभव से समन्वित / व्यक्ति में।"[42]

प्रगतिशील काव्य–भाषा का यह रूप कुछ खास है। 'कला विज्ञान और दर्शन' के साथ 'कम्यूनिस्ट' को जोड़कर 'जीवंत वैभव' के निर्माण की काव्य–भाषा शमशेर की देन है। वे प्रायः आसान शब्दों का प्रयोग करते हैं, पर उनकी कविता का अर्थ उतना ही

आसान नहीं होता– यह भी एक खास काव्य–भाषा के द्वारा ही संभव है। शमशेर के भाषा–प्रयोगों की विशिष्टताओं को नामवर सिंह ने अत्यन्त बारीक आलोचना–भाषा में व्यक्त किया है। यूँ कहें कि आलोचना की सामान्य भाषा में शायद यह संभव नहीं था। यहाँ आलोचना स्वयं रचना–सी मालूम पड़ने लगती है। नामवर सिंह लिखते हैं कि शमशेर की कविता में एक 'गूँज' है, "यह आवाज़ शमशेर की है। बाहर से भी साफ सुनी जा सकती है। इसलिए नहीं कि ऊँची है। इसलिए कि गूँजती है– मद्धिम होने के बावजूद। कभी–कभी एकदम खामोश भी। यह किसी पुजारी की प्रार्थना नहीं। कवि का एकालाप है। शमशेर की प्रायः सभी कविताएँ एकालाप हैं– आंतरिक एकालाप। ... एकालाप में संलाप और संलाप में एकालाप।"[43]

'गूँज', 'मद्धिम', 'खामोश', 'एकालाप', 'संलाप' आदि ऐसी विशेषताएँ हैं कि जो किसी दूसरे कवि की काव्य–भाषा में शायद मौजूद न हों। नामवर सिंह शमशेर में 'नए ढंग का लिरिक' तलाशते हैं, "यह कोई चिर–परिचित गीत नहीं। गद्य है। बोलचाल की लय का गद्य। रुक–रुककर आगे बढ़ता हुआ। विलंबित। विपर्यस्त। फिर भी कविता। 'टूटी हुई बिखरी हुई' नहीं, जैसा कि कुछ लोग समझ बैठे हैं। अत्यधिक सुगठित। हर तरह के झोल को हटाकर, फालतू शब्दों को निकालकर जतन से रचा हुआ। साबित करते हुए कि कविता को गद्य की तरह ही सुलिखित होना चाहिए। एकदम ठोस। लेकिन ठस नहीं।"[44] नामवर सिंह शमशेर की कला को 'कालजयी' बताते हैं। ध्यातव्य है कि प्रगतिशील कविता पर केवल तात्कालिक होने के आरोप लगते रहे हैं, "शमशेर के लिए मृत्यु स्वयं काल है जिससे कतराकर निकल जाना गवारा नहीं है कवि को। इसीलिए 'काल, तुझसे होड़ है मेरी : अपराजित तू– तुझमें अपराजित मैं वास करूँ।' यह होड़ है कला की काल से। इस होड़–मुठभेड़ से ही शमशेर ने कालजयी कला उपलब्ध की है। कला कालजयी, कालातीत नहीं।"[45]

प्रगतिशील कवियों के बीच शमशेर एक ऐसे कवि हैं जिन्होंने काव्य–भाषा को कलात्मक ऊँचाई देने में सफलता पाई है। कलावादियों के तमाम दावों की बराबरी करने की क्षमता शमशेर की प्रगतिशील कलात्मकता में मौजूद है। भाषा–छंद के बारे में उनकी राय जनोन्मुख है। हिन्दू–उर्दू की मिश्रित परंपरा को वे बढ़ावा देना चाहते हैं। 'बाढ़ 1948' शीर्षक कविता में वे लिखते हैं–

"मैं उर्दू और हिन्दी का दोआब हूँ।/मैं वह आईना हूँ, जिसमें आप हैं।
मैं एक नज़्म हूँ/– एक दोहा हूँ"[46]

कलात्मकता को प्रगतिशील काव्य–भाषा का अहम हिस्सा बनाने का श्रेय शमशेर को है। यदि शमशेर को छोड़ दें तो प्रगतिशील काव्य–भाषा का कलावादी पक्ष सूना हो जाए। चित्रकला, मूर्तिकला, संगीतकला आदि से काव्य–भाषा को जोड़ने का मुश्किल काम शमशेर की ख़ासियत है, ''कलाकृतियाँ भी शमशेर की संवेदनशील ऐंद्रिय चेतना को उसी प्रकार उद्‌बुद्ध करती हैं जैसे सुडौल नारी–शरीर और संध्या या उषा की लाली। वान गॉग और पिकासो के चित्र देखकर, बाख़ का संगीत सुनकर जो कविताएँ उन्होंने लिखी हैं उनसे हिन्दी–कविता में एक नई वृत्ति की शुरुआत हुई। बाद में इस तरह की कविताएँ औरों ने भी लिखीं, लेकिन अनुकरण अंततः अनुकरण ही है। चीनी भाषा की चित्रलिपि और ग्रीक वर्णों के रूपाकार का आकर्षण भी इसी सौन्दर्य–वृत्ति की काव्यात्मक अभिव्यक्ति है। भाषा का रूपाकार भी शमशेर के लिए एक आश्चर्यलोक रहा है। यह कोरी प्रयोगशीलता नहीं, बल्कि कवि की कलानुभूति का अतिरिक्त आयाम है। कभी–कभी ऐसा लगता है कि नारी–शरीर भी शमशेर के लिए जैसे एक कलाकृति है–– अपने रूपाकार-मात्र के लिए आकर्षक। कविता में कला का ऐसा संयोजन और यह वैभव कालिदास के बाद शमशेर के ही काव्य में संभव हो पाया है। शब्द रंग भी हैं, रेखा भी और सुर भी–शब्द में निहित इन संभावनाओं की तलाश जैसी शमशेर में है, अन्यत्र विरल है।''[47]

शमशेर प्रगतिशील आंदोलन से प्रेरित–प्रभावित तो हैं किन्तु भाषा की दृष्टि से इस काव्यांदोलन में अतिरिक्त जोड़ते हैं। कलात्मक प्रयोगों को प्रगतिशील रूप प्रदान करना उनकी सफलता है। प्रगतिशील काव्य–भाषा दूसरी काव्य–भाषाओं से कैसे अलग थी, इसे शिवकुमार मिश्र के इन शब्दों में देखा जा सकता है, ''उन्होंने न तो कोमल और मधुर, श्रुति–सुखद शब्दों का भण्डार ही अपनी कविता में जुटाया है और न छायावादी पन्त की रलमल, टलमल– जैसी शब्दावली, न तो उनकी भाषा में महादेवी– जैसी अपूर्व सांकेतिकता तथा लाक्षणिकता है और न गिरिजाकुमार– जैसा छुवन–कसकन वाला इन्द्रियबोध। अज्ञेय की भाँति न तो उनकी भाषा प्रतीक–बोझिल, वाक्य–दूरान्वय–दोष से युक्त तथा शब्दावली नितान्त निजी है और न ही नयी कवितावादियों के परिवृत्ति, परिप्रेक्ष्य वाले अंशो से उसका कोई लगाव है। वस्तुतः जिस भाषा का प्रयोग परम्परा से होता आ रहा है (व्यावहारिक जन–जीवन में), उसी के सरल, सीधे, अर्थगर्भ–शब्दों को लेकर उन्होंने अपनी भाषा का निर्माण किया है।''[48]

प्रगतिशील आंदोलन के प्रतिनिधि कवियों की अपनी–अपनी भाषागत पहचान है। काव्य–भाषा के इतने सारे आयाम एक ही काव्यांदोलन में कम दिखाई पड़ते हैं। यह बात

तब और महत्त्वपूर्ण हो जाती है जब प्रगतिशील कविता को कला की दृष्टि से कमज़ोर बताया जाता है। भाषा और अंतर्वस्तु का इतना सघन एकाकार रूप यहाँ मौजूद है कि कला–पक्ष को अलग–से महसूस कर पाना कठिन हो जाता है। रामविलास शर्मा ने केदारनाथ अग्रवाल के बारे में लिखा है, "उनका मन जागता है, तन जागता है, अन्तर्मन जागता है। जीवंत इकाई जो उनका व्यक्तित्व है, उसकी समग्रता और एकाग्रता से कविता देखते हैं केदार। वह रचते बहुत कम हैं, देखते ज़्यादा हैं।

"कहाँ भाव ख़त्म हुआ, बिंब शुरू हुआ, कहाँ बिंब खत्म हुआ, विचार शुरू हुआ, कहाँ भाव–विचार की सीमा लाँध कर अनिर्वचनीय संकेत शुरू हुए, केदार की कविताओं में आप रचना–तत्त्वों का विश्लेषण नहीं कर सकते। जो है वह एक है– कविता।"[49]

उपर्युक्त स्थापनाओं के प्रमाण के तौर पर केदारनाथ अग्रवाल की प्रसिद्ध कविता 'बसंती हवा' के कुछ अंश को रखा जा सकता है–

"चढ़ी पेड़ महुआ/थपाथप मचाया/गिरी धम्म से फिर
चढ़ी आम ऊपर/उसे भी झकोरा/किया कान में कू!
इसी हार को पा/हिलायी न सरसों/झुलाय
उतर कर भगी मैं/हरे खेत पहुँची–/वहाँ गेहुओं में
लहर खूब मारी/पहर दो–पहर क्या/अनेकों पहर तक
इसी में रही मैं !/खड़ी देख अलसी/लिये शीश कलसी
मुझे खूब सूझी ! ––/हिलाया–झुलाया/गिरी पर न कलसी न सरसों !"

बिंब, भाव, विचार की अपेक्षा इन पंक्तियों का व्यक्तित्व एक कविता के रूप में सामने आता है। 'अन्तर्मन' से जुड़ी यह कविता अंतर्वस्तु और भाषा की एकता का सुंदर नमूना है।

'माँझी न बजाओ वंशी मेरा मन डोलता' केदारनाथ अग्रवाल का बहुप्रशंसित गीत है। नामवर सिंह इसे 'नई तर्ज में लिखा हुआ' 'सीधा–सादा–सा गीत' बताते हैं जिसमें 'चुने हुए थोड़े से शब्दों में मार्मिक प्रभाव' छोड़ने की क्षमता है। लोकगीतों और लोकधुनों को पुनर्जीवन प्राप्त करने का उत्सव प्रगतिशील गीतों में मनाया गया है–

"माँझी न बजाओ वंशी मेरा मन डोलता/मेरा मन डोलता है जैसे जल डोलता
जल का जहाज जैसे हल हल डोलता/माँझी न बजाओ वंशी मेरा प्रन टूटता
मेर प्रन टूटता है जैसे तृन टूटता/तृन का निवास जैसे बन बन टूटता

माँझी न बनाओ वंशी मेरा तन झूमता/मेरा तन झूमता है तेरा तन झूमता
मेरा तन तेरा तन एक बन झूमता।''

'फूल नहीं रंग बोलते हैं' काव्य–संग्रह की भूमिका में केदारनाथ अग्रवाल ने लिखा है, ''कविताई न मैंने पाई न चुराई, इसे मैंने जीवन जोतकर किसान की तरह बोया और काटा है। यह मेरी अपनी है और मुझे प्राण से अधिक प्यारी है।'' काव्य–भाषा में सहज मौलिक प्रयोग केदार की पहचान बन गए। 'दो जीवन' शीर्षक कविता में 'कली' और 'बबूल' क्रमशः धनी और निर्धन जीवन को व्यक्त कर रहे हैं। इन पंक्तियों में भाषा का प्रभाव कितना सहज और मार्मिक है–

कली निगाह में पली/हिली डुली कपोल में/हृदय प्रदेश में खुली
तुली हँसी की तोल में।/गरम–गरम हवा चली/अशान्त रेत से भरी,
हरेक पाँखुरी जली/कली न जी सकी, मरी।/बबूल आप ही पला,
हवा से वह न डर सका,/कठोर ज़िन्दगी चला,/न जल सका, न मर सका।''[50]

केदारनाथ अग्रवाल कृषि, प्रकृति और राजनैतिक संघर्ष की मिली–जुली काव्य–भाषा देकर नयापन ला देते हैं–

''काली मिट्टी काले बादल का बेटा है,/टक्कर पर टक्कर देता, धक्के देता है
रोड़ो से वह बेहारे लोहा लेता है,/नंगे भूखे काले लोगों का नेता है।'
ऊँचा गेहूँ डटा खड़ा है,/ताकत से मुट्ठी बाँधे है,/नोकीले भाले ताने है।''[51]

खेत में लहराती फसलों के बीच ग्रामीण शैली की वैवाहिक तैयारी को आरोपित करके कवि ने मानवीकरण की नयी काव्य–भाषा रच दी है–

''एक बीते के बराबर यह हरा ठिंगना चना
बाँधे मुरेठा शीश पर छोटे गुलाबी फूल का
सजकर खड़ा है
और सरसों की न पूछो, हो गयी सबसे सयानी,
हाथ पीले कर लिये हैं, ब्याह–मण्डप में पधारी।
देखता हूँ मैं स्वयंवर हो रहा है।''

मुक्तिबोध अनेक कारणों से अलग पहचान रखते हैं। प्रगतिशील काव्य–भाषा में उन्होंने जो कुछ जोड़ा है, उसकी पहचान स्पष्ट रूप से बन चुकी है। अशोक वाजपेयी ने लिखा है, ''मुक्तिबोध की कविताओं का स्थापत्य स्थिर और सुपरिभाषित नहीं है। एक अर्थ

में उनकी कविता का कोई पूर्वज नहीं है। उन्हें उस समय हिन्दी में जो मॉडेल सुलभ थे, उनसे उनका काम नहीं चल सकता था। इसलिए उन्होंने कष्टपूर्वक एक बिल्कुल नया स्थापत्य अपने लिए गढ़ा। उनकी कविताएँ सोचती–विचारती कविताएँ हैं। अक्सर विचारवान कवि भी अपनी कविता में नहीं, उससे बाहर सोचता है। यों मुक्तिबोध एक प्रखर बुद्धिजीवी थे। लेकिन महत्त्वपूर्ण यह है कि उन्होंने अपनी दार्शनिक चिंताओं को सृजन की चिंताओं में अंतर्गुम्फित किया। उनकी कविताओं का खुरदरा शिल्प इसका गवाह है। उनकी कविता प्रायः प्रक्रिया भी है और उसका प्रतिफल भी। कई बार ऐसा लग सकता है कि मुक्तिबोध कविता से बहुत सारे काम एक साथ लेना चाहते थे। उनकी कविता में अक्सर कथ्यात्मकता भी है। बल्कि जिस तरह का सामाजिक दस्तावेज और नैतिक अन्वेषण मुक्तिबोध कविता को बनाना चाहते थे उसके लिए उनकी कल्पना का औपन्यासिक या महाकाव्यात्मक होना अनिवार्य ही था।''[52]

मुक्तिबोध की काव्य–भाषा प्रायः जटिल रही, किन्तु महसूस कराने में समर्थ रही कि कवि के द्वारा उठाया गया विषय और विषय के विश्लेषण की प्रकृति महत्त्वपूर्ण, आवश्यक एवं नयी है। 'ब्रह्मराक्षस' की ये पंक्तियाँ मानो कवि की काव्य–भाषा पर ही टिप्पणी है–

''समझ में आ न सकता हो/कि जैसे बात का आधार/लेकिन बात गहरी हो।''[53]

मुक्तिबोध अपने समय को पहचानने में सतर्क हैं। नयी काव्य–भाषा आंदोलन से जन्म ले रही है–

''मानो या मत मानो/इस नाजुक घड़ी में
चंद्र है, सविता है/पोस्टर ही कविता है !!''[54]

प्रगतिशील कवि समर्थ है, उसमें प्रतिबद्धता है, इसलिए ज़िंदगी के सौ–सौ चित्र वह ज़रूर बना लेगा–

''पैरों की नखों से या डंडे की नोंक से/धरती की धूल में भी रेखाएँ खींचकर
तस्वीरें बनती हैं,/बशर्ते कि ज़िंदगी के चित्र सौ
बनाने का चाव हो,/श्रद्धा हो, भाव हो।''[55]

मुक्तिबोध का आग्रह है कि प्रगतिशील कवि भ्रमित होकर ग़लत विषय का चुनाव न करे। 'साहित्य का उद्देश्य' उसके सामने तभी स्पष्ट होगा जब चुनाव की दृष्टि साफ

हो। कविता के पुराने विषय जीवन से हट चुके हैं अथवा उनका स्वरूप इतना बदल चुका है कि विषय और भाषा का प्रासंगिक तालमेल नहीं बन पा रहा है। इसलिए कवि का आग्रह है कि दृष्टिपरक सोद्देश्य रचनाशीलता को अपनाने की ज़रूरत है–

"जीवन के आज के/लेखक की कठिनाई यह नहीं कि
कमी है विषयों की/वरन् यह कि आधिक्य उनका ही
उसको सताता है,/और, वह ठीक चुनाव कर नहीं पाता है"[56]

मुक्तिबोध परंपरागत काव्य–भाषा में अपनी बात कहते हुए असमर्थता महसूस करते हैं। खुलकर कहने की इच्छा पुरानी भाषा में पूरी नहीं हो पा रही –

"मैं बहुत दिनों से बहुत–बहुत–सी बातें/तुमसे चाह रहा था कहना !
जैसे मैदानों को आसमान,/कुहरे की, मेघों की भाषा त्याग
बिचारा आसमान कुछ/रूप बदलकर रंग बदलकर कहे।"[57]

प्रगतिशील आंदोलन ने कवि को ज़िंदगी से इस रूप में जोड़ दिया है कि उसकी कल्पना–शक्ति भी ज़िंदगी को विस्तार से समझने में सहायक हो गयी है न कि कोरी उड़ान भरने की प्रेरणा देती है–

"ज़िंदगी के दलदल–कीचड़ में धँसकर/वक्ष तक पानी में फँसकर
मैं वह कमल तोड़ लाया हूँ ––/भीतर से, इसीलिए गीला हूँ
पंक से आवृत,/स्वयं में घनीभूत....."[58]

'स्वयं में घनीभूत' और 'पंक से आवृत' होना आंदोलन धर्मी कवि की प्रकृति और परिस्थिति है। उसकी काव्यभाषा पर इनका प्रभाव देखा जा सकता है–

"ज़िंदगी की कोख में जनमा/नया इस्पात/दिल के खून में रँगकर"।[59]

इसी कविता में 'गाय' के लिए 'कपिलाएँ', 'गो–यूथ' जैसे सांस्कृतिक संदर्भ वाले शब्दों का प्रयोग नए संदर्भ में किया गया है।

अँग्रेजी के बहुप्रयुक्त शब्द, संस्कृत के शब्द एवं बोलचाल की हिन्दी को एक साथ मिलाने का कौशल भी यहाँ देखने लायक है–

"रेफ्रीजरेटरों, विटैमिनों, रेडियोग्रैमों के बाहर की/गतियों की दुनिया में
मेरी वह भूखी बच्ची मुनिया है शून्यों में/पेटों की आँतों में न्यूनों की पीड़ा है
छाती के कोषों में रहितों की व्रीड़ा है"।[60]

मुक्तिबोध ने चाँद के मुँह को टेढ़ा बताया। परंपरागत प्रतीक–बोध को आधुनिक संदर्भ में अप्रासंगिक बताने के क्रम में काव्य–भाषा की नवीनता ध्यान आकर्षित करती है। 'चाँदनी' इतनी बुरी हालत में हिन्दी कविता में चित्रित होने के लिए अभ्यस्त नहीं थी–

"चाँदनी / सड़कों के पिछवाड़े टूटे–फूटे दृश्यों में
स्पृश्यों–अस्पृश्यों में / गंदगी के काले–से नाले के झाग पर
बदमस्त कल्पना–सी फैली थी रात–भर
सेक्स के कष्टों के कवियों के काम–सी।"[61]

अब जिंदगी का असली मतलब दिन में समझ में नहीं आता। रात की ज़िंदगी में कवि का संकेत बहुत साफ है। 'किंग्सवे में मशहूर ज़िंदगी रात की' है जहाँ 'चाँदनी दिल की'–

"खूबसूरत अमरीकी मैगजीन पृष्ठों–सी / खुली थी,
अधनंगी तनिमा के ओष्ठों–सी / खुली थी," ।[62]

इसके आगे चाँदनी की जो तस्वीर खींची गयी है, वह सौन्दर्य से परे है। चाँदनी सुंदरता का प्रतीक मानी जाती रही है। मुक्तिबोध ने मनुष्य की निजी ज़िंदगी की बेमानी हालत को मानो चाँदनी के नए रूप में प्रस्तुत किया है–

"सफेद अंडर वेअर–सी, ब्रेसिए–सी, / आधुनिक प्रतीकों में पली थी
नंगी–सी नारियों के उघरे हुए अंगों के / विभिन्न पोजों में लेटी थी चाँदनी।"[63]

काव्य–भाषा के इन रूपों को हम तब तक की हिन्दी कविता में भले न देखते हों, किन्तु इनका सम्बन्ध हमारे व्यावहारिक जीवन–जगत् से है। हिन्दी कविता को प्रासंगिक एवं सार्थक बनाने के लिए यह काव्य–भाषा आवश्यक थी–

"उनका संसार हमारा जाना–पहचाना रोजमर्रा का संसार है, जिसमें मनुष्यता का गहरा संघर्ष अनेक स्तरों पर बराबर चलता है। यह वही संसार है जिसकी प्राणवत्ता, संघर्षशीलता और परिवर्तन की इच्छा पर आज सबसे अधिक हमले हो रहे हैं। मुक्तिबोध इस अक्सर खुरदरे और रसहीन लगते संसार की बहुलता और विविधता के, मनुष्य की अपराजेयता के पक्षधर एक जुझारू कवि हैं।"[64] अशोक वाजपेयी के ये विचार मुक्तिबोध की काव्य–भाषा के लिए भी सही हैं। 'खुरदरे और रसहीन लगते संसार' के चित्रण के लिए ऐसी ही भाषा की भी जरूरत होती है।

प्रगतिशील कवियों की काव्य–भाषा बहुवर्णी रही। जिन कवियों की काव्य–भाषा का विश्लेषण यहाँ किया गया है उन सबको मिलाने पर हम पाते हैं कि काव्य–भाषा की लंबी शृंखला यहाँ मौजूद है। संस्कृत, अंग्रेजी, उर्दू और क्षेत्रीय भाषाओं के जिन प्रभावों को हिन्दी जनता ने स्वीकार कर लिया है, उनसे यह काव्य–भाषा समृद्ध होकर नयापन का बोध कराती है। काव्य–भाषा में इतने प्रयोग तब तक की हिन्दी कविता में इतनी गतिशीलता के साथ दिखायी नहीं पड़ते हैं। वैविध्यपूर्ण काव्यभाषा होने के बावजूद वैचारिक धरातल की समानता के कारण प्रगतिशील कवियों की काव्यभाषा में एकसूत्रता भी है। यह प्रवृत्ति इन कवियों को विशिष्ट पहचान देती है तथा एक आंदोलन से जुड़े होने की एकता को रेखांकित करते हुए एकरूपता और पिष्टपेषण के दोष से बचाती है।

आधुनिक हिन्दी काव्य–भाषा और प्रगतिशील काव्य का स्थायी सम्बन्ध है। द्विवेदीयुगीन और छायावादी काव्य–भाषा के प्रभाव से मुक्त होने का संघर्ष करते हुए भावी काव्य–भाषा की निर्मिति में प्रबल पृष्ठभूमि बनने का दम–खम प्रगतिशील काव्य–भाषा में मौजूद है। आधुनिक हिन्दी काव्य–भाषा में प्रयोगों की व्यापक शुरुआत यहीं से हुई, राजनीति और साहित्य का क्रांतिकारी सम्बन्ध इसी भाषा में विकसित हुआ, सामाजिक यथार्थवाद को कविता में व्यक्त करने वाली भाषा यहीं जन्म लेती है। विचारधारा से जुड़कर कविता कैसे समृद्ध होती है, इसके प्रमाण इसी काव्य–भाषा में मिलते हैं। गाँव की ज़िंदगी की रोमानियत और सच्चाई का सम्पूर्ण चित्र इसी काव्य में भाषिक रूप ग्रहण करता है। गरीबी, अभाव, शोषण, अन्याय आदि की 'कविता कामिनी' नहीं हो सकती, इसलिए कविता को 'कामिनी' से अलग नए रूपों में देखने का पहला व्यापक अवसर इस काव्य–भाषा में उपलब्ध हो सका।

भविष्य की काव्य–भाषा इस पृष्ठभूमि से अछूती नहीं रह सकी। प्रयोगवाद के अनेक प्रयोग प्रगतिवादी कवियों की साझी देन हैं। वैचारिक टकराव को छोड़ दें तो भाषायी प्रयोगों के क्षेत्र में नागार्जुन, मुक्तिबोध, शमशेर, केदारनाथ अग्रवाल की देन प्रयोगवादी खेमे के कवियों से ज़्यादा महत्त्वपूर्ण, टिकाऊ और भावी काव्य–भाषा की निर्मिति में सहायक है।

सन्दर्भ :

1. भारतेन्दु समग्र–संपादक–हेमन्त शर्मा, प्रचारक ग्रंथावली परियोजना, हिन्दी प्रचारक संस्थान वाराणसी, तृतीय संस्करण, जनवरी 1989.
2. हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास पृ. 344 खंड–9 सं. सुधाकर पांडेय, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, सं. 2034 वि.
3. अंग्रेजी काव्य–पुस्तक.
4. हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास पृ. 344 खंड–9 सं. सुधाकर पांडेय, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, सं. 2034 वि.
5. छायावाद–नामवर सिंह पृ. 109, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली, प्रथम पेपर बैक संस्करण पृ. 1993.
6. हिन्दी साहित्य का इतिहास–आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ. 367, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, तेईसवाँ संस्करण संवत् 2047 विक्रम.
7. छायावद–नामवर सिंह, पृ. 112.
8. छायावाद–नामवर सिंह, पृ. 113.
9. पल्लव–सुमित्रानंदन पंत, पृ. 13.
10. पल्लव–पंत, पृ. 30-31.
11. पल्लव–पंत, पृ. 30
12. निराला रचनावली खंड–5, सं. नंदकिशोर नवल, पृ. 195. (प्रबंध–पद्म)
13. निराला रचनावली–5, पृ. 196.
14. निराला रचनावली– 5, पृ. 202.
15. निराला रचनावली– 5, पृ. 209.
16. निराला रचनावली– 5, पृ. 217.
17. निराला रचनावली– 1, पृ. 77.
18. रस्साकशी–वीर भारत तलवार, पृ. 126.
19. आलोचना, अप्रैल–जून 1974, पृ. 06, सं. नामवर सिंह, दिल्ली
20. आलोचना– अप्रैल–जून 1974- सं. नामवर सिंह, नयी दिल्ली, पृ. 22.
21. वही, पृ. 22.
22. वही, पृ. 23.
23. मेरे समय के शब्द– केदारनाथ सिंह पृ. 56-57. राधाकृष्ण प्रकाशन, 1993, नई दिल्ली
24. वही, पृ. 57.
25. वही, पृ. 57.
26. वही, पृ. 58.
27. नयी कविता, अंक 5-6, संयुक्तांक, पृ. 12.
28. त्रिलोचन : प्रतिनिधि कविताएँ, सं. केदारनाथ सिंह, पृ. 16.
29. वही।
30. वही।
31. वही, पृ. 114.
32. वही, पृ. 115.

33. 'स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य' पृ. 77.
34. त्रिलोचन : प्रतिनिधि कविताएँ– संपादक– केदारनाथ सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1996, पृ. 7-8.
35. तारसप्तक, पृ. 86.
36. तारसप्तक – सं. अज्ञेय, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1995, पृ. 85.
37. वही, पृ. 99-100.
38. नागार्जुन : प्रतिनिधि कविताएँ, सं. नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1996,पृ.138.
39. नागार्जुन : प्रतिनिधि कविताएँ, सं. नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1996,पृ.9.
40. नयी कविता और अस्तित्ववाद– रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1993, पृ. 153.
41. कल के लिए, अक्टूबर–दिसम्बर, 1995, पृ. 27.
42. शमशेर बहादुर सिंह : प्रतिनिधि कविताएँ, सं. नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1994, पृ.172.
43. वही, पृ. 5.
44. वही, पृ. 5.
45. वही, पृ. 6.
46. वही, पृ. 80.
47. वही, पृ. 7.
48. प्रगतिवाद, शिवकुमार मिश्र, पृ. 63.
49. भाषा, युगबोध और कविता– रामविलास शर्मा, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1981, पृ. 239.
50. युग की गंगा, पृ. 34.
51. युग की गंगा, पृ. 31.
52. प्रतिनिधि कविताएँ : गजानन माधव मुक्तिबोध, संपादक– अशोक वाजपेयी, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1993, पृ. 06.
53. वही, पृ. 119.
54. वही, पृ. 109, 'चांद का मुँह टेढ़ा है'।
55. वही, पृ. 108.
56. वही, पृ. 79, 'मुझे क़दम–क़दम पर'।
57. वही, पृ. 20, 'बहुत दिनों से'।
58. वही, पृ. 83, 'एक अरूप शून्य के प्रति'।
59. वही, पृ. 85, 'मेरे लोग'।
60. वही, पृ. 85, 'मैं तुमलोगों से दूर हूँ'।
61. वही, पृ. 102.
62. वही, पृ. 102, 'चाँद का मुँह टेढ़ा है'।
63. वही, पृ. 103, 'चाँद का मुँह टेढ़ा है'।
64. वही, पृ. 06.

***

तृतीय अध्याय

नागार्जुन का बहुभाषी कविकर्म और काव्य-भाषा

(क) बहुभाषी कविकर्म का स्वरूप और महत्त्व

(ख) जनपदीय और जातीय भाषा में कविकर्म की संगति

नागार्जुन का बहुभाषी कविकर्म और काव्य-भाषा

नागार्जुन ने हिन्दी, मैथिली, बँगला और संस्कृत में कविताएँ लिखीं। उनके बहुआयामी कविकर्म का प्रभाव उनकी काव्यभाषा पर पड़ा। प्रत्येक भाषा की अपनी प्रकृति के अनुसार नागार्जुन शब्द और छंद का चयन करते हैं। भाषा की सामासिकता भी भिन्न प्रकार की दिखाई पड़ती है।

हिन्दी भाषा के अलावा जिन तीन भाषाओं में नागार्जुन कविता रचते हैं, उन रचनाओं की संक्षिप्त जानकारी यहाँ रखी जा रही है। नागार्जुन रचनावली–3 (संपादक–शोभाकांत, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली) में नागार्जुन की हिंदीतर कविताएँ संकलित है। भूमिका में शोभाकांत ने बताया है कि मैथिली, बँगला और संस्कृत की कविताएँ नागार्जुन ने कब और कहाँ लिखीं। रचनावली के खण्ड–3 में इन रचनाओं की संख्या इस प्रकार है–

संस्कृत कविता– 18 (पृ. संख्या 21–29 तक) मात्र 09 पृष्ठ

मैथिली कविता – चित्रा–28
पत्रहीन नग्नगाछ–52
असंकलित रचनाएँ–75 } कुल– 155 कविताएँ

बँगला कविता– 50 (संग्रह– 'मैं मिलिट्री का बूढ़ा घोड़ा' 1997)

नागार्जुन की हिन्दी काव्य–भाषा पर इन भाषाओं का प्रभाव मौजूद है। नागार्जुन रचनावली–3 की भूमिका में शोभाकांत ने लिखा है, "एक बार नागार्जुन ने कहा था– "संस्कृत काव्यों की जो रचनाभूमि है, वह जब हमारे सामने आती है तो फिर हिन्दी–बंगला–मैथिलीवाला वो सब हम भूल जाते हैं। दिमाग से हटाना पड़ता है उसे।" हिन्दी और मैथिली का यह रचनाकार स्वीकारता है– "शब्दों को गढ़ने की ताकत मुझे संस्कृत से प्राप्त हुई है।"[1] (पृ. VI)

संस्कृत की ताकत से हिन्दी के शब्द गढ़ने का काम नागार्जुन करते हैं तो ज़ाहिर–सी बात है कि काव्य–भाषा के अंतरंग में भिन्न प्रभाव मौजूद रहेगा। शास्त्रीय भाषा की तकनीक से जातीय भाषा में रचित काव्य–भाषा की ताकत को बढ़ाने का काम

लिया जा रहा है। नागार्जुन का बहुभाषी कविकर्म एक भाषा को दूसरी–तीसरी और चौथी भाषा से जोड़ने तथा समृद्ध करने का प्रयास भी है। शिवकुमार मिश्र नागार्जुन के बहुभाषी कविकर्म को इस रूप में देखते हैं, "कविता की बात करें तो संस्कृत, मैथिली और हिन्दी– तीन भाषाओं की समृद्ध काव्य–परंपराओं की विरासत को आत्मसात किए हुए वे कविता की जमीन पर उतरे हैं। बँगला की सम्पन्न काव्य–परंपरा से भी वे समान रूप से जुड़े रहे हैं। हिन्दी के अलावा मैथिली, संस्कृत, बंगला सभी भाषाओं में वे समान अधिकार के साथ काव्य–रचना करते हैं, और इन भाषाओं की उनकी कविता मर्मज्ञों के द्वारा सराही भी गयी है। हिन्दी के अपने छंदों के अलावा संस्कृत के पिंगल–शास्त्र पर उनका गहरा अधिकार रहा है। ये वे भाषाएँ और उनकी यह वह काव्य–परंपरा है जिसके साथ नागार्जुन की रचनाशीलता का खून का रिश्ता माना जा सकता है।"[2]

नागार्जुन काव्य–भाषा का चयन औपचारिक रूप से नहीं करते। शब्दकोश की गंध उनकी हिन्दीतर काव्य–भाषा में नहीं मौजूद है। आत्मीयता और सहजता इन सबमें समान रूप से देखी जा सकती है। गिरिधर राठी ने लिखा है, "नागार्जुन किसी एक शैली, रीति, छंद या भंगिमा में आसक्त या आबद्ध नहीं हुए। उनके रचना संसार में न केवल हिन्दी से जुड़ी तमाम भाषाओं, उपभाषाओं और संस्कृत, बंगला आदि अनेक पुरानी और नयी भाषाओं का रस भी मिलता है। चार भाषाओं में जबर्दस्त ढंग की रचनाशीलता अपने–आप में एक बड़ी उपलब्धि है।"[3]

बहुभाषी कविकर्म करते हुए काव्य–व्यक्तित्व पर भिन्न प्रभाव की संभावना नागार्जुन के यहां दिखाई नहीं पड़ती है। मैथिली या हिन्दी में लिखते हुए उनकी विश्व–दृष्टि वही बनी रहती है। आंचलिकता और जातीयता की शर्त भाषा के साथ अनिवार्य रूप से नहीं जुड़ पाती। रामदरश मिश्र ने नागार्जुन के बारे में लिखा है, "ऐसा तो नहीं है कि मैथिली में लिखते हैं तो वह चीज़ बड़ी आंचलिक बन जाती है। हिन्दी में लिखते हैं तो वो अपने आप में बड़ी विशिष्ट बन जाती है। ऐसा नहीं है।"[4]

नागार्जुन चार भाषाओं को केवल इसलिए नहीं अपनाते कि उन्हें चार भाषाओं का कवि कहा जाए। जीवन की परिस्थितियों ने उन्हें इन चार भाषाओं से जोड़ा था। मैथिली भाषी समाज में जन्म, संस्कृत में शिक्षा–दीक्षा, बँगलाभाषी महानगर कलकत्ता में अनेक

बार का प्रवास उन्हें इन तीन भाषाओं से जोड़नेवाली परिस्थितियाँ हैं। काव्य–भाषा के प्रति उनकी जो दृष्टि हिन्दी में काम कर रही थी, वही दृष्टि इन तीन भाषाओं में रचते समय भी काम कर रही थी। 'लेनिन स्तोत्रम्' के एक श्लोक के माध्यम से उनकी काव्य–भाषा की स्पष्टता और सादगी देखा जा सकता है–

"प्रणालीयं सौवियती लोकलक्ष्मी समाहिता।
शुभंकरी मानवानां दानवानां भयंकरी।।"[5]

इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार है– यही सोवियत प्रणाली है, जिसमें जनता की खुशहाली निहित है, मानवों के लिए कल्याणकारी और दानवों के लिए भयंकर।

नागार्जुन संस्कृत में लिखते हुए भी अपनी स्थायी पहचान को बनाए रखते हैं– भाषा के स्तर पर भी। 'जनता की खुशहाली' की वामपंथी समझ को 'लोकलक्ष्मी' जैसे धार्मिक–सामाजिक शब्दावली में व्यक्त करने की सफलता वे हासिल करते हैं। शोषक वर्ग को 'दानवानां' कहकर संस्कृत के परंपरागत भावबोध में नया भाषा बोध जोड़ देते हैं। कमलेश दत्त त्रिपाठी लिखते हैं, "नागार्जुन की संस्कृत कविता संस्कृत काव्य की दूसरी धारा का सातत्य है– इसलिए उसकी याद आना स्वाभाविक है। उन्होंने अपने कवि–कर्म में प्रखर समकालीन चेतना के साथ समूची परंपरा को आत्मसात् किया है, किन्तु शूद्रक, धर्म–कीर्ति, योगेश्वर, क्षेमेन्द्र और अनेक अनाम कवियों की भाषा विशेष रूप से उनकी संस्कृत कविता में फिर से अपने सातत्य को उपलब्ध करती है, यह बात अन्यथा और अन्यत्र दुष्प्राप्य है।"[6]

नागार्जुन की बँगला कविताएँ देर से लिखी गयीं। शोभाकांत ने लिखा है, "मौलिक रूप से बँगला लिखना फरवरी 1978 ई. में शुरू किया और सितम्बर, 1979 ई. तक लगभग पचास कविताओं के लिखे जाने की जानकारी है। कुछ रचनाएँ बंगला की पत्र–पत्रिकाओं में भी छपीं। कुछ हिन्दी की लघु पत्रिकाओं में लिप्यन्तर और अनुवाद सहित प्रकाशित हुईं। नागार्जुन स्वयं भी अपनी बंगला कविता को खूब रुचिपूर्वक सुनाया करते थे।"[7]

परिपक्व कवि दूसरी भाषा में अपने भाव और भाषा–बोध को उतारते हुए अतिशय सावधान है। सहज, सामान्य और तात्कालिक पहचान वाली बंगला भाषा नागार्जुन रच डालते है। 'कपाल भेंगे छिलो' शीर्षक कविता की भाषा देखने योग्य है–

कपाल भेंगे छिलो

"गाँधिर कपाल भेंगे छिलो
आमार बाबार बाबा
"हरिजन देर संगे निए
बमभोलार मंदिर गर्भे
ढुकते याच्छिलो ओइ बूड़ो
कि ये आस्पर्द्धा तखन ओर....
"ओके बलतो ओरा
बापू एवं महात्मा गाँधी
आमार बाबार बाबा ओर कपाल भेंगे छिलो
लाठि मेरे ....."

कपाल फोड़ दिया

"गाँधी का कपाल फोड़ दिया था
मेरे बाप के बाप ने ....
"हरिजनों को साथ लिए
बमभोला के मंदिर के गर्भगृह में
घुसा जा रहा था वह बूढ़ा
कैसी ढिठाई पर उतर आया था वह
"लोग कहते हैं उसे बापू–महात्मा गाँधी
मेरे बाप के बाप ने
कपाल फोड़ दिया था उसका
लाठी मारकर ...."[8]

गाँधीजी ने दलितों के साथ मंदिर–प्रवेश किया तो 'मेरे बाबा के बाबा ने' उनका 'कपाल फोड़ दिया'। 1979 तक मंदिर–प्रवेश की घटना इतिहास का हिस्सा बन चुकी थी, परंतु दलित–विरोधी मानसिकता मौजूद थी। 'बाबा के बाबा ने' जो किया था उसका समर्थक अभी भी मौजूद है। कविता की भाषा बताती है कि 'बाबा' ने 'अच्छा' काम किया था– 'गाँधिर कपाल भेंगे छिलो'। 'ओइ बूड़ो' में इस युवक की जातिवादी मानसिकता और उसके जागरुक न होने का प्रमाण है। नागार्जुन सहज–सामान्य बँगला भाषा में सारगर्भित भावों को व्यक्त करने में हिन्दी की तरह ही सफल हैं।

नागार्जुन के बहुभाषी कवि कर्म के अनेक पहलू हैं। हिंन्दी जातीय भाषा, राष्ट्रभाषा और संपर्क भाषा है। मुख्य धारा का कविकर्म इसी भाषा से युक्त है। मैथिली नागार्जुन की प्रथम भाषा और मातृभाषा है। शिक्षा–दीक्षा संस्कृत पाठशाला में होने के कारण ज्ञान की भाषा के रूप में वे प्रथमतः संस्कृत से ही परिचित है। बंगला से उनका सम्पर्क तो पहले से रहा, कविकर्म देर से शुरू किया। शास्त्रीय भाषा, नवजागरण की भाषा, राष्ट्रभाषा, संपर्क भाषा– उनके बहुभाषी कविकर्म भाषा के इतने विविध रूपों से जुड़ते हैं। प्रगतिशील आंदोलन का अखिल भारतीय चरित्र की झाँकी नागार्जुन के बहुभाषी कविकर्म में देखी जा सकती है।

(क) बहुभाषी कविकर्म का स्वरूप और महत्त्व

बहुभाषी कविकर्म का अर्थ हुआ एक से अधिक भाषा में रचनाशील होना। यह रचनाशीलता कई प्रकार की हो सकती है। एक कवि समान अधिकार से दूसरी भाषा में भी रच सकता है तो यह भी हो सकता है कि दूसरी भाषा में रचते समय रचनाशीलता की गुणवत्ता प्रभावित हो जाए। तीन चा चार भाषा में रचने वाले कवि के बारे में यह ध्यान देना होगा कि इन भाषाओं के पारस्परिक सम्बन्ध कैसे हैं।

तुलसीदास की मातृभाषा अवधी है और उनके दौर की काव्य–भाषा ब्रज है। ब्रज उनके समय की माँग है। अवधी और ब्रज के बीच इतनी दूरी नहीं है कि सीखना मुश्किल हो। तुलसी के लिए ब्रज अर्जित भाषा है। दोनों भाषाओं में उनकी रचनाशीलता की गुणवत्ता सिद्ध है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है, "अवधी और ब्रज काव्यभाषा की दोनों शाखाओं पर उनका समान और पूर्ण अधिकार था। रामचरित मानस को उन्होंने अवधी में लिखा है जिसमें पूरबी और पछाँही (अवधी) दोनों का मेल है। कवितावली, विनयपत्रिका और गीतावली तीनों की भाषा ब्रज है। कवितावली तो ब्रज की चलती भाषा का सुंदर नमूना है। पार्वती मंगल, जानकी मंगल और रामलला नहछू ये तीनों पूरबी अवधी में हैं। भाषा पर ऐसा विस्तृत अधिकार और किस कवि का था? न सूर अवधी लिख सकते थे, न जायसी ब्रज।"[9]

तुलसीदास ने संस्कृत में भी कविताएँ लिखी थीं। उनकी अवधी और ब्रजभाषा की बनावट पर संस्कृत का गहरा प्रभाव है। इस तरह तुलसी का कवि कर्म बहुभाषी है। उनकी इन तीन काव्यभाषाओं के पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार करना आवश्यक है। शास्त्रीय भाषा संस्कृत की सहायता से वे अवधी तथा ब्रज को परिनिष्ठित एवं तत्सम प्रधान बनाते हैं। दूसरी तरफ, अवधी तथा ब्रज के अभ्यास से संस्कृत को प्रवाहमान रूप प्रदान कर रहे थे। संस्कृत, अवधी तथा ब्रज– शास्त्रीय भाषा, मातृभाषा तथा तत्कालीन काव्य–भाषा को तुलसी अपनाते हैं एवं बहुभाषी कवि कर्म का एक सफल उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

नागार्जुन शास्त्रीय भाषा संस्कृत, मातृभाषा मैथिली, अपने समय की काव्य–भाषा हिन्दी में कविता रचकर बहुभाषी कविकर्म की दृष्टि से तुलसी से समता प्राप्त करते हैं। वहीं, हिंदीतर प्रदेश की भाषा बँगला में काव्य रचकर तुलसी के बहुभाषी कविकर्म से एक

कदम आगे बढ़ जाते हैं। बहुभाषी कविकर्म की दृष्टि से हिन्दी के श्रेष्ठ कवियों में नागार्जुन का स्थान सबसे ऊँचा है।

बहुभाषी कवि कर्म के स्वरूप को निर्धारित करने के लिए यह जानना ज़रूरी है कि कवि की प्राथमिक काव्य–भाषा इनमें से कौन है। ज़रूरी नहीं है कि कवि की मातृभाषा उसकी प्राथमिक काव्य–भाषा हो। संभव है अध्ययन–अभ्यास के दौरान अन्य भाषा के काव्यानुशीलन का उसे अवसर प्राप्त हुआ हो और वहीं से उसने काव्य–रचना की शुरूआत की हो। प्राथमिक काव्यभाषा मातृभाषा है अथवा अर्जित भाषा इससे कवि के बहुभाषी कविकर्म पर फर्क पड़ता है। मातृभाषा से अर्जित भाषा में प्रवेश और अर्जित भाषा से मातृभाषा में प्रवेश की प्रक्रिया भिन्न है। यदि कवि का मातृभाषा और मातृभूमि से जीवंत रागात्मक सम्बन्ध रहा तो निश्चिय ही यही उसकी प्राथमिक काव्यभाषा होगी। दूसरी अर्जित काव्यभाषाओं पर इस प्राथमिक काव्यभाषा का प्रभाव जरूर बना रहेगा।

नागार्जुन की एक मैथिली कविता है– 'अंतिम प्रणाम'।[10] इस कविता की भाषा का प्रभाव नागार्जुन की हिन्दी कविता 'उनको प्रणाम!'[11] की भाषा पर देखा जा सकता है।

"हे मातृभूमि, अंतिम प्रणाम
दुखोदधिसँ संतरण हेतु
चिरविस्मृत वस्तुक स्मरण हेतु
सूतल सृष्टिक जागरण हेतु
हम छाड़ि रहल छी अपना गाम
माँ मिथिले, ई अंतिम प्रणाम"

"जो नहीं हो सके पूर्ण–काम
मैं उनको करता हूँ प्रणाम्।
जो छोटी–सी नैया लेकर
उतरे करने को उदधि–पार;
मन की मन में हो रही, स्वयं
हो गए उसी में निराकार!
– उनको प्रणाम"

दोनों काव्यांशों की भाषा की समानता को महसूस किया जा सकता है। मैथिली की कविता 1936 ई. की है और हिन्दी की कविता 1939 ई. की। मैथिली का प्रभाव हिंदी काव्य–भाषा पर स्पष्ट रूप से यहाँ दिखाई पड़ रहा है। 'प्रणाम' का उपयोग दोनों काव्यांशों में एक ही तरीके से किया गया है। दोनों में 16–16 मात्राओं का उपयोग किया गया है–

मैथिली– माँ मिथिले, ई अंतिम प्रणाम=16 मात्राएँ/11वर्ण/05 गुरु तथा 06 लघु मात्राएँ

S I I S S S II I S I

हिन्दी– मैं उनको करता हूँ प्रणाम=16 मात्राएँ/11 वर्ण/05गुरु तथा 06 लघु मात्राएँ

S ।। S ।। S S । S।

केवल गणों की समानता नहीं है। छंद, लय तथा शब्दों के लिहाज से मैथिली का प्रभाव यहाँ हिन्दी पर देखा जा सकता है।

कवि की प्राथमिक भाषा उसकी काव्य–भाषा के अंतिम स्वरूप तक प्रभाव बनाए रख सकती है। बहुभाषी कवि कर्म का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष होता है– कवि के द्वारा चुनी गई वह भाषा, जिसमें उसने सर्वाधिक रचा हो। नागार्जुन ने सबसे ज़्यादा हिंदी में लिखा है। ऐसी स्थिति में कवि इस काव्य–भाषा में ज़्यादा प्रयोग करता है। उसका अभ्यास भी इस काव्य–भाषा को माँजता है। एक स्थिति ऐसी आ जाती है जब कवि अपनी प्राथमिक भाषा/मातृभाषा से मुक्त होकर नए स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। यह भी संभव है कि सर्वाधिक अभ्यासवाली काव्यभाषा का प्रभाव उसकी प्राथमिक काव्य–भाषा पर दिखाई पड़ने लगे।

नागार्जुन की काव्य–भाषा में इसके उदाहरण भी मौजूद हैं जहाँ हिंदी काव्य–भाषा का प्रभाव मैथिली काव्य–भाषा पर पड़ा है। 'घिन तो नहीं आती है?'[12] हिन्दी कविता की भाषा का प्रभाव 'हजूर, हँऽ, हजूर!'[13] मैथिली कविता की भाषा पर देखा जा सकता है।

'घिन तो नहीं आती है?' (1961)

"दूध–सा धुला सादा लिबास है तुम्हारा
निकले हो शायद चौरंगी की हवा खाने
बैठना था पंखे के नीचे, अगले डब्बे में
ये तो बस इसी तरह
लगाएँगे ठहाके, सुरती फाँकेंगे
भरे मुँह बाते करेंगे अपने देस–कोस की
सच–सच बतलाओ
अखरती तो नहीं इनकी सोहबत?
जी तो नहीं कुढ़ता है?
घिन तो नहीं आती है?"

हजूर, हँऽ, हजूर! (1983)

"नाक परसँ सुगंधित रूमाल
हट बिअउ हजूर
कार परसँ उतरिकँ
दू–चारि डेग सड़क पर चलिअउ हजूर
आँखि परसँ धुपछाँही चश्मा कने
उतारि लिअउ हजूर
पिअरका ढाबुसक भाखा सुनिअउ कने हजूर
मडुआ रोटीक स्वाद त
सरकार कें अपूर्व लागत
बोनिहारक पाहुन होइअउ कने
हजूर, हँ, हजूर!"

हिन्दी की यह कविता 1961 की है और मैथिली की 1983 की। दोनों में एक ही भावबोध है, एक ही तरह की व्यंग्यात्मक भाषा है। भाषा की समानता का एक पक्ष यह भी होता है कि दोनों का प्रभाव एक जैसा पड़ रहा हो। 'दूध–सा धुला सादा लिबास' और 'नाक परसँ सुगंधित रूमाल' में भाषा का संदेश एक जैसा है। 'लगाएँगे ठहाके, सुरती फाँकेंगे' को बर्दाश्त करना जितना मुश्किल है उतना ही 'पिअरका ढाबुसक भाखा सुनिअउ कने हजूर' को सुन पाना। व्यंग्य की धार का पैनापन दोनों में कम नहीं है। इस तरह नागार्जुन की हिन्दी काव्य–भाषा का प्रभाव उनकी मैथिली काव्य–भाषा पर भी है।

बहुभाषी कवि प्रायः एक शास्त्रीय भाषा को अपनाता है। व्याकरण और शब्द–निर्माण की प्रक्रिया के सन्दर्भ में शास्त्रीय भाषा का मुकाबला प्रायः नहीं देखा जाता है। तुलसीदास और नागार्जुन के संदर्भ में हम पाते हैं कि दोनों ने संस्कृत में कविताएं लिखीं। दोनों ने संस्कृत में ही विधिवत् शिक्षा ली थी। भाषा के अनुशासन की सैद्धान्तिकी दोनों ने संस्कृत में ही पाई थी। शास्त्रीय भाषा कवि की दूसरी भाषा को भी अनुशासित रूप में प्रयोग करने की दिशा दिखाती है। नागार्जुन स्वीकार भी करते हैं– "शब्दों को गढ़ने की ताकत मुझे संस्कृत से प्राप्त हुई है।"[14]

नागार्जुन की काव्य–भाषा पर संस्कृत के प्रभाव की चर्चा करते हुए डॉ. शिव कुमार मिश्र लिखते हैं, "उनकी भाषा में संस्कृत की समस्त तत्सम प्रधान शब्दावली का अलग ही वैभव दिखाई पड़ता है। पंक्तियाँ की पंक्तियाँ उनकी कविताओं में जैसे संस्कृत काव्य की इस अभिजात परम्परा से उठकर आ गई हैं। ऐसा उन कविताओं में, यहाँ तक कि व्यंग्य–रचनाओं में भी है, जो एकदम समकालीन संदर्भों पर लिखी गई हैं। किंतु यह सब नागार्जुन में बड़े सहज रूप में, उनके भाषा–संस्कार का अंग बनकर आया है। यह कतई आयातित नहीं है। संस्कृत काव्यों का नागार्जुन ने अध्ययन भर नहीं किया, उन्हें जिया भी है। वे इस परम्परा को आत्मसात कर अपने काव्य–संस्कारों में घुला–पचा सके हैं– आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की तरह। उनकी सर्जना को इस परम्परा ने दीप्ति प्रदान की है, उसे निखारा है।"[15]

इसी लेख में डॉ. शिव कुमार मिश्र ने नागार्जुन के बहुभाषी कविकर्म और काव्य–भाषा की बहुआयामिता को सधे तरीके से रखा है, "मूलतः वह भावों की अनुवर्तिनी, विषयानुरूप साफ–सुथरी और बेहद संप्रेष्य भाषा है, तेवर उसके ज़रूर अलग–अलग हैं। इसका कारण नागार्जुन की सर्जना की बहुआयामिकता और बहुरूपता है। नागार्जुन जितने

सक्षम अभिजात भाषा के प्रयोग में हैं, जिसका मजबूत आधार है उनके पास, उतने ही सक्षम वे लोक जीवन में रची–बसी जन भाषा के प्रयोग में हैं, जिसका आधार भी उतना ही परिपुष्ट है, इस अंतर के साथ कि जहाँ नागार्जुन के अभिजात भाषा–संस्कारों का आधार सीमित और कालबद्ध है, उनकी जनधर्मी–लोकधर्मी भाषा का आधार सतत जीवंत, विकासशील फलतः अधिक ऊर्जावान है। उनके यायावरी जीवन और गहरी लोक–संपृक्ति के स्रोत हैं, जहाँ से निरंतर वे अभिव्यक्ति की नई–नई भंगिमाएं पाते और बटोरते रहे हैं। उनकी भाषा इसी नाते निहायत ताजी और टटकी उर्दू भाषा है, शास्त्र की जकड़न से अलग, लोक की जीवंतता और स्फूर्ति से परिपूर्ण, मुक्त और वेगवान, निहायत व्यंजक और पारदर्शी। उसमें बारीक–से–बारीक संवेदनों को अभिव्यक्त करने की क्षमता है।"[16]

नागार्जुन का बहुभाषी कविकर्म अलग–अलग ठोस आधार रखता है। चार भाषाओं में रचते हुए वे अपने मूल स्वभाव को सब जगह बनाए रखते हैं। सहज–सरल तरीके से अपनी बात कहने की योग्यता चारों भाषाओं की उनकी कविताओं में मौजूद है। जिक्र करने लायक एक सूची प्रस्तुत है–

# संस्कृत कविताओं का रचनाकाल–	1976–1995 ई. तक (प्रारम्भ में लिखित रचनाएँ अनुपलब्ध हैं और 'लेनिन स्तोत्रम' का रचनावर्ष ठीक–ठीक अप्राप्य है)
# मैथिली कविताओं का रचनाकाल–	1931–1997 ई. तक
# बँगला कविताओं का रचनाकाल–	1978–1979 ई. तक (केवल एक कविता 'बोकामिर एइ यज्ञ' 1992 में रचित)
# हिंदी कविताओं का रचनाकाल–	1936–1997 ई. तक

यह सूची बताती है कि नागार्जुन केवल मैथिली और हिंदी में जीवन भर रचते रहे। संस्कृत श्लोक–रचना की प्रवृत्ति उनमें विद्यार्थी जीवन से रही, किंतु मात्रा की दृष्टि से नागार्जुन का संस्कृत काव्य अत्यल्प ही कहा जाना चाहिए। बँगला कविता रचने का दौर उनका एक–दो वर्षों का ही रहा। यद्यपि वे संस्कृत और बँगला की कविताओं से शुरू से लेकर अंत तक जुड़े रहे। संस्कृत में तो उन्होंने शिक्षा–दीक्षा ही पायी थी। बँगला के प्रभाव को जानने के लिए शोभाकांत की इन पंक्तियों को देखा जा सकता है, "1934 ई. में गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर की दो पंक्तियों– 'पतन अभ्युदय–बंधुर पंथा, युग–युग

धावति यात्री तुम चिर सारथि, तव रथ चक्रे, मुखरित पथ दिन रात्री'– से अभिभूत होकर 'यात्री' शब्द के सर्वांशतः अर्थ को जीवन में उतारने के लिए अपना उपनाम यात्री रखा।"[17]

नागार्जुन कवि–जीवन के प्रारम्भ से अंत तक बँगला कविता से जुड़े रहे। इस तरह नागार्जुन का बहुभाषी कविकर्म उनके जीवन के विभिन्न पहलुओं से ठोस आधारों के साथ जुड़ा है।

बहुभाषी कविकर्म करने वाले कवि को सुविधा होती है कि वह भाषा–चयन के लिए विकल्प रखता है। वहीं यह दुविधा भी लगी रहती है कि किस भाषा में अभिव्यक्ति अच्छी बन पड़ेगी। यहाँ काव्य–वस्तु आधार बन सकती है। विषय के अनुसार कवि काव्य–भाषा अथवा काव्य–भाषा–परम्परा का चयन कर सकता है।

नागार्जुन की एक बँगला कविता है– 'एइ जे.एन.यू.'[18] जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली का कैम्पस नागार्जुन को बहुत अच्छा लगा क्योंकि वहाँ 'नवल–नवेलियों' का/उन्मुक्त लीला–प्रांगण' मौजूद था। इच्छा इतनी प्रबल हुई कि 'सोचता हूँ मैं भी ले लूं दाखिला/'टिब्बेटियन' लेने पर क्यों कोई/एतराज करेगा'। और कवि को सिफारिश के लिए नामवर सिंह पर विश्वास है, "डॉक्टर विमला प्रसाद/डाक्टर नामवर . . . /डॉक्टर मुजीब . . . /ये सब तो रिकमेंड करेंगे ही।' नागार्जुन ने इस काव्य–वस्तु को मूलतः बँगला में लिखा है। शायद जे.एन.यू. में बंगाली वामपंथियों की संख्या को देखकर। हिंदी भाषी पाठकों की तुलना में बँगला भाषी पाठकों तक अपनी बात पहुंचाना कवि का ज़्यादा सार्थक लगा होगा–

"नवल–नवलिकादेर/निर्बाध लिला–प्रांगण
एइ जे.एन.यू./. . . . . .
भावछि आमियो ना कि ढूके पोड़ि
टिबेटियान निले केउ कि/आपत्ति कोरबे?
डाक्टर विमला प्रसाद/डाक्टर नामवर . . . .
डाक्टर मुजीब . . . ./ऐरा रिकमेंड कोरबेनइ"

बहुभाषी कविकर्म के स्वरूप पर इस संक्षिप्त विश्लेषण के बाद इस पक्ष पर विचार करना है कि बहुभाषी कविकर्म का क्या महत्व है। एकाधिक भाषा में लिखनेवाले कवि की रचनाओं में कौन सी विशिष्टताएँ दिखाई पड़ती हैं?

बहुभाषी कविकर्म परिपक्वता की माँग करता है। यह केवल भाषा और साहित्य की जानकारी की अभिव्यक्ति नहीं है बल्कि भाषा के समय, समाज, विरासत, परम्परा और संस्कृति–जैसे तत्त्वों के प्रति जागरुकता और रचा–पचाकर सार्थक प्रस्तुति की चुनौती है। उदारीकरण भूमंडलीकरण और निजीकरण बाजार–व्यवस्था से जुड़ी अवधारणाएँ हैं। इनकी बढ़त के बावजूद स्थानीयता, क्षेत्रीयता, जाति–समूह, भाषा–समूह की अपनी विशिष्टताएँ और पहचान हमेशा मौजूद हैं। बाज़ार की भाषा एक हो सकती है, बाज़ार की शर्तें एक जैसी हो सकती हैं; किंतु विविधताओं के वजूद की समाप्ति संभव नहीं है। इस वैविध्य को विभेद मानने की आवश्यकता नहीं है, यह समृद्धि और मूल पहचान का प्रतीक है।

बहुभाषी कविकर्म विभिन्न भाषा–समाज को आपस में जोड़ता है। साहित्यिक आदान–प्रदान के अलावा क्षेत्रीय लगाव का विस्तार और राष्ट्रीय एकता के सुदृढ़ीकरण तक इस प्रयास की पहुंच हो सकती है। नागार्जुन मैथिली और बंगला भाषा–भाषी समाज को व्यापक हिंदी समाज से विभिन्न स्तरों पर जोड़ते हैं।

इस तरह के साहित्यिक प्रयासों की एक परिणति यह भी है कि हमारा रचनाकर्म अखिल भारतीय/राष्ट्रीय/व्यापक चरित्र प्राप्त करता है। कवि का व्यक्तित्व भाषिक क्षेत्रीयता से मुक्त होने का अवसर प्राप्त करता हैं। वहीं यह भी संभव हो पाता है कि राष्ट्रभाषा में लिखने का अभ्यासी रचनाकार क्षेत्रीय विशिष्टताओं से युक्त होकर और संभावनाशील बन जाता है। इस तरह यह प्रयास राष्ट्रीय और क्षेत्रीय पक्षों के मेल–जोल के अवसर उत्पन्न करता है। नागार्जुन की एक कविता 'मधुक्षरा'[19], जिसमें कथ्य के नाम पर केवल इतना कहा जा सकता है कि इसमें बंगाल की मिठाइयों के नाम हैं और उनके प्रति स्वाद की उत्सुकता है। इस कविता में बंगाल की भावुकता और अतिशयोक्तिपरकता की ललित सूचना ज़्यादा महत्त्वपूर्ण है। कविता इस तरह है–

" 'मधुक्षरा' . . ./यानी शहद टपकाने वाली !
इतना प्यारा नाम!/हाय राम !
तो क्या शहद चूता है इनकी मिठाइयों से?
कोई बात नहीं !/कोई बात नहीं !
कभी न कभी टेस्ट लेंगे 'मधुक्षरा' का
भावुक बंगाल को प्रिय है अतिशयोक्ति
न हुई मिठाइयों की दुकान,/हो गई 'मधुक्षरा'

रसगुल्ला, संदेश, चमचम, खीरमोहन . . .

यही–कुछ तो मिलते होंगे उस दुकान के अंदर?

विद्युत–आलोकित चमक रह हैं चार अक्षर–/म धु क्ष रा . . .

इतना प्यारा नाम ?/हाय राम !"

हिन्दी में लिखी यह कविता हिंदी भाषी पाठक को बंगाल से परिचित कराती है। कवि बंगला भाषा की व्यंजकता से प्रभावित होकर कविता लिख रहा है। अवांतर से हम बंगाल के कई पक्षों से जुड़ रहे हैं। यहाँ बंगाल के बारे में सूचनाएँ–मात्र नहीं हैं, बल्कि बँगला भाषा को रचनाशीलता के स्तर तक समझ सकने के कारण नागार्जुन उपर्युक्त भाव–स्तर को प्राप्त कर सके हैं। 'द्याक्यो खोकोन ओइ जे गाँधी महात्ता'[20] शीर्षक कविता में बंगाल के संदर्भ भरे पड़े हैं।

बहुभाषी कविकर्म की महत्ता का एक पक्ष यह भी है कि कवि की काव्य–भाषा का प्रायः विकास होता है। मैथिली, संस्कृत और बंगला की काव्यभाषा का प्रभाव नागार्जुन की हिंदी कविताओं की भाषा पर खूब पड़ा है। इसी तरह उनकी हिंदी का प्रभाव मैथिली, बंगला और संस्कृत की कविताओं पर है।

बहुभाषी कविकर्म का अनुभवी कवि नए छंद, मुहावरे, शैली आदि के प्रयोगों की संभावना से युक्त होता है। संस्कृत छंदों का प्रयोग हिंदी में या मैथिली के मात्रात्मक छंदों के अनुसार हिंदी में कविता लेखन की प्रवृत्ति नागार्जुन के यहाँ मौजूद है। 'अंतिम प्रणाम' (मैथिली) और 'उनको प्रणाम' (हिन्दी) शीर्षक कविताओं के छंदों की समानता पर विचार किया जा चुका है। 'यह दंतुरित मुस्कान'[21] की शैली पूरी तरह मैथिली भाषा से प्रभावित है। 'सिंदूर तिलकित भाल' जैसा मुहावरा मैथिली से हिंदी आया है।

हिंदी जातीय पहचान की भाषा है और मैथिली क्षेत्रीय/जनपदीय पहचान की भाषा है। बहुभाषी कवि होने के कारण नागार्जुन के काव्य–संसार में यह संभव हो पाया है कि जातीय पहचान को बनाने में क्षेत्रीय भाषा मैथिली और बंगला के योगदान को देखा जा सकता है। नागार्जुन हिंदी की जिस काव्य–भाषा में रचते हैं उनके निर्माण में मैथिली की भूमिका और अंशतः बँगला के प्रभाव को रेखांकित किया जा सकता है। 'कालिदास'[22] की पंक्तियों में मैथिली, बँगला और संस्कृत के प्रभाव को उदाहरण के तौर पर रखा जा सकता है।

'कालिदास, सच–सच बतलाना!
इन्दुमती के मृत्युशोक से'
'वर्षा ऋतु की स्निग्ध भूमिका'

} मैथिली का प्रभाव,
वाक्य की बनावट मैथिली की।

'घृतमिश्रित सूखी समिधा–सम'
'अमल–धवल गिरि के शिखरों पर'

} बंगला की तत्सम पदावली का प्रभाव।

नागार्जुन की शैली की बनावट इन चारों काव्य–भाषाओं से दिशा प्राप्त करती है। इस तरह क्षेत्रीयता और राष्ट्रीयता की एकता को प्रमाणित करने का काम बहुभाषी कविकर्म करता है।

बहुभाषी कविकर्म के विश्लेषण के माध्यम से हम जान पाते हैं कि जातीय भाषा हिंदी के निर्माण में क्षेत्रीय भाषा मैथिली की कितनी भूमिका है। हिंदी इस अर्थ में विशिष्ट भाषा है कि इसके निर्माण में मैथिली, ब्रज, अवधी, भोजपुरी, खड़ी बोली आदि का अमिट योगदान है। इन भाषाओं से मिलकर हिंदी बनी है। कवि का ऐसा प्रयास नए पाठक–वर्ग को उसकी कविता से जोड़ता है। नागार्जुन का हिंदी पाठक उनकी बंगला कविताओं को ज़रूर पढ़ना चाहता है कि बदली हुई भाषा में नागार्जुन कैसा और क्या लिखते हैं। इस तरह हमारे सामने नई भाषा और समाज से जुड़ने पर अवसर प्रस्तुत होता है।

सरकारी सहायता प्राप्त संस्थाओं, साहित्य अकादमियों आदि के कारण हिंदी को राष्ट्रभाषा/राजभाषा होने के कारण अपेक्षाकृत अधिक सहायता मिली है। हिंदी का पाठकवर्ग जनसंख्या की दृष्टि से ज़्यादा संभावनाशील है। हिंदी का क्षेत्र–विस्तार भी अत्यधिक है। इन परिस्थितियों में क्षेत्रीय भाषाओं के सामने हिंदी का आतंक आ खड़ा होता है। क्षेत्रीय भाषाओं के लेखकों को लगता है कि हिंदी के कारण हमारा विकास बाधित हो रहा है। जैसे हिंदी वालों को लगता है कि अंग्रेजी के कारण उनका विकास बाधित हो रहा है। बहुभाषी कवियों के प्रयास से मेल–मिलाप और आदान–प्रदान की संभावना बढ़ती है। नागार्जुन इस एकता के स्वयं प्रतीक बन जाते हैं, जब उन्हें मैथिली का साहित्य अकादमी पुरस्कार मिलता है। बहुभाषी कवि कर्म साहित्य के विस्तार का काम करता है।

(ख) जनपदीय और जातीय भाषा में कविकर्म की संगति

नागार्जुन की हिंदी कविता और मैथिली कविता के बीच भाषा के स्तर पर तुलना करने की आवश्यकता है। दोनों के बीच की संगति के स्वरूप पर विचार करना यहाँ लक्ष्य है। इस संदर्भ में केदारनाथ सिंह का यह वक्तव्य महत्त्वपूर्ण है, "नागार्जुन आंचलिक कथाकार हैं, परंतु आंचलिक कवि नहीं हैं। वैसे भी कविता में आंचलिकता का कोई आंदोलन नहीं चला। कविता लिखते समय वे अपने अंचल में भी रहते हैं और उससे बाहर भी जाते हैं। और एक प्रकार से उस संपूर्ण भौगोलिक दुनियाँ को अपनी काव्यभूमि बनाते हैं जिससे किसी–न–किसी रूप में वे जुड़े। वे छत्तीसगढ़ के किसी आदिवासी बूढ़े का चित्र खींचते हैं, तब भी उतने ही सहज लगते हैं जितने मिथिला के किसी चरित्र का चित्रण करते समय। नागार्जुन का भाव–लोक विस्तृत और व्यापक है। यह ज़रूर है कि उनकी काव्य–दृष्टि चाहे जितने प्रदेशों और भू–खंडों से जुड़ती हो, पर उनके भाव–लोक का केन्द्रीय–उत्स मिथिला ही है। इस तरह अंचल और वह जो कि अंचल के बारह विराट यथार्थ है– नागार्जुन की कविता में दोनों के बीच एक विलक्षण संतुलन दिखाई पड़ता है।"[23]

केदारनाथ सिंह के वक्तव्य में महत्वपूर्ण बात यह है कि नागार्जुन के विस्तृत साहित्य का मूल केन्द्र मिथिला ही है। उनके पूरे साहित्य का प्रस्थान बिन्दु मिथिला ही है। इस सूत्र को इस तरह विकसित किया जा सकता है कि नागार्जुन की हिन्दी काव्य–भाषा के निर्माण में उनकी मैथिली काव्य–भाषा की बड़ी भूमिका है। हिंदी के निर्माण में क्षेत्रीय भाषाओं के योगदान को पुनः प्रमाणित करने की जरूरत नहीं है। मैनेजर पाण्डेय ने भक्तिकाल के कवियों की काव्य–भाषा से नागार्जुन को जोड़ते हुए लिखा है, "कवि के रूप में नागार्जुन भक्तिकाल के कबीर, सूर, तुलसी और मीरा की कविता की उस विशेषता की स्मृति जगाते हैं जो एक क्षेत्र, उसकी भाषा और संस्कृति से पैदा होने का प्रमाण देती हुई भी भारतीय बनी है। जैसे कबीर, सूर, जायसी, तुलसी और मीरा की कविता हिन्दी क्षेत्र के विभिन्न जनपदों के लोक जीवन और लोक संस्कृति के साथ गहरा तादात्म्य रखती है और फिर उसमें भारतीय मनुष्य के मन को छूने की अपार क्षमता है– वही स्थिति, नागार्जुन की कविता और कथा–साहित्य की है। यहाँ सार्वभौमिकता स्थानीयता की ज़मीन पर खड़ी है।"[24]

हिंदी के निर्माण की प्रक्रिया लोकवादी रही है। इसकी प्रकृति गणतंत्रात्मक रही। जैसे गणतंत्रों को जोड़कर एक राजनीतिक व्यवस्था बनायी गयी है। हिंदी मानो गणतंत्र का प्रतीक है। ब्रज, अवधी, मैथिली, खड़ी बोली, भोजपुरी, मगही, कौरवी आदि से मिलकर बनी हिंदी भाषा के साहित्य का इतिहास इन देशी भाषाओं में रची गयी कविताओं से ही बना है। जातीय भाषा के रूप में हिंदी की पहचान अमिट है, क्योंकि उसकी जड़ें इन तमाम भाषाओं तक फैलकर संजीवनी प्राप्त कर रही हैं। इन भाषाओं के अंतःसम्बन्ध और पारस्परिक प्रभाव को बहुभाषी कविकर्म करने वाले कवियों की काव्य–भाषा में अपेक्षाकृत ज़्यादा महसूस किया जा सकता है। पुनः, मैनेजर पांडेय लिखते हैं, "नागार्जुन के रचना संसार की एक विशेषता यह भी है कि उसमें समाज, संस्कृति, इतिहास और समकालीन जिन्दगी को देखने वाली दृष्टि और रचनेवाली प्रतिभा भाषा की सीमाएँ तोड़ती है इसलिए वह मैथिली को हिंदी से जोड़ती है। उनकी मैथिली और हिंदी की अनेक कविताओं की मूल संवेदना एक ही है। कभी–कभी उन्होंने जो कविता पहले मैथिली में लिखी है उसे बाद में हिंदी के मुहावरे में भी ढाला है।"[25]

नागार्जुन का मैथिली और हिंदी से सम्बन्ध के स्वरूप पर रामदरश मिश्र का विचार उल्लेखनीय है, "उन्होंने मैथिली में भी लिखा, हिन्दी में भी लिखा और मैथिली और हिंदी में कोई विरोध नहीं है। कवि की एक ही संवेदना अपनी मातृभाषा में व्यक्त हो रही है, वही हिंदी खड़ी बोली में व्यक्त हो रही है। हिंदी खड़ी बोली में भी हमलोगों के लिए मातृभाषा के ही समान है। इसलिए तमाम कटघरे खड़े करना, अंचल, लोक और मैथिली कविता, हिंदी कविता मेरा ख्याल है कि उचित नहीं है।"[26]

रामदरश मिश्र का यह विचार दिशादर्शक है कि नागार्जुन के लिए मैथिली और हिंदी–दोनों मातृभाषा हैं। मातृभाषा के रूप में हिंदी को रखना एकदम समीचीन है। मातृभाषा मानने पर ही उनकी हिंदी काव्य–भाषा की जीवतंता को मौलिक रूप से समझा जा सकता है।

रामदरश मिश्र को पुनः उद्धृत किया जा सकता है, "वे मैथिली के कवि हैं, हिंदी के कवि हैं तो इसमें कोई विरोध तो है नहीं।. . . उनकी मैथिली कविता में भी वही प्रेम, वही प्रकृति व्यक्त होती है। हिंदी में भी वही प्रेम, वही प्रकृति, राजनीतिक चेतना और समाज की चिंता व्यक्त होती है। तो, यह केवल दो जुड़ी हुई भाषाओं का सवाल है। दो भाषाओं में वे अच्छा लिखते हैं। कभी उसमें, कभी उसमें। ऐसा तो नहीं है कि मैथिली में

वे लिखते हैं तो वह चीज़ बड़ी आंचलिक बन जाती है। हिंदी में लिखते हैं तो वो अपने आप में बड़ी विशिष्ट बन जाती है। ऐसा नहीं है।"[27]

आलोचकों के उपुर्यक्त उद्धरणों के आधार पर कहा जा सकता है–

- नागार्जुन हिंदी और मैथिली में समान अधिकार से कविता रचते हैं।
- उनके लिए दोनों भाषाएँ मातृभाषा हैं।
- दोनों भाषाओं में रचित उनके काव्य का स्तर समान है।
- विश्व–दृष्टि में भी अंतर नहीं है।
- केदारनाथ सिंह मानते हैं कि उनके भाव–लोक का केन्द्रीय उत्स मिथिला है।

उपर्युक्त सूत्रों की आवश्यकता विश्लेषण के बीच–बीच में पड़ेगी। केदारनाथ सिंह के उपयुक्त विचार से दूर तक सहमत नहीं हुआ जा सकता है। नागार्जुन ने इमरजेंसी, सम्पूर्ण क्रान्ति और पुनः स्थापित कांग्रेसी शासन को विषय बनाकर पचास से अधिक कविताएँ हिंदी में लिखी हैं। मैथिली में इमरजेंसी पर एक भी कविता नागार्जुन ने नही लिखी है। इस तरह उनकी हिंदी कविता के भाव लोक का केन्द्रीय उत्स मिथिला/मैथिली हर जगह नहीं है।

विचारणीय है कि एक कवि जब जातीय भाषा हिंदी और जनपदीय भाषा मैथिली में कविता रच रहा है, तब वह अपने कविकर्म और काव्य–भाषा की संगति किस तरह से कर रहा है।

नागार्जुन की हिंदी कविता का एक बड़ा भाग उनकी मैथिली भाषा से प्रभावित है। बँगला की तत्सम् शब्दावली के प्रभाव को भी रेखांकित किया जा सकता है। बँगला में नागार्जुन ने काफी बाद में लिखा और केवल एक–दो वर्षों तक ही लिखा।

जनपदीय और जातीय भाषा का संदर्भ हिंदी और मैथिली के संबंध में ही यहाँ लिया जा सकता है।

नागार्जुन की हिंदी से कुछ उदाहरण रखकर देखा जा सकता है कि मैथिली का प्रभाव किस रूप में मौजूद है। 'बादल को घिरते देखा है'[28] की भाषा की बनावट मैथिली आधारित है। इसके छंद की गति, वाक्यों की गढ़न और क्रियाओं का चयन मैथिली काव्य–भाषा से सम्बन्धित है। इसकी भाषा छायावादी नहीं है। प्रायः कह दिया जाता है कि छायावादी प्रभाव से नागार्जुन ऐसी कविता रच रहे थे। यह कविता किसी अनुकरण से

तैयार नहीं की गयी है। इसमें कवि का यात्रा–वृतांत है। एक ग्रामीण बुद्धिजीवी कवि अपनी यात्रा की अनुभूतियों को ललित शब्दावली में रख रहा है। दावा है कि उसने यह सब देखा है। सुनने वाले को किस्से का आनंद मिल रहा है। 'कामायनी' में हिमालय का विवरण अनुमान से दिया गया है। यहाँ दावा है कि देखा है। कालिदास के साहित्य के अनुसार चीज़े नहीं मिलती हैं तो नागार्जुन कहते हैं कि 'जाने दो, वह कवि कल्पित था,'। जिस बतकही, आत्मविश्वास और लालित्य के साथ इस कविता की भाषा प्रवाहित हो रही है, वह मैथिली की देन है। 1940 के आस–पास इस तरह की काव्य–भाषा का कोई नमूना अन्यत्र दिखाई नहीं पड़ता है। इस प्रसिद्ध कविता की पंक्ति–दर–पंक्ति संस्कृतनिष्ठ और ललित मैथिली की याद दिलाती है। नागार्जुन हिंदी के एकमात्र आधुनिक कवि हैं, जिन्होंने मैथिली के सहयोग से हिंदी काव्य–भाषा को समृद्ध किया है। 'बादल को घिरते देखा है' की कुछ पंक्तियों को उदाहरण के तौर पर रखा जा सकता है–

– अमल धवल गिरि के शिखरों पर
– तुंग हिमालय के कंधों पर
– उनके श्यामल नील सलिल में
– तिक्त मधुर बिस–तंतु खोजते
– ऋतु बसंत का सुप्रभात था।
– बालारुण की मृदु किरणें थीं
– निशाकाल के चिर–अभिशापित, आदि।

16–16 मात्राओं वाली पंक्तियाँ, प्रवाह तथा शब्दों के चयन में नागार्जुन की मैथिली और हिंदी कविताओं में समानता के उदाहरण मौजूद हैं। 'माँ मिथिले!' 'अंतिम प्रणाम' जैसी मैथिली कविताओं की बनावट इसी तरह की है। 'माँ मिथिले!' (1931), अंतिम प्रणाम (1936) का रचनाकाल 'बादल को घिरते देखा है' (1940) से काफी पहले का है। 'अंतिम प्रणाम' की पंक्तियों को उद्धृत किया जा चुका है। 'माँ मिथिले!' की कुछ पंक्तियों को सामने रखने पर स्पष्ट हो जाएगा कि मैथिली काव्य–भाषा का प्रभाव उनकी हिंदी काव्य–भाषा पर स्पष्ट तौर पर है–

– मुनिक शान्तिमय पर्णकुटीमे
– यज्ञधूम संकुचित नयनमे
– मुनिकन्याक प्रसून–चयन में

– गौतम अनुमित न्यायक अथमे

– पक्षधरक प्रतिभा–प्रभातमे

इन टुकड़ों को हिंदी के अंशों से मिलाने पर समानता दिखायी पड़ती है। एक तरह से वाक्य रचने की प्रवृत्ति दोनों काव्यभाषाओं में मौजूद हैं। समानता का अर्थ यहाँ यह नहीं है कि एक ही वाक्य दोनों में मिल जाएँ। काव्यभाषा की दिशा की दृष्टि से दोनों की समानता को महसूस किया जा सकता है।

नागार्जुन की अंतिम कविताओं में भी मैथिली का प्रभाव मौजूद है। इस अर्थ में केदारनाथ सिंह की बात ठीक लगती है कि उनके भाव–लोक का केन्द्रीय उत्स मिथिला है। 'नागार्जुन रचनावली' में संकलित कविताओं के अनुसार उनकी अंतिम कविता 'मायावती–मायावती'[29] है 1997 की काव्य–भाषा में मैथिली तत्त्व को स्पष्ट तौर पर देखा जा सकता है–

– दलितेंद्र की छायावती–छायावती

– जय–जय हे दलितेंद्र

– दलितेंद्र की शिष्या

अंतिम टुकड़ा तो मैथिली की लय को भी अपने में समाये हुए है–

मायावती–मायावती / गुरु गुन मायावती

मायावती–मायावती / गुरु गुन मायावती

मायावती–मायावती

नागार्जुन मूलतः ग्रामीण बुद्धिजीवी हैं। उनकी विश्वदृष्टि को बनाने में विचारधारा, राजनीति, देश–विदेश–भ्रमण, अध्ययन, जीवन–संघर्ष आदि का बड़ा योगदान रहा, किंतु उनकी समझ और व्यक्तित्व का अटूट हिस्सा उनका मैथिली जीवन है। मैथिली छाप उन पर से कभी नहीं छूटती। भक्तिकाल के कवियों से उनकी तुलना मैनेजर पांडेय ने इसी दृष्टि से की है कि तमाम बातें, ज्ञान, आस्था मान्यता आदि अपनी जगह, किंतु रसखान उसी को मनुष्य मानेंगे जो ब्रज में रहता हो। अपनी जनपदीय पहचान को भूलना तो दूर, उसे छोड़ना इन कवियों के वश में नहीं है। नागार्जुन की बनावट मैथिली की बनावट है। उन्होंने मैथिली की ताकत से हिंदी काव्य–भाषा में नएपन को पिरोया है। भक्त कवियों ने ब्रज, अवधी, को ऊँची काव्य–भाषा का दर्जा दिलाया, नागार्जुन ने मैथिली के सहयोग से अपनी विशिष्ट काव्य–भाषा की रचना की।

नागार्जुन की हिंदी काव्य–भाषा में मैथिली की चेतना अंतर्निहित रूप से प्रवाहित होती रही। हमारे लिए यह विचारणीय नहीं है कि उन्होंने हिंदी काव्य–भाषा से मैथिली काव्य–भाषा को क्या दिया। इस पक्ष पर यहाँ विचार नहीं किया जा रहा है। यहाँ उद्देश्य है यह देखना कि जनपदीय भाषाओं के सहयोग से समृद्ध हुई हिंदी को काव्य–भाषा के स्तर पर नागार्जुन के काव्य में किस तरह से विश्लेषित किया जा सकता है।

नागार्जुन की हिंदी काव्य–भाषा की प्रकृति को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि उन्होंने विस्तार तो खूब किया, विविधता भी भरी, नई–नई शब्दावलियों से नवाजा, तात्कालिक भाषा होने के आरोप लगे, अखबारी भाषा की तरह अकाव्यात्मकता के दोष मढ़े गए; किंतु इन तमाम भाषा–प्रयोगों को काव्यात्मक बनाए रखने की संजीवनी वे अपनी आधार–भाषा मैथिली से ही प्राप्त करते हैं।

इमरजेंसी पर नागार्जुन ने मैथिली में एक भी कविता नहीं लिखी, परंतु हिंदी की इन कविताओं को जीवंत बनाने में मैथिली की आधारभूत भूमिका है। 'इसके लेखे संसद–फंसद सब फिजूल हैं'– में 'लेखे', 'संसद–फंसद' की बनावट और प्रभावोत्पादकता के मूल में मैथिली की शक्ति है। नागार्जुन एकदम शहरी हिंदी नहीं लिखते। उनकी व्यंग्य–भाषा की निर्मिति में मैथिली अंतर्निहित है। 'कट्टर कॉमरेड उवाच'[30] की कुछ पंक्तियों को देखा जाए–

"आओजी, आओजी, आओजी !
माओ–सी, शाओ–ची, चाओ–जी !
आओ जी, आओ जी, आओ जी !

हटा नहीं आँखों का पट्टर !
कामरेड हूँ कैसा कट्टर !
मुझे लील लो,
मुँह तो पूरा बाओ जी !
आओ जी, आओ जी !"

इन पंक्तियों की काव्य–भाषा जनपदीय स्पर्श के बिना व्यंग्यात्मक नहीं बन सकती थी। चीनी नेताओं के नामों के पीछे 'सी', 'ची', लगाने का मज़ाक, मुँह 'बाओ' का प्रयोग, 'आँखों का पट्टर', 'आओ जी' की पुकार आदि के कारण जो प्रभाव और व्यंग्य यहाँ रचा जा सका है, वह शहरी हिंदी के प्रयोग से नहीं हुआ है। इसके मूल में जनपदीय स्पर्श है।

जनपदीय और जातीय भाषा में कवि कर्म की संगति पर इतने विश्लेषण के बाद कहा जा सकता है कि नागार्जुन को हिंदी में विस्तार का मौका मिला, मैथिली में काव्य–वस्तु के इस विस्तार की संभावना, मौजूदा परिस्थिति में नहीं थी। जातीय भाषा हमें व्यापक जन–समुदाय से जुड़ने का अवसर प्रदान करती है। मुख्य धारा की भाषा में लिखना अनेक कारणों से आवश्यक हो जाता है। विभिन्न भाषा–भाषी समुदाय तक पहुंचने में जातीय भाषा ही सहयोग प्रदान करती है। जनपदीय भाषा हमें भाषा की जीवनी शक्ति प्रदान करती है और जातीय भाषा हमें संघर्ष को आगे बढ़ाने एवं शामिल होने का आत्मविश्वास पैदा करती है।

नागार्जुन की अंतिम मैथिली कविता है 'तुलसी बाबा'[31]। इस कविता में तुलसी के साथ रहने की कामना की गयी है ताकि 'शब्द–सुमिरनी' का अनुशासन नागार्जुन सीख सकें। भाषा की तलाश अंत तक जारी रही और तलाश की दिशा जनपदीय भाषाओं की तरफ रही। यह कविता बताती है कि जातीय ओर जनपदीय भाषा के सर्जनात्मक सम्बन्ध में जनपदीय भाषा ज्यादा शक्तिशाली होती है। उसके स्पर्श से जातीय भाषा चमक जाती है। 'तुलसी बाबा' की पंक्तियाँ मैथिली और हिंदी में इस प्रकार हैं–

तुलसी बाबा

तुलसी बाबा साथ रहइँ त'
पार करब
कविता बइतरनी
तुलसी बाबा साथ रहइँ त'
नहि बिसरब हम
शब्द–सुमिरनी।

तुलसी बाबा

तुलसी बाबा साथ रहें तो
पार करूँ
कविता वैतरणी
तुलसी बाबा साथ रहें तो
नहीं भूलूँ मैं
शब्द सुमरनि।

नागार्जुन की काव्य–भाषा की यात्रा प्रारम्भ से अंत तक जनपदीय विशेषताओं से जुड़ी रही है। जातीय काव्य–भाषा को उन्होंने इतना साधा कि मैथिली के प्रभाव को सतही रूप में नहीं आने दिया, उनकी संगति की विशेषताओं के ऐसे ही संदर्भ हो सकते हैं।

सन्दर्भ :

1. नागार्जुन रचनावली–3, पृ. VI.
2. (अथातो काव्य जिज्ञासा– सं. डॉ. मंजुल उपाध्याय, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1996, पृ. सं. 83, 84/ लेख का शीर्षक– नागार्जुन के काव्य संसार से गुजरते हुए)।
3. कल के लिए– सं. डॉ. जयनारायण, त्रैमासिक, बहराइच, अक्टूबर–दिसम्बर, 1995, पृ. 10.
4. वही, पृ. 32.
5. नागार्जुन रचनावली–3, पृ. 21.
6. परिषद पत्रिका–नागार्जुन अंक, दिसंबर 1999, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना। सं. डॉ. मिथिलेश कुमारी मिश्र, पृ. 144-145.
7. नागार्जुन रचनावली–3, पृ. VIII.
8. 05 अगस्त, 1979/नागार्जुन रचनावली–3, पृ. सं. 430–431.
9. गोस्वामी तुलसीदास– आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, सं. 2053 वि., पृ. 107.
10. नागार्जुन रचनावली–3, पृ. 34/चित्रा/काशी नवंबर 1936.
11. नागार्जुन रचनावली–1, पृ- 23–24/हजार–हजार बाँहों वाली/विशाल भारत, मई 1939.
12. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 351–352/प्यासी पथराई आँखें/1961.
13. नागार्जुन रचनावली–3, पृ. 334–335/माटिपानि/अगस्त, 1983.
14. नागार्जुन रचनावली–3, पृ. VI.
15. परिषद पत्रिका– नागार्जुन अंक, दिसम्बर 1999, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना। सं. डॉ. मिथिलेश कुमारी मिश्र, पृ. 89.
16. वही, पृ. 92-93.
17. नागार्जुन रचनावली–3, पृ. VI.
18. नागार्जुन रचनावली–3, पृ. 416, 19 फरवरी 1978.
19. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. सं.–322/प्यासी पथराई आँखें/1995 ई.
20. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 331–332/प्यासी पथराई आँखें/1960.
21. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 43–44/सतरंगे पंखोंवाली/1943 ई..
22. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 22/सतरंगे पंखोंवाली/1938 ई..
23. कल के लिए– सं. डॉ. जयनारायण, त्रैमासिक, बहराइच, उ.प्र., अक्टूबर–दिसम्बर 1995, पृ. 30.
24. वही, पृ. 29.
25. वही, पृ. 29.
26. वही, पृ. 29.
27. वही, पृ. 32.
28. युगधारा, 1940.
29. नागा. रच.–2,10 जुलाई, 1997, पृ. 464.
30. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 371.
31. नागार्जुन रचनावली 3, पृ. 372, 17 जनवरी, 1996/आरम्भ, जून, 1997.

***

चतुर्थ अध्याय

नागार्जुन की काव्य-भाषा

(क) नयी काव्य-भाषा के लिए आत्मसंघर्ष

(ख) सामाजिक जीवन की कविता और भाषा

(ग) राजनीतिक व्यंग्य और काव्य-भाषा

(घ) आंदोलनधर्मी कविता की भाषा

नागार्जुन की काव्य-भाषा

नागार्जुन की काव्य–भाषा के कई रूप हैं। विषय एवं भाव–बोध के अनुसार शब्दों का चयन, वाक्य की बनावट, टोन आदि प्रभावित होते हैं। नागार्जुन के कवि–व्यक्तित्व पर छायावाद, स्वतंत्रता आंदोलन, सामाजिक यथार्थवाद, स्वातंत्र्योत्तर भारत की राजनीतिक गतिविधियों, संस्कार में प्राप्त मिथिला के लोकगीत, आम आदमी के रूप में 'यात्री' के अनुभव, प्रकृति–पर्यावरण, विभिन्न साहित्यिक मतों एवं गतिविधियों आदि का प्रभाव देखा जा सकता है। मैनेजर पांडेय ने नागार्जुन की कविताओं को विषय एवं स्वभाव के आधार पर काव्य–भाषा के विभिन्न रूपों में वर्गीकृत किया है, "नागार्जुन की कविता में काव्य–भाषा के भी अनेक रूप हैं। एक रूप है वह जो 'कालिदास सच–सच बतलाना' में दिखाई पड़ता है तो दूसरा रूप सामाजिक ज़िंदगी की समस्याओं से जुड़ी हुई कविताओं में दीख पड़ता है, जैसे– 'मन करता है', 'प्रेत का बयान' या 'अकाल और उसके बाद।'

"उनकी काव्य–भाषा का तीसरा रूप राजनीतिक व्यंग्य की कविताओं में है और चौथा रूप आंदोलनधर्मी कविताओं में। यहाँ कविता की भाषा अख़बार की तरह तात्कालिकता को छूती नज़र आती है। उनकी काव्य–भाषा का एक और रूप उनके गीतों में है जहाँ वे विद्यापति के गीतों की स्मृति जगाते हैं।"[1]

नागार्जुन के 'यात्री' रूप ने उनकी भाषा को बनाने में मदद पहुँचायी। क्षेत्रीय उच्चारण–दोष से मुक्त होने की चर्चा करते हुए त्रिलोचन ने एक साक्षात्कार में कहा कि "उनके घुमक्कड़पन का उनके साहित्य पर असर पड़ा। सबसे पहले तो उनके घुमक्कड़पन और साहित्य का यह सम्बन्ध है कि अपना उच्चारण उन्होंने बदला। कहीं जहाँ 'ड़' आना चाहिए वहाँ 'र' बोलते थे वो। वैसे 'घोड़ा' को 'घोरा' कह जाते थे वो। .... तो ये उच्चारण धीरे–धीरे बदलते रहे और लगभग उत्तरी भारत में घूमा। उसमें पंजाब भी है राजस्थान भी है तो भाषा या कहीं–कहीं मुहावरों की पकड़, शब्दों की पकड़ उनमें मिलती है जो बिहार में रहते हुए कभी न आती। तो यह जीवन का जो अनुभव है वह सामान्य रूप में नहीं है, असाधारण है। तो उनकी भाषा में सुधार आया और लेखन में उन्होंने बोलचाल की भाषा में लिखा है और संस्कृत की पदावली में भी लिखा है।"[2]

इसके साथ यह भी जोड़ना सार्थक होगा कि सभी प्रकार के भाषायी सुधार नागार्जुन की प्रतिभा में घुल–मिल कर स्वाभाविक हो गए। राममूर्ति त्रिपाठी का मत है,

''नागार्जुन किसी एक शैली, रीति, छंद या भंगिमा में आसक्त या आबद्ध नहीं हुए। उनके रचना–संसार में न केवल हिन्दी भाषा का अनोखा मूल आस्वाद है बल्कि हिन्दी से जुड़ी तमाम भाषाओं, उपभाषाओं और संस्कृत, बांग्ला आदि अनेक पुरानी और नयी भाषाओं का रस भी मिलता है। चार भाषाओं में जबर्दस्त ढंग की रचनाशीलता अपने आप में एक बड़ी उपलब्धि है।''[3]

नागार्जुन की काव्य–भाषा को कितने भागों में बाँटा जाए, यह इतना सहज और आलोचकों का प्रिय विषय बन गया है कि कई प्रकार के मिलते–जुलते वर्गीकरण दिखाई पड़ते हैं। नागार्जुन की भाषा–दृष्टि के निर्माण में बँग्ला में मौजूद पश्चिमी ज्ञान की भूमिका मानते हैं त्रिलोचन, ''नागार्जुन अंग्रेजी में नहीं पढ़ते थे। बाँग्ला में पढ़ते हैं। मैं मानता हूँ कि नागार्जुन में आधुनिकता के जो रूप आते हैं, वह बाँग्ला की प्राच्य मानसिकता की देन हैं, जैसे मैथिली में नवीनता आती है। प्रवर लेखक सौम्य अँग्रेजी का विद्वान् नहीं है। तो नवीनता बाँग्ला से उसे मिल जाती है। और मानसिकता तो ग्राहक की अपनी मानसिकता के अनुसार ही रहती है। तो नागार्जुन की सारी नवीनता का मूल बाँग्ला साहित्य में देखना चाहिए। मैं मानसिकता कह रहा हूँ प्रभाव नहीं।''[4]

नागार्जुन की आधुनिकता और भाषा–प्रयोग की नवीनता एवं बहुरूपता को बनाने में उनकी राजनीतिक समझ, आंदोलनों में भागीदारी, जन–जीवन से जुड़ाव, यात्राएँ और उनके स्वभाव आदि का भी योगदान रहा है। उनकी प्रगतिवादी मानसिकता के निर्माण में बँग्ला की देन को स्वीकारा जाना चाहिए, किन्तु हिन्दी क्षेत्र में भी यह आंदोलन व्यापक रूप से प्रभावशाली था। छायावाद तक बँग्ला का प्रभाव तो माना जा सकता है किन्तु प्रगतिवादी दौर में यह प्रभाव क्रमशः घटने लगा था।

नागार्जुन की काव्य–भाषा को सरल–सपाट, तात्कालिक, अखबारी, सतही, अकाव्यात्मक, प्रचारात्मक मानने वाली मानसिकता अब पुरानी हो चुकी है। परंतु अध्ययन के क्रम में ऐसे पड़ावों से गुजरना पड़ता है। लंबे समय तक उन्हें स्तरीय कवि नहीं माना गया। उनकी काव्य–भाषा आलोचकों की समझ और कवियों की भाषा–परंपरा के लिए चुनौती थी। उनकी काव्य–भाषा प्रभावशाली तो महसूस होती थी, परंतु आलोचक यह बताने में कठिनाई महसूस करता था कि आलोचना की किन शब्दावलियों में इस प्रभाव की समीक्षा की जाए। कवियों को यह काव्य–भाषा रिझाती थी, परंतु अनुकरण करने में मुश्किल जान पड़ती थी। सरलता में गंभीरता की समीक्षा या अनुकरण की चुनौती से

टकराती हुई नागार्जुन की काव्य–भाषा पर गिरधर राठी की यह टिप्पणी प्रासंगिक है, ''नागार्जुन की सरल कविताओं में भी शब्द चयन, मूल संदर्भ, संकेत और ध्वनि के अनेक स्तर खुलते हैं।''[5]

नागार्जुन की काव्य–भाषा जनता को संबोधित करने के लिए रची गयी है। जनता की भाषा को काव्य–भाषा से और काव्य–भाषा की परंपरा को जनता की भाषा से जोड़ने का विराट् प्रयास यहाँ दिखाई पड़ता है, ''वे गहरे अर्थ में एक जन संबोधित कवि हैं। लिखते समय उनके सामने जो संबोध्य होता है, वह व्यापक जन–समुदाय है। यह प्रवृत्ति उनकी बहुत–सी लम्बी कविताओं में अधिक साफ होकर उभरी है। इसका एक परिणाम यह भी होता है कि नागार्जुन की कविताएँ सबसे अधिक जन–संप्रेष्य बन जाती हैं। शायद इसीलिए बड़े–से–बडे जन–समुदाय के सामने कविता पढ़ने में उन्हें कठिनाई नहीं होती। यह बात दूसरे प्रगतिशील कवियों के बारे में नहीं कही जा सकती। इसी के चलते उनकी कविता में– उसके कथ्य और शिल्प दोनों में भी एक सुखद विविधता दिखाई पड़ती है। इसका एक अन्य कारण यह भी है कि वे बहुत से लोकप्रिय काव्य–रूपों को अपनाते हैं और उन्हें सीधे जनता के बीच से ले आते हैं। यहाँ वे सच्चे अर्थों में लोक–कवि की भूमिका में दिखाई पड़ते हैं।''[6]

नागार्जुन की तत्सम शब्दावली भी प्रायः बोध के स्तर पर कठिनाई उत्पन्न नहीं करती। कालिदास के संदर्भ उन्हें अत्यन्त प्रिय हैं, फलतः मेघदूत, यक्ष, शकुन्तला आदि बार–बार उनकी कविता में आते हैं। नागार्जुन की विशेषता है कि इन सबको मिलाकर जिस काव्य–भाषा को वे रचते हैं, वह 'जन–गण–मन' के अनुकूल होती है। तत्सम का जनवादी रूप नागार्जुन की देन है। रामदरश मिश्र का विचार है, ''भाषा भी उनकी कथ्य के अनुसार कुछ बदलती रही, जैसे 'बादल को घिरते देखा है।' इस कविता में कई बार पौराणिक संदर्भ आते हैं वहाँ कविता कई बार तत्सम शब्दावली से गुम्फित होती है। लेकिन जहाँ वे व्यंग्य करते हैं जनसामान्य की कविताएँ लिखते हैं वहाँ उनकी भाषा बहुत सरल तद्भव शब्दों से युक्त होकर चलती है। एक बात ध्यान देने की है, मुझे लगता है कि नागार्जुन एक ऐसे कवि हैं जिनमें सहज भाव और भाषा का अद्भुत संगम है, भाषा का अद्भुत समन्वय है। तत्सम शब्दावली वाली कविताएँ भी उनकी उसी तरह से संप्रेषित होती हैं जैसे हजारी प्रसाद द्विवेदी के उपन्यासों में तत्सम शब्दावली वाली भाषा लगती है। तत्सम शब्दावली के साथ तद्भव का, देशज का ऐसा सहज मेल करते हैं कि उनकी भाषा का एक अपना रंग होता है। जैसा मैंने आपसे कहा कि 'बादल को घिरते देखा है'

कविता एक बड़ी विशिष्ट कविता है, भाषा के ख़्याल से भी तत्सम शब्दावली से गुफित होकर भाषा चलती है और क्रिया में आकर एकदम सामान्य हो जाती है। घिरते देखा है, भिड़ते देखा है, चिढ़ते देखा है। घिरना, चिढ़ना, भिड़ना– ये जो क्रियाएँ हैं बिल्कुल लोक की क्रियाएँ हैं।''[7]

नागार्जुन पर कथ्य अथवा भाषा का हावी हो जाना प्रायः नहीं दीखता है। व्यापक अनुभव संसार, जनचेतना से जुड़ाव और निर्द्वन्द्व व्यक्तित्व के कारण नागार्जुन की अपनी सहज छाप उनकी अधिकतर कविताओं पर दिखायी पड़ती है। स्थानीयता से जब उनकी काव्य–भाषा प्रभावित होती है, तो सौन्दर्य एवं शक्ति की वृद्धि ही करती है। यह वृद्धि हमारे लिए नई, ग्राह्य और ऊर्जावान् होती है। अबूझ, रहस्य आदि यहाँ फटक भी नहीं पाते। मंगलेश डबराल का कथन उल्लेखनीय है ''नागार्जुन का जो अनुभव संसार है, वह बहुत विशाल है और जनचेतना से उसका लगाव है और उसने उनकी भाषा में भी परिवर्तन किया, छंद विधान में भी परिवर्तन किया है, इसीलिए उनकी कविताओं में विचारात्मक लगनेवाली कविताएँ भी मिलती हैं। और उन्होंने बहुत सारे प्रयोग भी किए हैं। भाषा और छन्द विधान की उनकी जैसी समझ तो बहुत कम कवियों में है। वे भाषा को किसी भी तरह तोड़–मरोड़ सकते हैं। जैसे–जब वे गढ़वाल जाएँगें तो तुरंत वहाँ की संवेदना से प्रभावित होकर कविता लिखेंगे। तो वे एक सच्चे जनकवि के रूप में हमेशा जनचेतना से प्रभावित होते रहे हैं और उसे प्रभावित भी करते रहे हैं।''[8]

नागार्जुन की काव्य–भाषा की दोहरी भूमिका को केदारनाथ सिंह ने रेखांकित किया है। कला की उत्कृष्टता की माँग स्वाभाविक है। वहीं आंदोलनधर्मी स्वभाव के कारण भाषा का तात्कालिक रूप कविता बन जाए, यह चुनौती है। प्रसिद्ध राजनीतिक व्यक्तियों पर कविता लिखना कला और व्यवहार की दृष्टि से जोखिम भरा काम है। नागार्जुन ऐसा करते हुए कहीं भी दुविधाग्रस्त दिखाई नहीं पड़ते। मैनेजर पांडेय इसका कारण नागार्जुन के व्यक्तित्व में तलाशते हैं, ''जो लोग राजनीति और साहित्य में सुविधा के सहारे जीते हैं वे दुविधा की भाषा बोलते हैं। नागार्जुन की दृष्टि में कोई दुविधा नहीं है।''[9] दुविधा से मुक्त काव्य–भाषा के बारे में केदारनाथ सिंह का निष्कर्ष है कि बहुरेखीय भाषा अपनाने वाले नागार्जुन कविता की दोहरी भूमिका तय कर देते हैं, ''तात्कालिक विषय पर कविता लिखना एक खतरनाक काम है। यह खतरा केवल सामाजिक या राजनीतिक स्तर पर ही नहीं होता, बल्कि स्वयं कविता के स्तर पर भी होता है। यह खतरा वहाँ हमेशा मौजूद रहता है कि कविता कविता रह ही न जाये। पर नागार्जुन एक

रचनाकार की पूरी जिम्मेवारी के साथ इस खतरे का सामना करते हैं और इस दृष्टि से देखें तो उनमें खतरनाक ढंग से कवि होने का अद्‌भुत साहस है। पर उससे भी बड़ी बात यह है कि उनकी तात्कालिक विषयों पर लिखी हुई कविताएँ उनकी कविता–संबंधी एक विशेष अवधारणा की ओर संकेत करती हैं। हम जानते हैं कि उनके यहाँ 'गम्भीर' कही जाने वाली कविताओं की संख्या कम नहीं है। उनके पूरे काव्य को सामने रखकर देखें तो दिखाई पड़ेगा कि उनकी प्रतिभा एक साथ अनुभव के दो ध्रुवान्ततों पर काम करती है– एक तरफ प्रेम, वात्सल्य, करुणा और सौन्दर्य जैसे 'गम्भीर' समझे जाने वाले विषय हैं और दूसरी तरफ एकदम सद्यः घटित, आसन्न और तात्कालिक विषय। नागार्जुन का रचना–लोक इन दोनों से मिलकर बनता है। अतः इन दोनों में कोई–न–कोई संबंध जरूर होना चाहिए। वस्तुतः कविता के साथ नागार्जुन का यह दोहरा संबंध हमें कविता–संबंधी उनकी अपनी अवधारणा के निकट ले जाता है। वे अपने पूरे कृतित्व के द्वारा मानो इस बात को रेखांकित करते हैं कि एक बदलते हुए संघर्षशील समाज में कविता की यह दोहरी भूमिका अनिवार्य है।''[10]

नागार्जुन की काव्य–भाषा का एक विशेष गुण है– स्थानीयता। स्थानीयता का अर्थ, उनके संदर्भ में, आंचलिकता नहीं है। जमीन से जुड़ने की ऐसी ललक और क्षमता नागार्जुन में है कि वे जहाँ की भी कविता लिखते हों, वहाँ का 'देशीपन' झलक ही जाता है। अतः स्थानीयता का अर्थ यहाँ मिथिला नहीं है। वे बुंदेलखण्ड और बंगाल की स्थानीय पहचान को भी उतनी ही आत्मीयता से अपनी कविता में जगह देते हैं। नागार्जुन की यह प्रवृत्ति उनके भाषा–लोक को नए जीवंत शब्दों से समृद्ध करती है। केदारनाथ सिंह लिखते हैं, ''उनकी कविता का एक दूसरा महत्त्वपूर्ण पक्ष है, उसकी गहरी स्थानीयता। नागार्जुन की हर कविता की जड़ें एक वृक्ष की तरह अपनी मिट्टी में दूर तक धँसी होती हैं। यह स्थानीयता तात्कालिकता का ही दूसरा पहलू है। एक ठेठ देसीपन या स्थानीयता त्रिलोचन में भी है और एक हद तक केदारनाथ अग्रवाल में भी। पर नागार्जुन की 'स्थानीयता' इन दोनों से अलग इस मानी में है कि जब वे अपने परिचित परिवेश या अंचल से बाहर होते हैं, उस समय भी वे उतने ही 'स्थानीय' होते हैं।''[11]

नागार्जुन की काव्य–भाषा कला के प्रति जागरुक तथा सावधान है। तात्कालिकता, स्थानीयता या भदेसपन यहाँ दुर्बलता नहीं बल्कि 'शब्दपाक' की कसौटी पर खरी उतरने वाली विशेषताएँ हैं। हल्के–फुल्के अंदाज़ में देखने पर यह भले लग जाए कि यह काव्य–भाषा सुचिंतित, सुसंबद्ध और कलात्मक नहीं है। प्रचलित मान–मूल्यों से इतर

खुली नजर से देखें तो नागार्जुन की काव्य–भाषा में अलग ढंग का अनुशासन और व्याकरण मौजूद है। अपनी कविताओं में भी वे इन बातों की चर्चा करते हैं। प्रगतिशील काव्य–भाषा की कलात्मकता निश्चित रूप से अलग ढंग की रही है। शिवकुमार मिश्र नागार्जुन की भाषा को कुछ इस नजरिये से देखने का सुझाव देते हैं, ''नागार्जुन के रचना–शिल्प पर, वह कविता का हो अथवा उपन्यास का, लापरवाही बरतने का या भदेसपन का आरोप लगाया जाता है। हम जानते हैं कि इस प्रकार के आरोप उसी वर्ग के द्वारा उनके ऊपर लगाए जाते हैं जो उनकी रचनाशीलता की अन्तर्वस्तु और उसके ताप से अपनी संगति नहीं बिठा पाते, उसे सह नहीं पाते। भदेस या भोंड़ापन उसमें उन्हीं को दिखाई पड़ता है जो कविता तथा साहित्य की एक निहायत अभिजात, सामन्ती समझ के कायल हैं। कविता को कामिनी की तरह स्वीकार करने वाले जरूर नागार्जुन की कविता में वैसा रचाव–बनाव न देखकर उसे भदेस और भोंड़ा कहेंगे, किन्तु जिन्हें कविता के जनवादी चरित्र की ज़रा भी पहचान है, अथवा साहित्य और कला से जिनका नाता महज भोग्य और भोक्ता का न होकर उससे परे उन्हें ज़िंदगी के बड़े सरोकारों की ओर ले जाने वाला है, वे कदापि नागार्जुन– जैसे सजग और सचेष्ट रचनाकार के बारे में इस प्रकार की हल्की बातें नहीं करेंगे। यह सही है कि नागार्जुन ने कविता की अंतर्वस्तु के मूल्य पर उसका साज–सिंगार या रचाव नहीं किया है, किन्तु इसके माने यह नहीं है कि वे अपनायी गयी विधा के रचना–शिल्प के बारे में असावधान रहे हैं। प्रगतिशील रचनाशीलता पर निहायत नासमझी से इस प्रकार का आरोप लगा दिया जाता है कि वह कला तथा शिल्प के प्रति उदासीन रहती है, उसकी उपेक्षा करती है। इसके विपरीत तथ्य यह है कि सार्थक प्रगतिशील रचनाशीलता सदैव अनुभूति, विचार और अभिव्यक्ति की एकात्मकता में ही निखरी है और निखरती है। ठेठ नागार्जुन को ही लेकर बात करें जिनपर कला तथा शिल्प की उपेक्षा का आरोप आमतौर पर चस्पाँ कर दिया जाता है, तो जैसा कि हम कह चुके हैं, वे कतई कला की अपनी निजी ज़रूरतों के प्रति उदासीन नहीं रहे हैं, उसका सम्बन्ध कथ्य से हो या उसकी अभिव्यक्ति से। मैंने स्वतः कविता के एक–एक शब्द तथा एक–एक पंक्ति के साथ उन्हें घंटों संघर्ष करते, जूझते देखा है। दण्डी ने जिसे 'शब्दपाक' कहा है, नागार्जुन की शब्द–साधना कुछ वैसी ही है, और सही अभिव्यक्ति का संतोष भी उनके चेहरे पर उसी प्रकार झलकता है। यह कोरी शिल्प सजगता नहीं, अपनी सारगर्भी वस्तु के लिए अनुकूल अभिव्यक्ति पाने की कोशिश है।''[12]

मैथिली, हिन्दी, संस्कृत और बाँग्ला में कविता रचने वाले नागार्जुन चारों भाषाओं की प्रकृति को लगभग समान रूप से आत्मसात् किए हुए हैं, जैसे तुलसीदास के यहाँ अवधी और ब्रज के मामले में देखा जा सकता है। नागार्जुन की काव्य–भाषा इन सभी भाषाओं में जनवादी स्वभाव लिए हुए हैं। वस्तुतः कवि का स्वभाव सर्वत्र मौजूद है। शिव कुमार मिश्र का विचार है, "कविता की बात करें तो संस्कृत, मैथिली और हिन्दी– तीन भाषाओं की समृद्ध काव्य–परम्पराओं की विरासत को आत्मसात किए हुए वे कविता की जमीन पर उतर रहे हैं। बँगला की सम्पन्न काव्य–परम्परा से भी वे समान रूप से जुड़े रहे हैं। हिन्दी के अलावा मैथिली, संस्कृत, बाँग्ला– सभी भाषाओं में वे समान अधिकार के साथ काव्य–रचना करते हैं, और इन भाषाओं की उनकी कविता मर्मज्ञों के द्वारा सराही भी गयी है। हिन्दी के अपने छन्दों के अलावा संस्कृत के पिंगल–शास्त्र पर उनका गहरा अधिकार रहा है। ये वे भाषाएँ और उनकी यह वह काव्य–परम्परा है जिसके साथ नागार्जुन की रचनाशीलता का खून का रिश्ता माना जा सकता है।"[13]

नागार्जुन की काव्य–भाषा के विविध रूप उपर्युक्त उद्धरणों एवं विश्लेषण में मौजूद हैं। इस प्रसंग में कुछ और बातें जोड़ने की आवश्यकता महसूस की जा सकती है। नागार्जुन की काव्य–भाषा पर संस्कृत और मैथिली के प्रभाव को स्पष्टतः रेखांकित किया जा सकता है। बँग्ला ने भी उनकी हिन्दी को प्रभावित किया है। इन सबके अलावा उनकी काव्य–भाषा का बड़ा हिस्सा ऐसा है जिसके स्रोतों की पहचान करना आवश्यक है।

हिन्दी काव्य–भाषा की अपनी परंपरा में ब्रजभाषा और अवधी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन दोनों काव्य–भाषाओं की निर्मिति में संस्कृत, अपभ्रंश और अन्य प्रभाव को स्वीकारा गया है। नागार्जुन के संदर्भ में यह कहना प्रासंगिक है कि अवधी और ब्रज काव्यभाषा के रास्ते से भी उन्हें बहुत कुछ मिला। 'स्वेत स्याम रतनार' वे गुलाम नबी 'रसलीन' के दोहे से लेते हैं, जो रीतिकाल की ब्रजभाषा में है। 'पाषाणी' में अवधी की अनुगूँज मौजूद है।

इसी तरह छायावाद से मुक्ति के प्रयास के बावजूद छायावादी काव्य–भाषा की गहरी छाप नागार्जुन की काव्य–भाषा पर है। जनवादी और प्रगतिवादी काव्यभाषा बताने का यह कतई मतलब नहीं है कि हिन्दी काव्य–भाषा की अपनी सशक्त परंपरा की पहचान नागार्जुन में न की जा सके।

नागार्जुन दोनों दृष्टियों से अपनी काव्य–भाषा को महत्त्वपूर्ण बना देते हैं। पहली यह कि इसमें हिन्दी काव्य–भाषा की हजार बरस की परंपरा की पहचान मौजूद है।

दूसरी यह कि इसमें इतना कुछ नया भी है कि लंबे समय तक कवियों के लिए यह काव्य–भाषा प्रासंगिक और प्रेरणा–स्रोत बनी रहे।

भाषा की स्थानीयता और क्षेत्रीयता को हिन्दी में ढालकर कविता लिख लेना नागार्जुन का एक सशक्त पक्ष है। भोजपुरी टोन की हिन्दी, मैथिली टोन की हिंदी, बँगला शैली की हिन्दी, अंग्रेजी मिश्रित शहरी शैली की हिंदी और न जाने कितनी किस्म की हिंदी को वे काव्य भाषा बना सकने में सफलता पाते हैं। यह भी ध्यान हो आता है कि तमाम विविधताओं को समेटने के बावजूद नागार्जुनी छाप हर जगह मौजूद मिलती है।

यदि नागार्जुन की काव्यभाषा को वर्गीकृत करने की कोशिश की जाए तो मतवैभिन्य एवं मतबाहुल्य की स्थिति सामने आती है। इन्हीं में से चुनकर वर्गीकृत करके विश्लेषण करने का प्रयास यहाँ किया जा रहा है। पहले बिन्दुवार वर्गों को रखना उपयुक्त होगा–

- संस्कृत प्रभावित एवं लालित्यपूर्ण भाषा
- सामाजिक यथार्थ की भाषा
- राजनीतिक व्यंग्य की भाषा
- आंदोलनों की भाषा
- गीतों की भाषा
- यात्री रूप से प्रभावित भाषा।
- मैथिली से प्रभावित भाषा
- बँग्ला से प्रभावित भाषा
- जनसंबोधित भाषा
- पौराणिक संदर्भों से युक्त भाषा
- तत्सम और देशज के मेल से बनी भाषा
- स्थानीयता को व्यापकता प्रदान करने वाली भाषा
- वैचारिक निर्द्वन्द्वता की भाषा
- गंभीरता और तात्कालिकता से मिलकर बनी भाषा
- देशीपन अथवा स्थानीयता में भी 'शब्दपाक' की क्षमता रखने वाली भाषा
- जनवादी चरित्र वाली भाषा चाहे वे संस्कृत, मैथिली अथवा बँग्ला में ही क्यों न लिख रहे हों।
- अनुभूति, विचार और अभिव्यक्ति की एकात्मकता से निखरी काव्य भाषा

अध्ययन की सुविधा और वर्गीकरण के अनुशासन को ध्यान में रखते हुए उपर्युक्त सूची को निम्नलिखित शीर्षकों में बाँटा जा सकता है–

(क) नयी काव्य–भाषा के लिए आत्मसंघर्ष
(ख) सामाजिक जीवन की कविता और भाषा
(ग) राजनीतिक व्यंग्य और काव्य–भाषा
(घ) आंदोलनधर्मी कविता की भाषा
(ङ) गीतों की भाषा

नागार्जुन की कविताओं के माध्यम से इस वर्गीकरण का विश्लेषण यहाँ प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा है। उपर्युक्त पाँच शीर्षकों को इस अध्याय के उपअध्यायों के रूप में यहाँ रखा जा रहा है।

(क) नयी काव्य–भाषा के लिए आत्मसंघर्ष

'नागार्जुन रचनावली' के संपादक शोभाकांत ने 'निर्वासित' शीर्षक कविता से रचनावली की शुरूआत की है। 'निर्वासित' जून 1936 में 'विशाल भारत' में प्रकाशित हुई थी, जो अब 'हजार हजार बाँहों वाली' में संगृहीत है। 'निर्वासित' को नागार्जुन की पहली कविता कह सकते हैं। शोभाकांत ने लिखा है, "नागार्जुन की प्रथम प्रकाशित रचना 1929 ई. की है। वह रचना है एक मैथिली कविता, जो 'मिथिला' (लहेरियासराय, दरभंगा) नामक पत्रिका में छपी थी। 'राम के प्रति' उनकी पहली हिन्दी कविता है, जो 1934 ई. में लाहौर से निकलने वाले साप्ताहिक 'विश्वबंधु' में छपी। हम इस हिंदी कविता को खोजने में अब तक सफल नहीं हुए हैं।"[14]

नागार्जुन की काव्य–भाषा के स्वरूप के विश्लेषण का प्रारंभ 'निर्वासित' की भाषा से किया जा सकता है। कविता की शुरुआत इस तरह से है–

"पहले से ही उद्वेलित तेरे मानस की लहरें !
इस मामूली–सी घटना से मत चंचल हो; ठहरें !"[15]

'मानस की लहरें' छायावादी प्रभाव से उठी हैं तो 'उद्वेलित' और 'चंचल' का प्रयोग छायावादी शैली में किया गया है। 'लहरें' और 'ठहरें' की तुकबंदी में कच्चापन है। 'मामूली–सी घटना' में छायावादी शैली से मुक्ति का प्रयास है। नयी काव्य–भाषा के लिए आत्मसंघर्ष की यह बानगी है।

नागार्जुन की पढ़ाई संस्कृत में हुई थी। अपने संस्कृत–ज्ञान का उपयोग प्रयासपूर्वक करते नज़र आते है। इसी कविता में वे आगे लिखतें हैं– "माँ, तिल–तिल करके मत जलना आनखशि–आपाद' इसी क्रम में 'आजीवन दंडित सुत', 'हृदय–द्रावक अश्रुपूर्ण अनुरोध', 'अस्फुट–सा क्रोध', 'भीरु–प्रकृति' का प्रयोग किया गया है। संस्कृत शब्दों के उपयोग में नागार्जुन यह सावधानी ज़रूर बरतते हैं कि सामासिक पद अथवा संधि के कारण दुर्बोधता न आने पाए। स्पष्ट भावबोध और सुबोध शब्द–प्रयोग उनकी तत्सम शब्दावली में मौजूद हैं।

'रचनावली' की दूसरी कविता है 'बेकार'।[16] 'बेकार' की निम्नलिखित पंक्तियों को नागार्जुन की जीवनी के क्रम में प्रायः याद किया जाता है–

"कभी घुमक्कड़ यार–दोस्त से मिलकर कभी अकेले–
एक–एक दाने की खातिर सौ–सौ पापड़ बेले।"[17]

शुरुआती दौर में भी नागार्जुन बोलचाल की मुहावरेदार भाषा में कविता लिख रहे थे। उनकी यह शैली आगे चलकर आंदोलनों और राजनीतिक व्यंग्य से जुड़ी कविताओं में विकसित हुई। स्वयं को महिमामंडित करने के बजाय स्वयं पर व्यंग्य करना इसी शैली का विकास है। नागार्जुन निर्ममतापूर्वक अपनी भी आलोचना जीवन के अंत तक की कविताओं में इसी शैली में करते रहे, हालाँकि इनमें गहरा नैतिक–बोध और सच के प्रति जवाबदेही सर्वत्र मौजूद है।

'कालिदास'[18] की काव्य–भाषा नागार्जुन को कई कारणों से प्रिय है। इसका उपयोग वे 'बादल' को घिरते देखा है'[19] में भी करते हैं। एक पंक्ति 'अमल धवल गिरि के शिखरों पर' दोनों कविताओं में हू–ब–हू मौजूद है। यह आवृत्ति इस पंक्ति और इसकी भाषा से लगाव के कारण है–

> ''कालिदास, सच–सच बतलाना/पर पीड़ा से पूर–पूर हो
> थक–थककर औ' चूर–चूर हो/अमल–धवल गिरि के शिखरों पर*
> प्रियवर, तुम कब तक सोए थे?/रोया यक्ष कि तुम रोए थे?
> कालिदास, सच–सच बतलाना!''[20]

'बादल को घिरते देखा है' की पंक्तियाँ–

> ''अमल धवलगिरि के शिखरों पर*/बादल को घिरते देखा है
> ...../कहाँ गया धनपति कुबेर वह
> कहाँ गयी उसकी वह अलका/नहीं ठिकाना कालिदास के
> व्योमप्रवाही गंगाजल का,/ढूँढ़ा बहुत परंतु लगा क्या
> मेघदूत का पता कहीं पर,/कौन बताए वह छायामय
> बरस पड़ा होगा न यहीं पर,/जाने दो, वह कवि–कल्पित था,
> मैंने तो भीषण जाड़ों में,/नभ–चुम्बी कैलाश शीर्ष पर
> महामेघ को झंझानिल से/गरज–गरज भिड़ते देखा है,
> बादल को घिरते देखा है।''[21]

इस काव्य–भाषा की निर्मित के कुछ घटकों पर स्पष्ट रूप से ध्यान जाता है– छायावाद, संस्कृत, कालिदास का साहित्य, बोल–चाल की भाषा से ली गयी क्रियाएँ तथा मात्रिक प्रवाह का समचरण छंद। छायावादी शैली के साथ संस्कृत और कालिदास के साहित्य को नागार्जुन ने खूब फेंटा है। छंद भी गतिशील और अंत्यनुप्रासवाला है। क्रियाएँ 'रोए थे', 'धोए थे', 'सोए थे' या 'बतलाना', 'मन जब उचटा' के साथ नागार्जुन इन सब को मिलाते हैं तो सबकुछ उनका अपना हो जाता है। ये क्रियाएँ भाषा के लोक–रूप से

ली गई हैं। 'कालिदास, सच–सच बतलाना!' से कविता शुरू होती है, तो लगता है कि नागार्जुन दोस्ताना बातचीत कर रहे हैं। 'घृतमिश्रित सूखी समिधा–सम', 'वर्षा ऋतु की स्निग्ध भूमिका', 'प्रथम दिवस आषाढ़ मास का', 'अमल धवल गिरि के शिखरों पर'– पंक्तियाँ कालिदास और संस्कृत से जुड़ती हैं। विशेषता यह है कि इन पर भी नागार्जुन की अपनी छाप है। नागार्जुन प्रयास कर रहे थे कि उनकी पहचान बनाने वाली काव्य–भाषा में सबकुछ के बावजूद लोकतत्त्व मौजूद रहे। नागार्जुन काव्य–भाषा के किसी भी रूप को अपनाते या बनाते हैं, उसमें लोक, आम या जन का सौन्दर्य बोध/भावबोध आ ही जाता है–

> "ऋतु बसंत का सुप्रभात था/मंद–मंद था अनिल बह रहा
> बालारुण की मृदु किरणें थीं/अगल–बगल स्वर्णाभ शिखर थे
> एक–दूसरे से विरहित हो/अलग–अलग रहकर ही जिनको
> सारी रात बितानी होती,/निशाकाल के चिर–अभिशापित
> बेबस उन चकवा–चकई का/बंद हुआ क्रंदन, फिर उनमें
> उस महान सरवर के तीरे/शैवालों की हरी दरी पर
> प्रणय–कलह छिड़ते देखा है/बादल को घिरते देखा है।"[22]

संस्कृत इन पंक्तियों का कलेवर मात्र है। तत्समता और संस्कृत निष्ठता से उत्पन्न दुर्बोधता यहाँ नहीं है। संस्कृत के शब्द यहाँ कथ्य को परिवेश प्रदान कर रहे हैं। यह परिवेश कथ्य को बोधगम्य बना रहा है। लगता है नागार्जुन कोई कथा सुना रहे हों कि बसंत की सुबह थी और मंद–मंद हवा चल रही थी। बाल अरुण की मृदु किरणें फैल रही थीं और अड़ोस–पड़ोस के शिखरों को सुनहला बना रही थीं। 'अगल–बगल' इस काव्य–भाषा में प्रवेश कर सजातीय हो गया है और सौन्दर्य को बढ़ा रहा है। फिर कहानी शुरू होती है प्रसिद्ध चकवा–चकई की प्रेमाकुलता की और पूर्णता होती है इस बात में कि 'प्रणय–कलह छिड़ते देखा है।' यदि 'प्रणय' को हटा दिया जाए तो 'कलह छिड़ते देखा है' का प्रभाव समाप्त हो जाता है। संस्कृत का उपयोग प्रभाव बढ़ाने के लिए नागार्जुन करते हैं। यह भी कहा जा सकता है कि तत्समता उनका लक्ष्य नहीं है।

ऊपर के दोनों काव्यांशों में वे सारी विशेषताएँ मौजूद है जिनकी चर्चा 'कालिदास' के संदर्भ में की गयी है। यहाँ भी संस्कृतनिष्ठ पंक्तियाँ मौजूद हैं– 'व्योम प्रवाही गंगाजल का', 'नभ चुम्बी कैलाश शीर्ष पर', 'निशाकाल के चिर–अभिशापित', 'शत–शत निर्झर–निर्झरिणी–कल', 'रजत–रचित मणि–खचित कलामय' आदि। गिरते, घिरते, तिरते,

छिड़ते, चिढ़ते, भिड़ते, फिरते में से कोई भी क्रिया लोक–व्यवहार की भाषा से बाहर की नहीं है। यहाँ भी मात्रिक छंद का प्रवाह समचरण वाले छंद के साथ प्रयुक्त हुआ है।

नागार्जुन अपने शुरुआती दशक में इस काव्य–भाषा को अन्य कविताओं में भी माँजते नज़र आते हैं– सफ़ेद बादल (1943), 'तब मैं तुम्हें भूल जाता हूँ' (1943), 'सिन्धु नद' (1944), वलाका (1944) आदि। 'सफेद बादल'[23] की पंक्तियाँ उदाहरणस्वरूप देखी जा सकती है–

नगपति, तव हिममय शिखरों पर/ये सफ़ेद बादल छाए हैं,
नीचे है बर्फानी चोटी/ऊपर–ऊपर नील गगन है
और बीच में श्वेत मेघ के/दृश्य देख कवि हृदय–मगन है।
जाने ये किस विरही का/कैसा संदेश लाए हैं।
क्या जाने ये किस कुबेर की/कवि–कल्पित अलका जाएँगे!
क्या जाने ये किस विरहिन के/नयन–नीर छलका आएँगे!
क्या जाने इनसे किसका दिल/शीतल होगा, तापित होगा!
क्या जाने इनकी मस्ती में/कौन–कौन अभिशापित होगा!
कालिदास का साथ छोड़कर/मंदाक्रांता छंद तोड़कर
क्या जाने तेरी गोद में/कब के थके उतर आए हैं!''[24]

छायावाद, संस्कृत, कालिदास का साहित्य, लोक व्यवहार की क्रियाएँ– इनसे मिलकर बनी काव्य–भाषा 'सफेद बादल' में भी है। 'तब मैं तुम्हें भूल जाता हूँ'[25] अपेक्षाकृत प्रसिद्ध कविता है जो वात्सल्य के आकर्षण की सफल अभिव्यक्ति के कारण प्रायः उद्धृत की जाती है। इसकी काव्यभाषा भी लगभग इसी वर्ग की है–

''जब अबोध शिशुओं से घिरकर/मुदित चित्त बैठा होता हूँ
बिना हेतु ही वे हँस पड़ते/मैं भी कुछ मुसका देता हूँ
जब सहस्रदल कमलों का–सा/खिला हुआ उनका मुखमंडल
तनिक ध्यान में भी लाता हूँ/तब मैं तुम्हें भूल जाता हूँ''[26]

इस कविता में भी कालिदास का जिक्र है– ''कालिदास के पद गाता हूँ।'' 'सिन्धु नद'[27] थोड़ी लम्बी कविता है। 'हे सिंधु, देख तव अमियधार/ गदगद होता हूँ बार–बार' से कविता शुरू होती है। 'तव', 'अमियधार' जैसे संस्कृत शब्द के साथ क्रिया लगाई– 'गदगद होता हूँ'– एकदम चलती भाषा से लेकर। भारत का गौरव–गान करती हुई

कविता स्वतन्त्रता आंदोलन के प्रति ऊर्जा भरने का संदेश लिए हुए है। नागार्जुन इस काव्य–भाषा में नए विषयों को भी आजमा रहे थे–

"वह विश्वविजय की प्रबल प्यास/वह ऋचापाठ वह मंत्रगान
तेरे हिय–पट पर अंकित है/उपनिषदों का वह आत्म–ज्ञान
ऋक् यजुष साम और अथर्व/संस्कृत का वह उद्योग पर्व
कल्पना यहीं अंकुरित हुई/चेतना यही संस्फुरित हुई
तुम धन्य मोहनजोदड़ो धन्य/वह विश्व–विदित भग्नावशेष
तव अंचल में संचित शत–शत/भाषा–भूषा और भाव–भेष।"[28]

संस्कृत, वैदिक संस्कृति, इतिहास, दर्शन शास्त्र के साथ सिंधु को प्रतीक बनानेवाली काव्य–भाषा नागार्जुन के हाथों सहज–सरल रूप में लिखी जा रही थी। 'बादल को घिरते देखा है' में 'उन्मद किन्नर–किन्नरियों' की 'मदिरारुण आँखों' और 'पानपात्र द्राक्षासव–पूरित' का प्रभाव वंशी के संगीत में दिखाया गया है। 'सिंधु नद' में भी पर्वतीय जीवन और निवासियों का चित्रण ऐसी ही शैली में हुआ है–

"मृगयाओं से थक–थक करके/पीते होंगे छक–छक करके
सुस्वादु सोमवल्ली कषाय/उथले चषकों में ढाल–ढाल
फिर शृंगविनिर्मित धनु सँभाल/भर तरकस में विषलिप्त तीर
तेरी कछार के झाड़ों में/गुल्मों में और दराड़ों में
दानवों–दस्युओं को खोजा/करते होंगे वे आर्यवीर।"[29]

इस काव्य–भाषा की रोमानियत आकर्षित करती है। भाषा के स्तर पर रोमानियत का मतलब यह हुआ कि चित्रण के शब्द अपनी ध्वनि और अर्थ–छायाओं के कारण कहीं से भी दुखद न लगें। यहाँ ध्यान दिया जा सकता है कि मनुष्य का शिकारी जीवन अनेक कठिनाइयों से भरा होगा। तीर–धनुष का युग और जंगल का परिवेश साहस एवं वीरता की मांग करते होंगे। परंतु कवि ने ऐसी काव्य–भाष अपनायी जो रोमानी होने के कारण चित्रण को सुखद एवं आकर्षक बना दे रही है।

'वलाका' में प्रकृति, कालिदास, मेघदूत के साथ विद्यापति और वागमती नदी का जुड़ाव हो गया है। मिथिला का इस काव्य–भाषा से जुड़ना लोकतत्त्व के सौन्दर्य से समृद्ध होना है। मानो 'कालिदास' शीर्षक कविता से जो काव्य–भाषा शुरू हुई थी, वह विकसित होती हुई नागार्जुन की पहचान के साथ जुड़ती जा रही थी। संस्कृत की मात्रा

थोड़ी कम हुई और विद्यापति–वागमती के माध्यम से जनता का मन–मिजाज़, रुचि–बोध से काव्यभाषा ताजगीयुक्त होने लगी। रोमानियत की प्रवृत्ति बनी रही–

हाथी जैसे झूम–झूमकर / काले बादल उड़े जा रहे
विरही कालिदास के मन में / मेघदूत के ध्यान आ रहे!
पाकर आषाढ़ी बूँदों की / बिना गुँथी ही मुक्तावलियाँ
झीलों में खिलखिला उठी हैं / स्वर्णकमल की अविकच कलियाँ
परम मनोहर अमराई में / आसमान से उतर–उतर कर
परियाँ लगीं झूलने झूले / ग्राम्य बालिका का स्वरूप धर
दूरागत वंशी–ध्वनि में सुन / श्रीराधा का नाम
हाथ जोड़कर विद्यापति को / मैंने किया प्रणाम
वागमती के तट पर बैठे / उत्सुक कवि ने ऊपर ताका
उड़ी जा रही नीलगगन में / पवन–पंख पर विमल वलाका![30]

नयी काव्य–भाषा के लिए आत्मसंघर्ष करते हुए नागार्जुन विषय के अनुसार एकदम अकाव्यात्मक, गद्यात्मक और रोमानियत से परे भाषा का प्रयोग करते हैं। 'जया'[31] एक बहरी–गूँगी चार साल की लड़की है, माँ–बाप ग़रीब हैं–

वह बोल नहीं सकती / लेकिन उसकी भी अपनी भाषा है
काफी है सूझ–समझ उसमें, सुख है, दुख है, अभिलाषा है
माँ–बाप गरीब, न कर सकते कुछ प्रतीकार बहरेपन का
सोचा होगा पकड़ा देंगे कोई पथ जीवन–यापन का
बन सकती है वह चित्रकार / ले सकती है वह नाच सीख
जिससे न किसी पर पड़े भार / जिससे न माँगनी पड़े भीख
लेकिन यह तो बस सपना है / चलता भी कुछ बस अपना है !
कैसा असह्य, कैसा जर्जर / यह मध्यवर्ग का निचला स्तर !
स्कूली जीवन के साधारण मास्टर का हो किसमें लेखा !
मैंने झाँका तो यह देखा– / बाहर सफेद, अंदर धुँधला
क्या कर सकता वह बाप भला
बहरी–गूँगी उस बच्ची की शिक्षा–दीक्षा का इंतजाम !
फिर काफी है होशियार / वह खेल–खेल में सीख चुकी
मुझसे ही अब तक कई काम / उस लड़की का है जया नाम ![32]

नागार्जुन की ऐसी असंख्या कविताएँ हैं, जिनके पात्र पाठक के लिए अपरिचित हैं। पात्र की समस्या और गतिविधि के माध्यम से हम जान जाते हैं कि यह विषय मार्मिक

और मानवता से जुड़ा हुआ है। 'जया' जैसी अनेक बच्चियाँ चिकित्सा के अभाव में जीवन की सामान्य खुशियों से वंचित रह जाती हैं। स्कूली मास्टर इतना सक्षम नहीं है कि बेटी की अच्छी चिकित्सा कर सके। 'जया' प्रतिभाशाली भी है। 'मध्यवर्ग का निचला स्तर' इस कविता को 'जया' से लेकर पूरे वर्ग तक फैल जाता है। ऐसी कविताओं की भाषा नागार्जुन प्रायः गद्यात्मक और गैर–रोमानी रखते हैं। उनका यह प्रयोग आगे चलकर काफी निखरा, जब वे तात्कालिक घटनाओं पर कविता लिखने लगे। उन घटनाओं के बारे में प्रायः यही राय बनती थी कि इन पर कविता नहीं लिखी जा सकती है। नागार्जुन पूरी घटना के कथ्य को साफ–सुथरी सुलझी भाषा में रखते हुए ऐसा रूप प्रदान कर देते थे कि कविता का एहसास भी पाठक में बना रहता था। 'उस लड़की का है जया नाम' की आवृत्ति इस कविता की भाषा को काव्यात्मकता प्रदान करती है।

ऐसी ही भाषा में नागार्जुन कवि–कर्म की आर्थिक कठिनाई जैसे विषय को उठाते हैं। जन–कवि के पास पैतृक जायदाद नहीं है और कलम के सहारे साहित्य लेखन की जीविका से धनोपार्जन संतोषजनक नहीं हो पाता। दूसरी तरफ कलावादी मिजाज के संपन्न कवियों का वर्ग है। दोनों के साहित्यिक उद्देश्यों और साहित्यिक–रूचि में अंतर है। नागार्जुन इस विषय को लगभग गद्यात्मक भाषा में उठाते हैं। यहाँ की काव्य–भाषा सहज भाव से वैचारिक हो गयी है। वे इसका उपयोग जीवन भर करते रहे। उनकी काव्य–भाषा का यह महत्त्वपूर्ण रूप है जो आगे चलकर क्रमशः निखरता गया। नागार्जुन नयी काव्य–भाषा के लिए आत्मसंघर्ष के प्रारंभिक दौर में अनेक प्रयोग करते हैं। कुछ प्रयोगों की आवृत्ति बाद तक दिखायी पड़ती है। खासियत यह है कि नागार्जुन कोई बना–बनाया ढाँचा नहीं रखते। अपने ही भाषा–रूप में कुछ नया मिलाकर ताजगी प्रदान करने में उन्हें कुशलता हासिल है। यही कारण है कि 'नागार्जुन रचनावली–2' में दी गयी उनकी अंतिम कविता 'मायावती–मायावती' (10 जुलाई 1997) की काव्य–भाषा के बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि वह आवृत्तिमात्र है अथवा उसमें नयापन नहीं है। इस कविता में वे कांशीराम को 'दलितेंद्र' कहते हैं। यह शब्द नागार्जुन के काव्य–संसार में पहली बार प्रयुक्त हुआ है, जबकि यह उनकी अंतिम कविता है। इसलिए यह कहा जाना चाहिए कि नागार्जुन नयी काव्यभाषा के लिए आजीवन संघर्षरत रहे–

मायावती–मायावती / दलितेंद्र की छायावती–छायावती
..... / दलितेंद्र कांशीराम
भाषण देते धुरझार / सब रहते हैं दंग

बज रहे दलितों के मृदंग/जय–जय हे दलितेंद्र
आपसे दहशत खाता केंद्र/करे चढ़ाई
बाबा विश्वनाथ पर/प्रभो, आपसे शंकित है केंद्र
जय–जय हे दलितेंद्र।[33]

ऊपर जिस कविता का जिक्र किया जा रहा था, उसके संदर्भ में, एक और उल्लेखनीय बात है कि निराला भी इस तरह की समस्या उठाते हैं। 'मित्र के प्रति', 'वनबेला' में वे साहित्य–सर्जन की कठिनाइयों, कवि की आर्थिक स्थिति, काव्य–दृष्टि – कलावादी अथवा जनवादी – प्रकरण को व्यक्त करते हैं। उनकी काव्यभाषा इन कविताओं में छंदोबद्ध एवं संस्कृतनिष्ठ छायावादी है। नागार्जुन लगभग समान विषय को छंदमुक्त और बोलचाल की भाषा में प्रस्तुत करते हैं। शायद संयोग है कि 'अनामिका' में संगृहीत निराला की कविता का शीर्षक 'मित्र के प्रति' है तो 'युगधारा' में संगृहीत नागार्जुन की कविता का शीर्षक 'एक मित्र को पत्र' है। दोनों कविताएँ 'मित्र' के लिए हैं। विषय और शीर्षक की कुछ समानता तो है, किन्तु भाषा भिन्न है–

''बंधु, मेरे पास भी यदि/बाप–दादों की उपार्जित भूमि होती
धान होता बखारों में/आम–कटहल–लीचियों के बाग होते
पोखरा होता मछलियों से भरा/फिर क्या न मैं भी
याद कर प्रथमा द्वितीया या तृतीया (प्रेयसी) को
सात छेदों की रूपहली बाँसुरी में फूँक भरता
वैष्णवों की विरहिणी वृषभानुजा के नाम पर ही सही
फिर भी फूँक भरता .....
निकलता चाँदी मढ़ी सुसराल की वह छड़ी लेकर
बीच में मैं, हरित–श्यामल खेत चारों ओर .....
श्लील या अश्लील कुछ भी गुनगुनाता मदिर–मुग्ध विभोर
किन्तु यह सब/असम्भव था वहाँ मेरे हेतु
इसी से तो भाग आता इधर ही, हे मित्र, बारम्बार।[34]

कविता में काव्य–लेखन की आलोचना की भाषा गद्यात्मक होते हुए भी कविताई से युक्त है। प्रगतिवादी और प्रयोगवादी काव्य–दृष्टि के मतभेदों और मन–मुटाव को व्यंग्य–विनोद, परिहास, कटाक्ष एवं वर्ग–भेद के विवरणों के साथ सटीक भाषा में व्यक्त किया गया है। 'प्रथम द्वितीया या तृतीया' में अज्ञेय की कविता पर व्यंग्य है। 'श्लील–अश्लील' में प्रयोगवाद की काम–कुंठित कविताओं की स्तरहीनता का संकेत है।

इसके बाद कवि ने श्रमशील जनवादी लेखक के रूप में स्वयं को पेश करते हुए साहित्य के प्रति अपना नजरिया कुछ इस तरह रखा है–

"कलम घिसकर कमा लेता रोज पैसे चार
इस तरह के और भी हैं लोग/व्यास और वाल्मीकि के स्तुतिकार
कलमघिसुओं का हमारा यह नया संसार
किसी भी श्रीमंत से क्या माँगता है भीख?
लेखनी ही है हमारा फार/धरा है पट, सिंधु है मसि पात्र
तुच्छ से अति तुच्छ जन की जीवनी पर हम लिखा करते
क्योंकि हमको स्वयं भी तो तुच्छता का भेद है मालूम
कि हम पर सीधे पड़ी है गरीबी की मार
सुविधा–प्राप्त लोगों ने सदा समझा हमें भू–भार।"[35]

चलती भाषा को कलात्मक बनाने का प्रयास किए बिना कविताई का एहसास करा देना नागार्जुन की विशेषता है। प्रयोगवादी कवियों ने भी प्रायः बोलचाल की भाषा को ही मुख्य आधार बनाया, पर वह भाषा जनता से न लेकर स्वरचित है। उनके शब्द प्रायः परिचित रहते हैं किन्तु उनके वाक्यों का पूरा मतलब और खासकर पूरी कविता का संदेश अपेक्षाकृत कम स्पष्ट होता है। प्रयोगवादी कवियों की काव्य–भाषा बोलचाल की भाषा होने का भ्रम पैदा करती है, वह प्रायः कवि की निर्मित भाषा होती है, इसलिए वहाँ कलावादी दृष्टि प्रमुख हो जाती है।

प्रयोगवादी काव्य–भाषा की अतिकलावादी दृष्टि पर नागार्जुन प्रायः व्यंग्य करते हैं। भाषा में धुँधलापन के वे सख्त विरोधी हैं। ऐसा नहीं कहा जाना चाहिए कि वे 'सप्तकों' के आयोजन के विरोधी थे। उनकी मान्यता थी कि कवियों को मंच प्रदान करने के नाम पर 'फ्रीडम ऑफ़ कल्चर' के षड़यंत्र को बढ़ावा न मिले। संपादक बनकर मठाधीश बनने की आकांक्षा और नवोदित कवियों को 'दत्तक पुत्र' बनाकर उपकृत करने की प्रवृत्ति के विरुद्ध नागार्जुन व्यंग्य करते हैं। 'नीली झील और जलचर' शीर्षक कविता में भाषा को अजीबोगरीब बनाए जाने का गहरा उपहास उड़ाया गया है–

"नीचे भी ऊपर भी/क्या ही खूब मद्धिम आँच देते हो
अर्क चुआ लेते हो/होता है अद्‌भुत रसायन तैयार
जय हो पुट–पाँक की?/धन्य–धन्य यह दुहरी–तिहरी मुस्कान.....
वज्रयान, गुह्ययान/मात हुए सभी पंथ/खुल गए गाथा–ग्रंथ

तैयार हों कुछ और पुत्र दत्तक/पूरा हो तीसरा–चौथा सप्तक
खुदा करे पा जाओ चाकरी हजारों की
स्वप्नस्थ भस्मासुर करते परिक्रमा अपने मजारों की
कर लूँ क्या मैं भी विधिवत् आरती?/बाँझ गाय शायद सींग नहीं मारती !
खाती है कुलपति का दिया हुआ भूसा/उधर है 'न्यूयार्क इधर फारमूसा
बीच में लटककर रहा फ्रीडम ऑफ कल्चर
भूल गया नीली झील बेचार जलचर !''[36]

नयी काव्य–भाषा के लिए आत्मसंघर्ष करने की प्रक्रिया का एक पक्ष यह भी है। नागार्जुन उपर्युक्त विरोध को खुलकर प्रकट कर रहे थे। 'अर्क चुआ' लेने के लिए 'नीचे भी ऊपर भी' 'खूब मद्धिम आँच' देने में गहरा व्यंग्य प्रकट हो रहा है। नागार्जुन भाषा का 'अर्क' चुआने के विरुद्ध हैं। 'दुहरी–तिहरी मुस्कान' 'वज्रयान, गुह्ययान' में भाषा के रहस्यमय रूप का विरोध है। इस काव्य–भाषा और इस काव्य–दृष्टि को नागार्जुन 'बाँझ गाय' का रूपक देते हैं, जो 'भूसा' खाती है और 'सींग नहीं मारती' है; मतलब साफ है कि यह भाषा केवल भाषा है। इसमें सच को व्यक्त करने की योग्यता नहीं है। भाषा का बहुआयामी स्वरूप इस काव्य–भाषा में नहीं आ सकता।

कोरे कलावाद से भाषा निष्प्राण हो जाती है। नागार्जुन भाषा की कलात्मक सुंदरता के पारखी है। भाषा के सौन्दर्य का कोई बना–बनाया ढाँचा तो होता नहीं है। नागार्जुन 'जनकवि' होने में भाषा की सुंदरता का आधार मानते हैं। अतः उनकी काव्य–भाषा अर्थ के जनवादी रूप को कसौटी मानती है। 'क्या है कहना' नागार्जुन के लिए महत्त्वपूर्ण है। 'नैतिक', 'सामाजिक', 'भला', 'वाच्य', 'आशय', 'अर्थ'– इन तत्त्वों पर नागार्जुन की काव्य–भाषा बल देती है। 'माँजों और माँजो' शीर्षक कविता में उनकी काव्य–भाषा का स्वरूप तथा काव्य–भाषा विशेष के प्रति उनकी असहमति मौजूद है–

''नहीं–नहीं, अभी नहीं/अभी तो सिरिफ श्रीगणेश है
अपने पदों को बार–बार माँजो/माँजो और माँजो, माँजते जाओ
लय करो ठीक, फिर–फिर गुनगुनाओं/मत करो पर्वाह–क्या है कहना
कैसे कहोगे, इसी पर ध्यान रहे/चुस्त हो सेंटेंस, दुरुस्त हो कड़ियाँ
पकें इत्मीनान से गीत की बड़ियाँ/ऐसी जल्दी भी क्या है?
उस्ताद पुराना, भले शागिर्द नया है/नैतिक–अनैतिक, सामाजिक–असामाजिक
भला या बुरा कुछ भी क्यों न हो/तलकर घोलकर बघारकर कहो
वस्तु है भूसी, रूप है चमत्कार/ध्वनि और व्यंग पर मरता है संसार

वाच्य या आशय पर कौन देता ध्यान/तर्ज और तरन्नुम है शायरी की जान
एक–एक शब्द है दुधारू गाय/उसका दुरुपयोग करना न हाय
हाय रे दैव ! हाय भगवान!/शब्द को दिया क्यों अर्थ का दान
ध्वनि–ही–ध्वनि देते, देते मात्र लय–तान
भावों की दलदल में आकंठमग्न काव्य कला
त्राहि–त्राहि कर रही/उद्धार करो उसका।"[37]

नागार्जुन भाषा को 'गाय' मानते हैं और सलाह देते हुए अपना पक्ष रखते हैं कि उसे 'दुधारू' बनाओ न कि 'बाँझ'। भाषा फलित होती है, उसका स्वरूप और प्रभाव वायवीय नहीं होता। कवि का दायित्व बहुत बड़ा होता है। भाषा की स्वायत्त दुनिया गढ़ना कवि–कर्म को विकृत करना है–

"विष्ठा से भी कई गुना अधिक दुर्गंधमय
तुम्हारे कलाकार का नारकीय टेबुल–टाक!!"[38]

'आत्मा की बाँसुरी' शीर्षक कविता की उपर्युक्त पंक्तियों में कलावाद की जन–उपेक्षा की आलोचना है। कला की उपासना के नाम पर 'स्वायत्त और सुविधासंपन्न ज़िंदगी बिताने की इच्छा रचनाकार को गलत साहित्य–दृष्टि का शिकार बनाती है। छद्म साहित्यिक संगठनों से साहित्य आंदोलन का रूप नहीं ले पाएगा। ऐसे साहित्य से जनता को कोई दृष्टि मिलने वाली नहीं है। ऐसे साहित्यिक आयोजनों का उद्देश्य 'खाओ–पीओ' का हो सकता है। साहित्य की सूक्ष्मता के नाम पर अनर्गल रचनाओं को श्रेष्ठ साहित्य बताना साजिश के सिवा कुछ नहीं। इसी कविता में नागार्जुन लिखते हैं–

जपते रहो निश–दिन माला बनाकर/परिमल–परिमल मकरंद–मकरंद
पराग–पराग–पराग सुरभि–सुरभि–सुरभि
मूठ की मूठ जलाओ अगरबत्तियाँ एक ही बैठक में
गुलाब–गुलदाउदी–चम्पा–चमेली की–/अधखिली कलियों से सजाओ गुलदस्ते
मटनचाप, आइसक्रीम, कटलेट, कॉफी...../करो तरोताज़ा दिल–ओ–दिमाग को
और फिर निकालकर रेशमी रूमाल/तरल त्रिभुज अधरोष्ठ चट से पोंछ लो
आकर ब्याय् ले गए तश्तरियाँ/आरम्भ करो चर्चा
सुलझे अलकों पर फेरकर अँगुलियाँ/आहिस्ते से बोलो.....
शी शी शी शी फु फू फू फू ...../आत्मा की बाँसुरी से उठता है अनहद नाद
सुनने को जिसे अंतःश्रोत चाहिए/सर्वतंत्र स्वतंत्र, निर्लिप्त–निरंजन कलाकार
अंतरतर के प्रति सर्वथा ईमानदार/बड़ी–बड़ी तनखाह, प्रचुरतम रायल्टी
एकमात्र शाश्वत सत्य के प्रति लायल्टी/बाकी सब ठीक है।"[39]

इन कविताओं के माध्यम से नागार्जुन विरुद्ध काव्यभाषा से संघर्ष कर रहे थे। विरोधी पक्ष भाषा की दृष्टि से स्वयं को बड़ा पारखी मानता था। 'परिमल' जैसी संस्था से जुड़े रचनाकारों का दावा बड़ा था। ऐसी स्थिति में भी नागार्जुन अपनी दृष्टि की स्पष्टता के कारण बेबाकी से अपनी बात रखते हैं तथा विरोधियों के प्रति ठोस आधार पर असहमति दर्ज करते हैं। नयी काव्य–भाषा के लिए आत्मसंघर्ष करते हुए नागार्जुन का यह एक महत्वपूर्ण पक्ष है।

नागार्जुन की काव्य–भाषा का एक रूप इस तलाश में भी नज़र आता है कि कविता किसी महान् उद्देश्य के लिए नहीं लिखी गयी हो। साधारण ढंग से कविता शुरू करके चित्रणात्मक शैली में कुछ विवरण और फिर कविता समाप्त हो जाती है। यहाँ कोई महान् उद्देश्य कवि का लक्ष्य नहीं है, पर कविता अपनी चित्रण–क्षमता के कारण आत्मीयता का अनुभव करा देती है। नागार्जुन ने ऐसी अनेक कविताएँ लिखी हैं। उदाहरणस्वरूप 'सुबह–सुबह' शीर्षक कविता रखी जा सकती है–

''सुबह–सुबह/तालाब के दो फेरे लगाए/सुबह–सुबह
रात्रि शेष की भीगी दूबों पर/नंगे पाँव चहलकदमी की
सुबह–सुबह/हाथ–पैर ठिठुरे, सुन्न हुए
माघ की कड़ी सर्दी के मारे/सुबह–सुबह
अधसूखी पतइयों का कौड़ा तापा/आम के कच्चे पत्तों का
जलता, कडुआ–कसैला सौरभ लिया/सुबह–सुबह
गँवई अलाव के निकट/घेरे में बैठने–बतियाने का सुख लूटा
सुबह–सुबह/आंचलिक बोलियों का मिक्स्चर
कानों की इन कटोरियों में भरकर लौटा/सुबह–सुबह।''[40]

ऐसी काव्य–भाषा का विश्लेषण जिन मानदण्डों के आधार पर किया जा सकता है, उनके शास्त्रीय आधारों की खोज व्यर्थ है। यहाँ भाषा के रास्ते परिवेश, अंचल और काव्य–वस्तु की साधारणता पर ध्यान जाता है। गाँव के रहने वाले नागार्जुन शहरी ज़िंदगी से जुड़ गये और लंबे समय के बाद गाँव लौटते हैं तो 'सुबह–सुबह' की अनुभूति को व्यक्त कर रहे हैं। शहरी ज़िंदगी का 'मार्निंग वॉक' गाँव लौटकर कुछ नया महसूस कराता है। 'तालाब के दो फेरे' लगाने के बाद 'नंगे पाँव' 'भीगी दूबों' पर चलना और 'माघ की कड़ी सर्दी के मारे' हाथ–पैर ठिठुरना तो शायद कहीं भी संभव है। यहाँ जो विशिष्ट पहचान है वह यह है कि 'अधसूखी पतइयों का कौड़ा' तापने को मिला। 'आम के

कच्चे पत्तों का' जलते समय 'कडुआ–कसैला सौरभ' पुरानी स्मृतियों को जगा देता है और 'आंचकि बोलियों का मिक्स्चर' मानो कवि के भाषा–बोध को ताजा कर देता है। 'सुबह–सुबह' की आवृत्ति दृश्य–परिवर्तन को क्रम से जोड़े रखती है।

इसी तरह की काव्य–भाषा 'बाघ आया उस रात' शीर्षक कविता में भी दिखती है। बच्चे बाघ की कहानी सुनाकर 'बाबा' को डरा रहे हैं कि 'अब रात को बाहर होकर बाथरूम न जाना'। पूरी कविता बच्चों की बोली–बानी और मनोविज्ञान का रोचक उदाहरण–भर है। भाषा की साधारणता अपने कथ्य को जीवंत और असाधारण रूप से प्रभावशाली बना दे रही है–

"वो इधर से निकला / उधर चला गया SS"
वो आँखे फैलाकर / बतला रहा था :
"हाँ बाबा, बाघ आया उस रात, / आप रात को बाहर न निकलो !
जाने कब बाघ फिर से आ जाए!" / "हाँ, वो ही ी ी ! वो ही जो
उस झरना के पास रहता है / वहाँ अपन दिन के वक्त
गए थे न एक रोज? / बाघ उधर ही तो रहता है
बाबा, उसके दो बच्चे हैं / बाघिन सारा दिन पहरा देती है
बाघ या तो सोता है / या बच्चों से खेलता है...."
दूसरा बालक बोला– / "बाघ कहीं काम नहीं करता
न किसी दफ्तर में / न कालेज में SS"
छोटू बोला– / "स्कूल में भी नहीं ....."
पाँच–साला बेटू ने / हमें फिर से आगाह किया
"अब रात को बाहर होकर बाथरूम न जाना !"[41]

नागार्जुन नयी काव्य–भाषा के लिए संघर्ष करते हुए जिन प्रयोगों से गुजरे उन्हें बिन्दुवार रखना उपयुक्त होगा। इन बिन्दुओं से यह पता चल पाएगा कि नागार्जुन ने काव्य–भाषा की तलाश में कहाँ–कहाँ से प्रभाव ग्रहण किया, उनकी काव्य–भाषा–दृष्टि कैसी थी तथा उनकी काव्य–भाषा में ठहराव, दुहराव या जड़ता से बचने का प्रयास अंत तक कैसे बना रहा। इस उपशीर्षक के अन्तर्गत अब तक जो विश्लेषण हो चुका है, उन्हें बिन्दुवार इस प्रकार रखा जा सकता है–

- छायावादी भाषा–शैली का प्रभाव, किन्तु छायावादी मानसिकता से मुक्ति का प्रयास करती हुई काव्य–भाषा।

- प्रारंभ से ही बोलचाल की भाषा को काव्य–भाषा का रूप प्रदान करने की कोशिश।
- संस्कृत के शब्दों का बहुलता से उपयोग, किन्तु जटिलता से बचने की सावधानी भी।
- मुहावरेदार भाषा।
- कालिदास के साहित्य से प्रभावित काव्य–भाषा।
- बोलचाल की भाषा से ली गई क्रियाओं को तत्सम शब्दावलियों से जोड़कर भाषा में नया स्वाद उत्पन्न करने का प्रयास।
- लोकतत्त्व की स्थायी मौजूदगी।
- विद्यापति की मैथिली एवं गीतितत्त्व से युक्त मिथिला संस्कृति की छाप।
- अकाव्यात्मक एवं गद्यात्मक काव्य–भाषा का उपयोग वे समस्यामूलक कविताओं में करते हैं।
- समस्या अगर व्यापक हो तो कविता लिखना स्वाभाविक है। किन्तु नागार्जुन खास ढंग की, प्रायः अपरिचित समस्याओं को भी कविता में उठाते हैं। ऐसी कविताओं की भाषा प्रायः गद्यात्मक रखते हैं तथा कुछ टुकड़े इस तरह दुहराये जाते हैं कि अंततः कविताई की अनुभूति हो जाती है।
- चलती भाषा को कलात्मक बनाने का प्रयास किए बिना कविताई का एहसास करा देना।
- भाषा की चित्रण–क्षमता का उपयोग।
- सदैव प्रयास कि कोई नया शब्द मिले अथवा पुराने शब्दों का नया उपयोग हो सके।

नागार्जुन के इस आत्मसंघर्ष का महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि तमाम स्त्रोतों से काव्य–भाषा की समृद्धि के लिए प्रयासरत रहने वाले नागार्जुन की जनवादी दृष्टि शुरु से अंत तक बनी रही। इस 'जनवाद' की ख़ासियत यह रही कि इसका अनिवार्य सम्बन्ध वामपंथी दलों से नहीं रहा। वे सदैव प्रतिबद्ध रहे जनता से, जनता की अभिव्यक्ति से; पार्टी से प्रतिबद्धता की अवधारणा उनके लिए ख़ास मतलब की नहीं रही। 'प्रतिबद्ध हूँ'[42] शीर्षक कविता के विवरणों से भी समझा जा सकता है कि नागार्जुन की काव्य–भाषा के स्त्रोत कहाँ–कहाँ मौजूद हैं–

''सम्बद्ध हूँ, जी हाँ, सम्बद्ध हूँ–
सचर–अचर दृष्टि से.....
शीत से, ताप से, धूप से, ओस से, हिमपात से.....
राग से, द्वेष से, क्रोध से, घृणा से, हर्ष से, शोक से, उमंग से, आक्रोश से
निश्च–अनिश्चय से, संशय–भ्रम से, क्रम से, व्यतिक्रम से .....
निष्ठा–अनिष्ठा से, आस्था–अनास्था से, संकल्प–विकल्प से.....
जीवन से, मृत्यु से, नाश–निर्माण से, शाप–वरदान से .....

उत्थान से, पतन से, प्रकाश से, तिमिर से.....
दम्भ से, मान से, अणु से, महान से .....
लघु–लघुतर–लघुतम से, महा–महाविशाल से .....
पल–अनुपल से, काल–महाकाल से .....
पृथ्वी–पाताल से, ग्रह–उपग्रह से, निहारिका–जल से.....
रिक्त से, शून्य से, व्याप्ति–अव्याप्ति–महाव्याप्ति से.....
अथ से, इति से, अस्ति से, नास्ति से .....
सबसे और किसी से नहीं
और जाने किस–किस से .....
सम्बद्ध हूँ, जी हाँ, शतधा सम्बद्ध हूँ।
रूप–रस–गंध और स्पर्श से, शब्द से .....
नाद से, ध्वनि से, स्वर से, इंगित–आकृति से .....
सच से, झूठ से, दोनों की मिलावट से ....
विधि से, निषेध से, पुण्य से, पाप से .....
उज्ज्वल से, मलिन से, लाभ से, हानि से.....
गति से, अगति से, प्रगति से, दुर्गति से .....
यश से, कलंक से, नाम–दुर्नाम से .....
सम्बद्ध हूँ, जी हाँ, शतधा सम्बद्ध हूँ!''[43]

(ख) सामाजिक जीवन की कविता और भाषा

'यह उन्मत्त प्रदर्शन !' शीर्षक कविता की निम्नलिखित पंक्तियों से इस उपअध्याय की शुरुआत की जा सकती है–

'चाट रहे हैं कुछ प्राणी बाहर जूठन के दोने
चहक रहे हैं अंदर ये लक्ष्मी के पुत्र सलोने
कला गुलाम हुई इनके, कविता पानी भरती है
सौ–सौ की मेहनत इनकी मुसकानों पर मरती है''[44]

इस कविता में नागार्जुन ने साधन–सम्पन्न वर्ग की शादी के आयोजन ओर भुखमरी के शिकार लोगों के बीच की विडंबनात्मक स्थिति को विषय बनाया है। 'शादी क्या है' का जवाब कवि स्वयं देता है 'वैभव का है यह उन्मत्त प्रदर्शन'। इसमें 'कारों के जमघट देखो' जिन पर 'कुबेर के छौने' और 'लक्ष्मी के निजी लाडले' सवार हैं। इनके आगे जन कवि स्वयं के बारे में कहता है– 'हम लगते हैं बौने'। व्यंग्य की धार तब तेज़ हो जाती है जब नागार्जुन आर्थिक विषमता के लिए जिम्मेदार सत्ताधारियों की अतर्राष्ट्रीय जमात को भोजन के 'मीनू' में सूचीबद्ध कर देते हैं। इस मीनू में पूंजीवादी अमेरिका के राष्ट्रपति कैनेडी, समाजवादी सोवियत संघ गणराज्य के राष्ट्रपति खुश्चेव, समाजवादी चीन के प्रधानमंत्री चाऊ एन लाइ तथा मिश्रित अर्थव्यवस्था वाले भारत के प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू भोज्य पदार्थ के रूप में मौजूद हैं–

'अंदर प्रीतिभोज के टेबुल, बाहर घिरी कनातें
धन–पिशाच मुस्काते हैं घुल के करते हैं बातें
रसगुल्ले पर कैनेडी हैं, बर्फी पर खुश्चेव
चाऊ पर है बरफ मलाई नेहरू पर है सेव''

नागार्जुन सामाजिक जीवन की कविता लिखते समय प्रायः व्यंग्य और आक्रोश से युक्त काव्य–भाषा का इस्तेमाल करते हैं। क्रियाओं और विशेषणों के चमत्कारिक प्रयोग के कारण यह भाषा आकर्षित करती है। ऊपर की उद्धृत पंक्तियों में 'चाट रहे हैं' से 'चहक रहे हैं' को मिलाएँ तो विडम्बना की अभिव्यक्ति प्रभावशाली बन जाती है। 'कविता पानी भरती है' में मुहावरेदार क्रिया है, जो बताने में समर्थ है कि बिकाऊ कला 'लक्ष्मी के पुत्र' के सामने 'गुलाम' है। 'दोने' और 'सलोने' की तुकबंदी में भी सामाजिक विडम्बना की सशक्त अभिव्यक्ति हुई है। कविता के अंत में विवाह की कुछ और बातें इस प्रकार आयी

हैं कि 'चाँदी की बेटी' के लिए 'कंचन का दूल्हा आया है'; धार्मिक कर्मकाण्डों में यही अनुगूँज है कि "ऋद्धि–सिद्धि' थिरक रही हैं और यह सब 'लक्ष्मी की माया' की बदौलत हो रहा है। वेदमंत्रों को 'सोने की स्याही' में छापा गया है और प्रशस्तिगान करने वाले कुछ कविगण भी मौजूद हैं जिनकी 'चिकनी वाणी' में आशीर्वचन के 'दूर्वादल हिलते हैं'।

नागार्जुन के विशेषण भाषा को अचूक बना देते हैं। इसी कविता में प्रयुक्त विशेषणों पर ध्यान जाता है कि इनके बिना कविता का व्यंग्य उत्पन्न ही नहीं हो पाता, जैसे– कुबेर के छौने, लक्ष्मी के निजी लाडले, बौने, धन–पिशाच, लक्ष्मी के पुत्र सलोने, चाँदी की बेटी, कंचन का दूल्हा आदि। कैनेडी, खुश्चेव, चाऊ एवं नेहरू का सफल लाक्षणिक उपयोग किया गया है।

सामाजिक जीवन की कविताओं की काव्य–भाषा में भी नागार्जुन की विविधता मौजूद है। प्रायः यह कहा जाता है कि विडम्बनाओं पर व्यंग्य किया गया है। नागार्जुन के यहाँ व्यंग्य अग्रणी भूमिका में है, यह उनकी भाषा का केन्द्रीय स्वभाव है। परन्तु व्यंग्य की कोई तय प्रक्रिया नागार्जुन की काव्य–भाषा में नहीं दिखायी जा सकती। वे अनेक रास्तों से व्यंग्य करते हैं। शब्द की तीसरी शक्ति व्यंजना शक्ति से प्रायः धारदार व्यंग्य किए जाते हैं और सामान्य व्यंग्य प्रायः लक्षणा शक्ति से। नागार्जुन शब्द की तीनों शक्तियों का उपयोग व्यंग्य के लिए करने की क्षमता रखते हैं। क्रिया और विशेषण के व्यंग्यात्मक उपयोग पर तो मानो नागार्जुन महारथ हासिल किए हुए हैं।

'मन करता है' शीर्षक कविता की काव्य भाषा प्रायः आक्रोश भरा व्यंग्य लिए हुए है–

> 'मन करता है:
> नंगा होकर कुछ घंटों तक सागर–तट पर मैं खड़ा रहूँ
> यों भी क्या कपड़ा मिलता है?
> धनपतियों की ऐसी लीला।"[45]

'लीला' शब्द में लक्षणा–शक्ति मौजूद है। इसे छोड़ दें तो चारों पंक्तियाँ अभिधात्मक हैं। नंगा होने और व्यवस्था पर प्रश्नचिन्ह लगाने की इच्छा–शक्ति भाषा को आक्रोश एवं व्यंग्य से भर दे रही है।

व्यवस्थागत कारणों से जो सामाजिक वैषम्य उत्पन्न हुआ है उसकी अभिव्यक्ति के लिए नागार्जुन सांस्कृतिक सत्ता को सामने रखकर बहस की नयी काव्य–भाषा रचते हैं। कवि का आक्रोश है कि 'धनपतियों की लीला' के कारण अभावग्रस्त लोगों की इतनी

तादाद है। ऐसी स्थिति में 'जनकवि' क्या करे। वह जनता को रास्ता दिखाता है, विद्रोह का–

'नंगा होकर दूँ आग लगा, जो पहन रखा हैं उसमें भी
फिर बनूँ दिगम्बर बम्भोला
नंगा होकर विषपान करूँ सागर तट पर–
ओ कालकूट तू कहाँ गया?
ओ हालाहल तू कहाँ गया?

यहाँ भगवान् शंकर की धार्मिक–सांस्कृतिक सत्ता को सामने रखकर जनता को बगावत की प्रेरणा देने वाली भाषा नागार्जुन रच रहे हैं। जनता नंगी– अधनंगी तो है ही, तो क्यों न वह अवशेष कपड़ों में आग लगाकर शंकर की तरह 'दिगम्बर बम्भोला' बन जाती है। विषपान, कालकूट, हालाहल से जुड़कर वह सम्पूर्ण विद्रोह पर क्यों नहीं उतर जाती है।

'यदि मरा न होगा सुन लेगा भगवान विष्णु सागरशायी'। में बहरी और संवेदनहीन व्यवस्था का चित्रण सांस्कृतिक–धार्मिक शब्दावलियों में किया गया है 'मुर्दा भगवान' का यह विवरण आक्रोश और व्यंग्य से ही प्रस्तुत किया जा सकता है–

'मैं उस अगस्त्य–सा पी डालूँ सारे समुद्र को अंजलि से
उस अतल–वितल में तब मुझको
मुर्दा भगवान दिखाई दे
उस महामृतक को ले आऊँ फिर इस तट पर
अन्त्येष्टि करूँ; लकड़ी तो बेहद मँहगी है
इस बालू में ही दफना दूँ
नंगा करके''

नीत्शे का कथन कि ईश्वर मर गया है और नागार्जुन की कविता कि ईश्वर का दफन–कफन कैसे किया जाए क्योंकि लकड़ी मँहगी है। आक्रोश की परिणति है ईश्वर की उपर्युक्त मृत्यु और आक्रोश में भी व्यंग्य बोध का बचा रहना यहाँ की काव्य–भाषा को जीवंत, प्रभावशाली एवं सार्थक बनाए हुए है।

पढ़े–लिखे लोगों के एक सामान्य दोष को नागार्जुन पहचानते हैं कि आंदोलन, विद्रोह और आलोचना की भाषा में लिखी कविताओं से इन 'सदाशय बंधु' को परेशानी होती है–

'शासन के खिलाफ़/ऐसी उत्कट रचना सुनाकर
कर दिया मैंने पैदा/बहुतेरे 'भद्र' लोगों के सिर–दर्द
दिमाग ने कहा: वार हे मैं! वाह रे मर्द!!
लेकिन सहानुभूति में पड़कर दिल हो उठा सर्द
हो आए घने करुणा के भाव/दया आई उन भले–मानसों पर
फिर तो मैंने सुना दी उन्हें सस्वर/ढेर सारी नरम–नरम शीतल रचनाएँ
कि बेचारे 'सदाशय' बंधु सही–सलामत वापस तो जाएँ।''[46]

'भद्र' और 'सदाशय' भाषा में सामाजिक जीवन की कविताएँ नागार्जुन नहीं लिखते। वे इस नफ़ासत के खिलाफ रहे। सामाजिक विरूपताओं के प्रति आँखें मूँद लेना अथवा 'सकारात्मक सोच' का छद्म पहनकर बहलाने–फुसलानेवाली बातें करना अथवा नागार्जुन के ही शब्दों में 'नारकीय टेबुल टॉक' से चिंतन का नाटक करना, वास्तव में अपनी भूमिका से भागने की कोशिश है। कवि की भूमिका कविता में इस विषय को उचित भाषा में उठाना है। नागार्जुन जानते हैं कि यह भाषा बहुतों को परेशान करती है। यह बोध उनकी शरारत को बढ़ा देता है, जिसके कारण वे इन 'भद्र' लोगों को पुचकारती हुई भाषा में सहानुभूति का स्वाँग रच कर व्यंग्य को और धारदार बना देते हैं।

नागार्जुन सामाजिक जीवन के एक ही विषय को काव्य–भाषा के एकाधिक रूपों में व्यक्त करते हैं। अकाल एक ऐसा विषय है जिसका सम्बन्ध प्रकृति, सत्ता, समाज, परिवार एवं व्यक्ति के विभिन्न पहलुओं से है। अकाल से सम्बन्धित नागार्जुन की तीन कविताओं को ध्यान में रखकर काव्य–भाषा की विविधता के विश्लेषण की कोशिश यहाँ की जा रही है।

ये तीन कविताएँ हैं– (i) वह तो था बीमार! (ii) प्रेत का बयान (iii) अकाल और उसके बाद। इन तीनों कविताओं का विषय है– अकाल। शासन और प्रशासन का रुख यही है कि अकाल को तो स्वीकार कर लो ताकि इसके नाम पर धन खर्च करने का अधिकार प्राप्त कर लिया जाए, किंतु यह मत स्वीकार करो कि भूख के कारण किसी व्यक्ति की मृत्यु हुई है। मृत्यु हो जाने की स्थिति में सिद्ध कर दो कि बीमारी अथवा अन्य कारणों से मृत्यु हुई है न कि भूख से। यहाँ सर्वोच्च न्यायालय के निर्देशों की चर्चा प्रासंगिक होगी कि भूख से मृत्यु के लिए राज्य के मुख्य सचिव जिम्मेदार होंगे। नागार्जुन इस तिकड़म पर व्यंग्य करते हैं। एक ही बात को कहते हुए नागार्जुन की भाषा के बहुरंग को देखा जा सकता है।

'वह तो था बीमार !' शीर्षक कविता की भाषा छंदोबद्ध है। ज़िलाधीश, मंत्री, हाकिम और थानेदार की भूमिका स्पष्ट शब्दों में व्यक्त की गयी है। व्यंग्य की स्थिति सामान्य है और प्रायः तुकबंदियों से प्रभाव उत्पन्न हो रहा है–

मरो भूख से, फ़ौरन आ धमकेगा थानेदार
लिखवा लेगा घरवालों से– 'वह तो था बीमार''
अगर भूख की बातों से तुम कर न सके इंकार
फिर तो खाएँगे घरवाले हाकिम की फटकार
ले भागेगी जीप लाश को सात समुंदर पार
अंग–अंग की चीर–फाड़ होगी फिर बारम्बार
मरी भूख को मारेंगे फिर सर्जन के औजार
जो चाहेगी लिखवा लेगी डाक्टर से सरकार
जिलाधीश ही कहलाएँगे करुणा के अवतार
अंदर से धिक्कार उठेगी, बाहर से हुंकार
मंत्री लेकिन सुना करेंगे अपनी जय–जयकार
सौ का खाना खाएंगे, पर लेंगे नहीं डकार
मरो भूख से, फ़ौरन आ धमकेगा थानेदार
लिखवा लेगा घरवालों से– 'वह तो था बीमार''[47]

इस कविता में विषय को पद्यात्मक बनाकर प्रस्तुत किया गया है, काव्य–भाषा की दृष्टि से विशेष सर्जनात्मकता दिखायी नहीं पड़ रही है। इसकी भाषा प्रायः विषय को प्रस्तुत करने के लिए प्रयत्नशील है। कविता में भाषा का यह स्तर प्राथमिक तौर का माना जा सकता है। इसी विषय को भिन्न भाषा–स्तर पर 'प्रेत का बयान' शीर्षक कविता में उठाया गया है। यहाँ 'प्रेत और यमराज' की बातचीत के सहारे कथात्मक संवादों के माध्यम से अकाल और सत्ता के विडम्बनात्मक सम्बन्ध पर व्यंग्य किया गया है। 'वह तो था बीमार'' में सत्ता का कथन है कि मरनेवाला बीमार था, किंतु 'प्रेत का बयान' में मरने वाले का बयान है कि पेचिश की बीमारी से मरा है, भूख से नहीं। नागार्जुन की यह टेकनीक भाषा के प्रभाव को बढ़ा दे रही है–

'और और और और और भले/नाना प्रकार की व्याधियाँ हों भारत में
किंतु . . . . . /. . . . . .
भूख या क्षुधा नाम हो जिसका/ऐसी किसी व्याधि का पता नहीं हमको
सावधान महाराज,/नाम नहीं लीजिएगा
हमारे समक्ष फिर कभी भूख का !!''[48]

सरकारी तौर–तरीका यह है कि गरीबी मिटाने के लिए प्रमाणित करते फिरो कि कोई गरीब है ही नहीं। बीमारी मिटाने का तरीका है कि कोई बीमार है ही नहीं; न गरीबी का प्रमाण–पत्र बनने दो न बीमारी का। नागार्जुन इसी सत्तावादी पद्धति का उपहास उड़ा रहे हैं। जनता की स्वीकारोक्ति सत्ता की दोहरी चाल पर गहरा व्यंग्य है।

'ओ रे प्रेत''––/कड़ककर बोले नरक के मालिक यमराज
'सच सच बतला/कैसे मरा तू?
भूख से, अकाल से?/बुखार, कालाजार से?
पेचिश, बदहजमी, प्लेग, महामारी से?
कैसे मरा तू, सच–सच बतला!''

यह भाषा यमराज की हो न हो, किंतु पुलिसवालों की जरूर है। जनता से धमकी भरी भाषा में बातचीत को काव्य–भाषा बना देना 'जनकवि' की रुचि का विषय है। प्रेत के जवाब की भाषा वस्तुतः स्वाधीनता के बावजूद अभावग्रस्त, दुखी और डरी हुई जनता की भाषा है। सरकारी तंत्र की अगली पोल इस विवरण से खुलती है कि 'प्राइमरी स्कूल का मास्टर' 'एक नहीं, दो नहीं, नौ–नौ महीने' 'तनखा' के बिना बिता रहा है। उसके पास 'पुश्तैनी पोखर में' 'करमी की पत्तियाँ अभी कुछ शेष थीं'। जनता का एक बड़ा तबका इस 'मास्टर' से भी ज़्यादा गरीब है, जिसके पास न नौकरी है और न ही पुश्तैनी सम्पत्ति। फिर भी सरकार नहीं मानती कि भूखमरी देश की एक समस्या है।

'बड़े अच्छे मास्टर हो!' में व्यंग्य–बोध गहरा हो गया है, क्योंकि उसके तर्कों से यमराज निरुत्तर हैं। तर्क की भाषा इतने आत्मविश्वास से भरी है कि बड़े–से–बड़े झूठ को छुपाया जा सकता है। बड़े–से–बड़े हादसे यूँ ही ढँक दिए जाते हैं, हादसों की भाषा बदल दी जाती है। बदली हुई भाषा में हादसों की एक बानगी देखने योग्य है–

'घरनी थी, माँ थी, बच्चे थे चार
आ चुके हैं वे भी दया सागर, करुणा के अवतार!
आप ही की छाया में''

'अकाल और उसके बाद'[49] शीर्षक कविता की भाषा की बुनावट इतनी ख़ास है कि इसका प्रयोग वे अन्यत्र नहीं कर पाए हैं। आठ पंक्तियों की यह कविता दो भागों में बँटी है। चार पंक्तियों में अनाज के बिना घर का दृश्य है और शेष चार पंक्तियों में 'दाने' घर में आने के बाद का दृश्य है। चूल्हा के रोने में जो व्यंजकता है, वह 'बुझने' या 'नहीं जलने' में नहीं हो सकती है। 'चक्की रही उदास' कहने में जो परिवार का दुःख प्रकट हो

रहा है, वह 'चक्की नहीं चली' या 'चक्की में पीसने के लिए अनाज नहीं था'– में प्रकट नहीं हो सकता है। इसी तरह चूल्हा–चक्की के पास 'कानी कुतिया' का सोना, 'भीत पर छिपकलियों की गश्त' का लगना और 'कई दिनों तक चूहों की भी हालत रही शिकस्त' की शब्दावली को बदल दें तो मनुष्य की भयावह स्थिति को, इतने प्रभावशाली ढंग से व्यक्त नहीं किया जा सकता था।

घर के अंदर दाने आए, आँगन से ऊपर धुआँ उठा, घर भर की आँखे चमक उठीं और कौवे ने पाँखें खुजलाईं– इस भाषा को प्रतीकात्मक कहना अव्याप्ति दोष माना जाएगा। 'प्रतीक' की सीमा से काफी आगे जाकर अनुभूति को झकझोरने वाली भाषा मौजूद है। पूरी कविता में मनुष्य प्रत्यक्षतः मौजूद नहीं है। मनुष्य की अनुपस्थिति और मनुष्येतर प्राणियों एवं घरेलू उपकरणों का मानवीकरण इस काव्य–भाषा की विशिष्टता है।

अकाल के संदर्भ में 'नाहक ही डर गई, हुजूर !' शीर्षक कविता विशेष ढंग की व्यंग्य भाषा में रचित है। 'अकालवाला थाना' काफी दूर है, इसलिए 'एस.डी.ओ. की गुड़िया बीवी' को डरना नहीं चाहिए। एक तरफ अकाल–पीड़ित जनता के हाथों की बंदूक और दूसरी तरफ 'गुड़िया बीवी' का कल्पित भय और अंततः नौकर के द्वारा समझाया जाना। कुल मिलाकर अकाल के प्रति नौकरशाहों की क्रूर दृष्टि को व्यंग्यात्मक काव्य–भाषा में अभिव्यक्ति दी गई है–

> 'भुक्खड़ के हाथों में यह बंदूक कहाँ से आई–
> एस.डी.ओ. की गुड़िया बीवी सपने में घिघियाई
> बच्चे जागे, नौकर जागा, आया आई पास
> साहेब थे बाहर, घर में बीमार पड़ी थी सास
> नौकर ने समझाया– नाहक ही डर गई, हुजूर !
> वह अकाल वाला थाना पड़ता है काफी दूर !'' [50]

अकाल पीड़ित जनता शासन की नज़र में 'भुक्खड़' है। उसकी तकलीफ, प्रशासन की नज़र में, बेमानी है। उसके विद्रोह से प्रशासन डरता है, इसलिए सुरक्षित स्थान पर परिवार रखता है। उसका परिवार गुड़ियों के संसार की तरह सुंदर है, नाजुक है, ख्याली डर से परेशान हो जाता है। दूसरी तरफ, भूखी जनता है, जिसकी परेशानियाँ दूर करने के लिए प्रशासन को भारी धनराशि दी जाती है। परन्तु जनता और प्रशासन के बीच संवाद की कमी, सम्बन्ध की दूरी, संवेदना के अभाव, भ्रष्टाचार आदि कारणों से समस्या का कोई समाधान नहीं निकल पा रहा है।

नागार्जुन 'आसमानी अकाल' और 'सुल्तानी अकाल' के अंतर को अच्छी तरह समझते हैं। 'सुल्तानी' कारणों से अकाल की विभीषिका बढ़ जाती है, अतः नागार्जुन की भाषा सामाजिक जीवन की परेशानियों को तलाशती हुई, सत्ता के खिलाफ व्यंग्यधर्मी बन जाती है।

सामाजिक जीवन की कविता लिखते हुए नागार्जुन खास ध्यान रखते हैं कि व्यक्ति, परिवार और समाज से लेकर व्यवस्था तक पहुँच रखनेवाली भाषा का इस्तेमाल किया जाए। 'छोटे बाबू' और 'बड़ा साहब' शीर्षक कविताओं की तुलना करें तो दोनों की भाषा में प्राथमिक अंतर है कि 'छोटे बाबू' के प्रति सहानुभूति की भाषा है तो 'बड़ा साहब' के प्रति व्यंग्यात्मक भाषा। सामाजिक जिंदगी के विभिन्न प्रसंगों के अनुकूल भाषा की विविधता को बनाए रखने वाले नागार्जुन के दुहराव की ऊबन से भाषा को बचाने में अद्‌भुत सफलता पाते हैं। 'छोटे बाबू' की परेशानियों को कितनी सहानुभूति भरी भाषा में नागार्जुन व्यक्त करते हैं।–

'एक–एक करते हैं बेचारे तीन–तीन का काम
सपने में ही पाते होंगे फुर्सत या आराम
दिन–दिन चढ़ती–बढ़ती मँहगी सूपनखा बन सर पर मँडराती है
सच समझो छोटे बाबू पर तरस मुझे आती है''[51]

छोटे बाबू की तकलीफ पर बात करते हुए इस कविता को भी नागार्जुन व्यवस्था तक पहुँचाते हैं। व्यवस्था की बात आते ही उनकी भाषा बदल जाती है और व्यंग्य–वाण चलने लगते हैं–

'कहते हैं इनफ्लेशन के मारे शासक हैं तंग
टकसालों ने ढेर लगा दी छाप–छाप के नोट
चाहें तो नेहरूजी पहनें
कागज की इन मुद्राओं का भारी ओवरकोट
अपच न होगी बिड़ला–टाटा–डालमिया को''

नेहरू और पूँजीपतियों पर व्यंग्य के बाद पुनः कविता की भाषा छोटे बाबू के प्रति सहानुभूतिपरक हो जाती है–

'पर छोटे बाबू का होगा कैसे बेड़ा पार
इन बेचारों को मिलती है सधी–बँधी तनख्वाह
पा जाते हैं नाममात्र मँहगाई का भत्ता भी
फिर भी क्या पूरा पड़ता है?''

'बड़ा साहब' का विवरण रेखाचित्र की शैली में कवि ने प्रारम्भ किया है। वैसे तो 'उतरे हैं देवता स्वर्ग से धरती पर अफसर बन', इसलिए उनकी सुन्दरता और भव्यता स्वयंसिद्ध है। किंतु नागार्जुन जो रेखाचित्र खींचते हैं उसकी दिशा हास्य–व्यंग्य के कारण अफसरों की विद्रूपता को प्रकट करती है–

'छोटे–छोटे बाल छँटे हैं, चिकनी–मोटी गर्दन
सिर पर हैट, सिगार का धुआँ छूट रहा है छन–छन
. . . . . .
पहले के आई.सी.एस. ठहरे, हो आए हैं लंदन
पहली को पाते हैं साहब तीन हजारी वेतन।''[52]

'छोटे बाबू' की तुलना में 'बड़ा साहब' के प्रति कवि की भाषा पग–पग पर चोट करती हुई चल रही है। ये लोग पराधीन भारत में भी सत्ता का सुख पा रहे थे और स्वाधीन भारत में रंग बदलकर मस्ती मार रहे हैं। अब इनके 'मन–मंदिर का आँगन' गाँधी–नेहरू से गुंजित है'–

'एस.डी.ओ. थे व्यालिस में, गोली चलवाई दन–दन
अब तो करते रहते निशि–दिन नेताओं का कीर्तन।''

'तब' और 'अब'– दोनों परिस्थितियों में सत्ता–सुख पाने वाले 'बड़ा साहब' जैसे लोगों ने सामाजिक ज़िंदगी को दूषित किया है। ये लोग समाज को बेईमानी, तिकड़म, चापलूसी और कालाधन से प्रभावित करते हैं। समाज में ईमानदार, वैचारिक और देशभक्त लोगों के प्रति धनाभाव के कारण वह प्रभाव नहीं बन पाता जितना ये धन–पशु प्रभावशाली हो जाते हैं। 'छोटा बाबू' और 'बड़ा साहब' जैसी कविताएँ वस्तुतः सामाजिक ज़िंदगी को ही व्यक्त करती हैं। नागार्जुन की विशिष्टता है कि वे अपनी काव्य–वस्तु का विस्तार व्यवस्था तक कर देते हैं। ऐसे प्रसंगों में नागार्जुन की भाषिक बारीकियाँ ध्यान आकर्षिकत कर लेती हैं। वे शब्दों को इतने खिलंदड़ेपन के साथ रखते हैं कि व्यंग्य–बोध गहरा हो जाता है, जैसे– बूट–पैंट मानिला शर्ट, हकूमती इंजन, तीन हजारी वेतन, घंटी बजती टन–टन, गंगा की मिट्टी से दंतमंजन, गुलरोगन, स्लोगन आदि।

नागार्जुन एक बेचैन कवि हैं। जनता के सरोकार उन्हें आंदोलित किए रहते हैं। व्यक्तिगत गरीबी का विस्तार करोड़ों जनता में देखकर उनकी बेचैनी और बढ़ती है। कविता को इन करोड़ों लोगों के दर्द से जोड़ने की बेचैनी को उनकी काव्य–भाषा के संघर्ष में देखा जा सकता है। कलावादी कवि ही भाषा के नए प्रयोग नहीं करता, जन

कवि भी नई उपमाएँ, नए बिम्ब–प्रतीक अपने संसार से लेकर कविता में रखता है। इस तरह नागार्जुन काव्य–भाषा को नए सिरे से जनवादी शैली में समृद्ध कर रहे थे–

'अमन–चैन को कैसे मैं कड़ियों में बाँधू!!
मैं दरिद्र हूँ/पुश्त–पुश्त की यह दरिद्रता
कटहल के छिलके–जैसी जीभ से मेरा लहू चाटती आई !
मैं न अकेला मुझ जैसे तो लाख–लाख हैं, कोटि–कोटि हैं
यों तो सबका यही हाल है/सभी सरों पर यह बवाल है
सभी दुखी हैं/दो प्रतिशत भी नहीं सुखी हैं
कैसे लिखूँ शांति पर कविता?''[53]

'कटहल के छिलके जैसी जीभ' ध्यान खींच लेती है। यहाँ दरिद्रता का संसार 'मैं', 'पुश्त–पुश्त' से लेकर 'कोटि–कोटि' तक फैला है। 'हमें शांति की सीख दे रहे चील–गीध के चचे–भतीजे!' में जनकवि का आक्रोश रेखांकित करने योग्य है। दरिद्रता की चरम अवस्था का यह प्रत्यक्ष दृश्य किसी कलावादी बिम्ब से ज्यादा प्रभावशाली है–

'फौरन उठकर जाना होगा
जहाँ कहीं से एक अठन्नी लानी होगी
वर्ना इस चूल्हे के मुँह पर फिर मकड़ी का जाला होगा''

अभाव को 'चूल्हे के मुँह पर मकड़ी का जाला'' से अभिव्यक्त करना जन–जीवन के कवि के लिए ही संभव है। गरीबी की कविता की भाषा की तलाश नागार्जुन इतने व्यावहारिक स्तर पर करते हैं कि उसकी प्रामाणिकता स्वयंसिद्ध होती है और कला की नयी दिशा भी खुलती है। नौकरशाही और प्रजातंत्र की राजशाही से नागार्जुन को कोई उम्मीद नहीं है। परन्तु वे अपना विरोध राजनीतिक भाषा में हमेशा प्रकट नहीं करते। सांस्कृतिक प्रतीकों के सहारे विरोध की कितनी सुंदर काव्य–भाषा वे रचते हैं–

'बड़ी–बड़ी तनखाहें पाने वाले विदुरों की मत पूछो
मुद्रित मुख नत नयन कुर्सियों पर बैठे हैं
अपना ली है संध्या भाषा
भूमिदान करवाने की, लो, सनक सवार हुई है शिर पर लोमश मुनि के
दुर्वासा उपकुलपति बनने की फिराक में
घात लगाए घूम रहे हैं
क्यों न गवर्नर इन्हें बना लेते हो दाता !''[54]

ऊँचे पदों पर आसीन अफसर, सलाहकार बड़ी–बड़ी रकम वेतन के रूप में पाते हैं। वे योग्य हैं, परन्तु जनता की समस्याओं के प्रति प्रतिबद्धता का घोर अभाव उनमें है, जैसे विदुर परमज्ञानी होते हुए भी कौरवों को सही दिशा में नहीं ले जा सके। पूरा सरकारी तंत्र विदुर की ही तरह फलदायी नहीं हो पाता है। इनके पास प्रत्येक समस्या के लिए रहस्यमयी 'संध्या भाषा' है, जिसका उपयोग वे अपनी जवाबदेही से बचने के लिए बखूबी करते हैं। परिणामस्वरूप जनता का धन सरकारी माध्यमों से खर्च हो जाता है परन्तु जनता को उसका पूरा फायदा नहीं मिल पाता है और इसके लिए जिम्मेदार सरकारी तंत्र भी जवाबदेही से मुक्त हो जाता है। 'लोमश', 'दुर्वासा', 'उपकुलपति' और 'गर्वनर' शब्दों के प्रयोग लोकतंत्र के 'माननीयों' की पोल खोलते हैं।

लोकतंत्र के 'माननीयों', अफसरों, पूँजीपतियों के वारिस धन–प्रदर्शन, आचरण–हीनता एवं मुफ्तखोरी की संस्कृति के वाहक बन बैठे हैं। नागार्जुन इन्हें 'गेहुँअन का पोआ' कहकर जनता की तिरस्कार दृष्टि को व्यक्त करते हैं–

'इस पार कि उस पार/कार में बैठकर
निकला हवा खाने/गेहुँअन का पोआ . . .
कगार पर पहुँच रहा है बचपन/टानना सीख लिया है अभी से 555
बड़ी ही नफासत से निकालता मुँह का धुआँ
गंगा के किनारे खोद रहा मन–ही–मन उमंग का कुआँ
क्यूटिकुरा का धोआ/गेहुँअन का पोआ''[55]

555 ब्रांड का सिगरेट टानना सीख चुका है और अभी ठीक से बचपन भी समाप्त नहीं हुआ है। सिगरेट का धुआँ भी स्टाइल से निकालता है। नागार्जुन ने बिगड़ैल शहजादे की करतूत से विषाक्त होते सामाजिक जीवन की चिंता के कारण यह कविता लिखी है। इसकी भाषा सरल और व्यंग्यधर्मी होने के साथ गहरी सामाजिक चिंता अपने भीतर समेटे हुए है।

हिंदी लेखक और प्रकाशक के बीच आर्थिक सम्बन्ध को लेकर यही राय बनती है कि लेखकों को पर्याप्त लाभ नहीं मिल पाता है। हिंदी के प्रकाशक कम बिक्री का रोना रोते रहते हैं, यह अलग बात है कि उनकी सम्पन्नता क्रमशः बढ़ती जाती है। नागार्जुन अपनी चिर–परिचित शैली में इस विषय को 'सौदा' शीर्षक कविता में उठाते हैं। यहाँ महत्वपूर्ण है विवरण और चित्रण। प्रकाशक और लेखक के बीच की ऐसी बातचीत शायद हिंदी कविता में अन्यत्र मौजूद नहीं है। लेखक बेटे की बीमारी बताकर प्रकाशक से गिड़गिड़ा रहा है–

'पचास ठो रूपइया और दीजिएगा
बत्तीस ग्राम स्टपटोमाइसिन कम नहीं होता है
जैसा मेरा वैसा आपका/लड़का ही तो ठहरा
एँ हें हें हें कृपा कीजिएग/अबकी बचा लिजिएगा . . . एँ हें हें हें
पचास ठो रूपइया लौंडे के नाम पर!''[56]

हिंदी का लेखक 'पचास ठो रूपइया' 'लौंडे के नाम पर' माँगते हुए भाषा के भदेस रूप का सहारा ले रहा है। वह कोशिश कर रहा है कि भाषा के इस रूप से प्रकाशक द्रवित हो जाएगा। नागार्जुन इस स्तर पर भी काव्य–भाषा के रूप पर विचार करते हैं कि दरिद्रता के आगे ज्ञान और अभिमान उपेक्षित हो जाता है, इसलिए गिड़गिड़ाने की भाषा में भदेसपन का आ जाना स्वाभाविक है। नागार्जुन का व्यंग्य–बोध यहाँ भी सक्रिय है। प्रकाशक मिस्टर कुंजीलाल ओसवाल भले कहें कि 'अदना–सा बिजनेसमैन हूँ' किंतु 'स्वर्णिम चेन दामी रिस्टवाच की', 'रुचिर पेपर वेट', 'कैप्स्टन् का साबित पैकेट', 'नई–नई ली है अभी हिन्दुस्तान फोर्टीन' से उनकी सम्पन्नता का प्रमाण मिलता है। मिस्टर ओसवाल की भाषा नागार्जुन ने कुछ इस तरह रची है–

'वाह भई, वाह! खासी अच्छी कविता सुना गए आप तो!
थैंक्यू! थैंक्यू! महाशय मंजुघोष!
लेकिन जनाब, यह मत भूलिए कि डालमिया नहीं हूँ मैं,
अदना सा बिजनेस मैन हूँ/खुशनसीब होता तो और कुछ करता
छाप–छाप कूड़ा भूखों न मरता/जितना कह गया उतना ही दूंगा
चार सौ से ज़्यादा धेला भी नहीं/हो गर मंजूर तो देता हूँ चैक
वर्ना मैनस्कृप्ट वापस लीजिए/जाइए, गरीब पर रहम तो कीजिए''[57]

नागार्जुन हिंदी–अंग्रेजी शब्दों को मिलाने के साथ भाषा के टोन का काफी खयाल रखते हैं। प्रकाश की शैली बेरुखी से भरी है साथ ही उसका काइयाँपन भी झलक रहा है, जबकि लेखक गिड़गिड़ाहट की अप्रतिम काव्य–भाषा में प्रार्थना कर रहा है–

'अच्छा, जैसी हो आपकी मर्जी!/पचास न सही पच्चीस या बीस
. . . इतना तो ज़रूर!/जिएगा तो गुन गाएगा लौंडा हिं हिं हिं हिं, हुँ हुँ हुँ हुँ''[58]

'मास्टर !'[59] शीर्षक कविता प्राथमिक शिक्षा की बदहाली से जुड़ी है। छंदोबद्ध होने के कारण तुकबंदी की अनिवार्यता भाषा को एक ढाँचे में ढाले हुए है। फिर भी कुछ अलग दिखने वाले प्रयोग इस कविता में मौजूद हैं। कविता प्राथमिक शिक्षा की बदहाली

को कई स्तरों पर खोलने वाली काव्य–भाषा से युक्त है। 'घुनखाए शहतीरों', 'फटीभीत है, छत चूती है', 'आले पर बिस्तुइया' नाचती है। आदि चित्रों से पाठशाला की दीन अवस्था का पता चलता है। 'बरसाकर बेबस बच्चों पर मिनट–मिनट में पाँच तमाचे' से विद्यार्थियों के साथ अध्यापकों के अमानवीय व्यवहार का पता चलता है। दुखरन मास्टर शिक्षा–मंत्री से मिलने पहुँचे तो नेपाली सुरक्षाकर्मी ने अपमानित भी किया और मिलने भी नहीं दिया 'भाग भाग, जा मत कर बकबक' और उनका अहंकार इस स्तर का कि 'हम फौजी हैं, नहीं समजता क्या होता है सिच्चक–सेपक'। प्राथमिक अध्यापक की दुखद अवस्था का और प्रमाण यह कि 'बहुत दिनों से मिला न वेतन' और अंत में मंत्री जी से शिक्षक की प्रार्थना–

'और क्या लिखूँ, इन देहाती स्कूलों पर भी दया कीजिए
दीन–हीन छात्रों–गुरुओं की कुछ भी तो सुध आप लीजिए
हटे–मिटे यह निपट जहालत, प्रभु ग्रामीणों पर पसीजिए,
कई फंड हैं, उनमें से अब हमको वाजिब एड दीजिए''[60]

नागार्जुन सामाजिक जीवन के जिस विषय को उठाते हैं और उसके जिन पक्षों को कविता में प्रस्तुत करते हैं, उनकी कोशिश होती है कि भाषा लगभग चित्रमय हो। पाठक–श्रोता भाषा के सहारे पूरी बात को चित्रमयता के साथ ग्रहण करता चले। इसके लिए शब्द के सटीक रूप और टोन की जरूरत होती है। फंड,एड, सिच्चक, समजता आदि का प्रयोग भाषा के प्रति विवेक सम्पन्न कवि ही कर सकता है।

'देखना ओ गंगा मइया !'[61] शीर्षक कविता 'मल्लाहों के नंग–धड़ंग' छोकरों के बारे में हैं जो श्रद्धालुओं के द्वारा गंगा में डाले गए 'दुअन्नी–इकन्नी' को इतनी कोशिश और जोखिम के साथ डुबकी मार कर खोजते हैं मानो 'खोज रहे पानी में जाने कौस्तुभ मणि!' नागार्जुन इन 'छोकरों' की इस मेहनत का नतीजा इस विवरण में व्यक्त करते हैं। इस विवरण की भाषा उनकी सामाजिक जिंदगी के सच को व्यक्त करती है–

'बीड़ी पिएँगे . . . /आम चूसेंगे . . .
या कि मलेंगे देह में साबुन की सुगंधित टिकिया
लगाएंगे सर में चमेली का तेल
या कि हम–उम्र छोकरी को टिकली ला देंगे
पसंद करे शायद वह मगही पान का टकही बीड़ा
देखना ओ गंगा मइया!''[62]

'तो फिर क्या हुआ?'[63] की काव्य–भाषा संवेदनशीलता के विपरीत छोरों को प्रकट करती है। पढ़े–लिखे मोटी तनख्वाह पाने वाले प्राचार्य अपने बेटे को शिकागो न जा पाने के कारण अत्यंत दुखी है, परंतु आमजन–जीवन की भीषण समस्याओं के प्रति भी उनकी कोई सहानुभूति नहीं है। पूरी कविता में यह प्रश्न कई बार आया है कि 'तो फिर क्या हुआ?' इस प्रश्न के आस–पास की भाषा सामाजिक जीवन के प्रति सुविधा सम्पन्न लोगों की बेरुखी और कटाव का प्रमाण देती है। कवि ऐसे लोगों का परिचय देता है–

'नत नयन/मुद्रित मुख
प्रज्ञा कर/बैठे हैं कुर्सी पर
मात्र वेतन से मतलब!''[64]

कवि उन्हें बताना चाहता है कि 'अशांत उत्तेजित भीड़' ने ढेले चलाए और 'पुलिस की अश्रु गैस' वातावरण को विषाक्त कर गयी। 'निरपराध–निरीह किशोर' का खून हुआ और 'शांत–शिष्ट अफसर' पिट गए। इस विवरण पर प्राचार्य की प्रतिक्रिया इस प्रकार मिली–

'तो फिर क्या हुआ!/नत नयन मुद्रित मुख कुर्सीधर ने देखा
तो फिर क्या हुआ?/महीन मुस्कान फेंकते रहे मेरी ओर
वेतन सर्वस्व बुद्धिजीवी महानुभाव/बढ़ा दी आगे गोल्ड फ्लैक की पाकिट
इशारे से कहा–लीजिए!/और खुद की खातिर निकाला
मोटा मद्रासी सिगार''[65]

'महीन मुस्कान', 'गोल्ड फ्लैक', 'मद्रासी सिगार' आदि से जो काव्य–भाषा यहाँ रची गई है वह इस माने में विशिष्ट है कि उसमें संवेदनहीनता की क्रियाओं को पकड़ने का प्रयास किया गया है। नागार्जुन इन सामान्य प्रतिक्रियाओं को इतनी सावधानी से पकड़ते और सटीक भाषा में पिरोते हैं कि अभिव्यक्ति प्रभावशाली हो जाती है। प्राचार्य की संवेदनशीलता इस विषय से जुड़ी थी कि–

'डॉलर की किल्लत भी खूब रही/लल्ला नहीं जा सका शिकागो
हो गई पैसेज रद/ट्रंक से पूछा था . . .''

उनके इस दर्द को न समझ पाने के कारण जब कवि उसी केन्द्रीय प्रश्न को दुहरा देता है– तो फिर क्या हुआ? इस प्रकार प्राचार्य की खीझ देखने लायक है–

'हो गई गरीब की कैरियर चौपट/और आप पूछते हैं,
तो फिर क्या हुआ!/तो फिर क्या हुआ!
आप भी साहब निरे साहित्यिक ठहरे !!''[66]

आम जनता की तकलीफों के बारे में बात करना और व्यक्तिगत धनाढ्यता के प्रति जागरुकता का अभाव होना मानो 'निरे साहित्यिक' लोगों का काम है। व्यंग्य–बोध नागार्जुन की काव्य–भाषा में अंतर्निहित रहता है।

'पैसा चहक रहा है . . .'[67] शीर्षक कविता धन के असमान वितरण पर व्यंग्य है। सामाजिक जीवन में दरार उत्पन्न करने वाला यह पक्ष नागार्जुन की काव्य–भाषा में विशेषणों एवं क्रियाओं के माध्यम से व्यक्त हुआ है। काले धन के प्रभाव को इतनी तनावहीन भाषा में व्यक्त कर पाना आसान नहीं है। तनाव के विषय को तनावमुक्त काव्य–भाषा में पिरोकर हास्य–व्यंग्य के साथ व्यक्त करना नागार्जुन की विशेषता है। काले धनपतियों की 'लम्बी जुबान' 'टकसाल की ढली है– यह अद्‌भुत मौलिक प्रयोग है। धन के लम्बे दावे और दौलत की डींग को व्यक्त करने में यह भाषा–प्रयोग सक्षम है। 'दो–दो की चुटकियों में लाखों के प्लान देखो' में लगता है मानो मदारी धन की भाषा बोल रहा है। काले कुबेरों के लिए धन मदारी की कलाबाजी की तरह रोचक विषय है। श्रम के बिना, शोषण पर आधारित, जुटाया गया धन प्रदर्शन में खत्म हो जाए तो क्या आश्चर्य! पैसा दहक, बहक, महक और चहक कर सामाजिक जीवन में विद्रूपता, असमानता और विडम्बना को जन्म दे रहा है, पर नागार्जुन की भाषा तनावहीन रूप में तनाव को गहरे व्यंग्य के साथ व्यक्त कर रही है–

'सोने की चूड़ियाँ ये . . . पैसा दहक रहा है
उन लो पिलो के गद्दे . . . पैसा बहक रहा है
कॉफी की प्यालियाँ ये . . . पैसा महक रहा है
ये कहकहे य चितवन . . . पैसा चहक रहा है''[68]

'घिन तो नहीं आती है?'[69] प्रसिद्ध कविता है। मजदूर वर्ग की रुचि, भाषा और छोटी–मोटी आदतों के सहारे मध्यम वर्ग के साथ उनकी दूरी को हास्य–व्यंग्य की भाषा में व्यक्त किया गया है। 'पूरी स्पीड में है ट्राम' तो यात्रियों का 'सटता है बदन से बदन' जो 'पसीने से लथपथ' है। उस 'बाबू' से नागार्जुन पूछते हैं–

'छूती है निगाहों को/कत्थई दाँतों की मोटी मुस्कान
बेतरतीब मूँछों की थिरकन/सच–सच बतलाओ
घिन तो नहीं आती है/जी तो नहीं कुढ़ता है?''[70]

नागार्जुन ऐसी काव्य–भाषा अपनाते हैं जिसमें छोटे–से–छोटे विवरण को व्यक्त किया जा सके। यही कारण है कि सामाजिक जीवन की कविता लिखते हुए वे अपने

विषय के विवरण की बारीकियों को भली भाँति पकड़ते हैं। वै 'बाबू' के चित्रण में भी उतने ही कुशल है–

'दूध–सा धुला सादा लिबास है तुम्हारा
निकले हो शायद चौरंगी की हवा खाने
बैठना था पंखे के नीचे, अगले डब्बे में''[71]

बुद्धिजीवी होने के नाम पर महापुरुषों की तस्वीरों और महान् लेखक की पुस्तकों से बैठकखाने को सजा लेना एक फैशन है, जहाँ बुद्धिजीविता नाममात्र को होती है। 'प्लीज, एक्स्क्यूज़ मी . . .'[72] शीर्षक कविता इतनी सफलता के साथ इस हास्यस्पद स्थिति को व्यक्त करती है कि सच्ची बुद्धिजीविता की बदहाली के प्रति पाठक को चिंतामग्न कर देती है। 'जनकवि' ने इस कविता में स्वयं की छवि अभावग्रस्त बनायी है–

'और भला कहाँ हुआ था नसीब
उतना अच्छा आइस्क्रीम
कदन्न–दग्ध इस निगोड़ी जीभ को?''

बुद्धिजीवी का सामाजिक जीवन अभाव से तार–तार हो चुका है। छद्म बुद्धिजीविता की परम्परा में स्वयं को रखते हुए गौरवान्वित महसूस करने वाली 'डबल एम. ए. मिसेज गुप्ता' के 'ज्ञान' का प्रमाण ये पंक्तियाँ है–

भेजती हूँ मुन्नी को/लिखवा लेगी चार–छे–लाईन
सीनियर कैम्ब्रिज का आखिरी साल है/कविता का बेहद शौक है. . .
लिख दीजिएगा वही–/पाँखें खुजलाई कौए ने
रोता रहा चूल्हा, चक्की थी उदास/याद तो होगी न?[73]

कवि ने पूछा 'आप भी तो चौकस पाठिका रही होंगी?' मिसेज गुप्ता ने कहा 'जी हाँ, जी हाँ'। 'चौकस पाठिका' होने का अरमान बिना पढ़े पाले रहना इस वर्ग की आदत है। नागार्जुन ने 'बुद्धिजीवियों' की फैशनेबुल पहचान पर गहरा व्यंग्य चुन–चुन कर किया है। धन से बुद्धि को फैशनेबुल बनाने की चाह मिसेज गुप्ता के बैठक खाने में देखने योग्य है–

'चाँदी के बापू . . ./गजदंत के तथागत . . .
चंदन के विनोबा . . ./ताम्बे के लेनिन
x x x
शेल्फ की ओर उँगली उठाकर बोली

बस, ले–देकर यही एक शौक बाकी बचा है उनका!
वो रहा हक्सले . . ./वो जुंग . . .
और वो पावलोव/जी हाँ, मार्क्स का भी पूरा सेट है अपने पास . . .''[74]

नागार्जुन अछूते विषयों को उठाने के विशेषज्ञ रहे हैं। कलाकार को मान्यता मिलते–मिलते लम्बी उम्र गुजर जाती है। जब वह वृद्धावस्था में बीमार या अभावग्रस्त हो जाता है तब परिवार, समाज, मीडिया आदि के द्वारा यह ख़बर प्रचारित की जाती है, फलस्वरूप सरकार, संस्थाओं या व्यक्तियों के द्वारा सहायता राशि या पुरस्कार देने की घोषणा होने लगती है। नागार्जुन ने इस विषय के दूसरे पहलू को उठाया है। दूसरा पहलू यह है कि परिवार के लोग कलाकार की अभावग्रस्तता का झूठा प्रचार करके अपनी झोली भरना चाहते हैं। कुछ ही वर्षों पहले शहनाई सम्राट उस्ताद बिस्मिल्ला खान गंभीर रूप से बीमार पड़े थे। शासन–प्रशासन एवं विभिन्न संस्थाओं के लोग उनकी सहायता के लिए उनके घर तक पहुंचे। मीडिया में यह ख़बर लगातार आ रही थी। उसमें एक बात स्पष्ट थी कि बिस्मिल्ला खान पर पारिवारिक दबाव था कि वे मुँह खोलकर सहायता माँगें। उन्होंने परिवार के एक सदस्य के लिए पेट्रोल पम्प की माँग की थी। बिस्मिल्ला खान सादगी से जीवन बिताने वाले व्यक्तित्व थे। अपनी जरूरतों को पूरा करने लायक उपार्जन उन्होंने किया था। नागार्जुन 'ओ मेरे वंशमणि! ओर मेरे कुलदीप!'[75] शीर्षक कविता में कलाकार की इस अंतर्विरोधी स्थिति को व्यंग्यात्मक लहजे में व्यक्त करते हैं। कलाकार का सामाजिक–पारिवारिक जीवन धन प्राप्ति के लिए दबाव बनाता है, उसके नगदीकरण के तिकड़म निकालता है। कलाकार इस स्थिति से वस्तुतः दुखी होता है–

'अपनी तो निभ गई/अपन तो अब काठ हैं, पत्थर हैं!
क्या बिगाड़ लेगा कलंक?/क्या बना देगी कीर्ति?
हाँ, जम जाएँगे तुम्हारे ये लड़खड़ाते पैर/सुनिश्चित हो जाए, तुम्हारा भविष्य
ओ मेरे वंशमणि, ओ मेरे कुलदीप!/जीते जी क्षत–विक्षत कर लो मुझको/
देख नहीं पाएगी जनता मेरे वीभत्स घाव/झोली भर जाएगी तुम्हारी''[76]

'शाल वनों के निविड़ टापू में'[77] शीर्षक कविता में 'दंतेवाड़ा से 55 किलोमीटर आगे . . .' हलबी भाषा बोलने वाले जनजातियों के बीच नागार्जुन पहुँचते हैं। माचिस के बदले 'हमने थमा दी अठन्नी. . .' तो वह 'शबर–पुत्र' इतना खुश हो गया कि 'खुशी में चमकने लगी माड़िया की आँखें'। वह दस–पंद्रह वर्ष पहले दिल्ली गया था 'आदिवासी

लोकनृत्यवाली अपनी पार्टी के साथ।' कवि ने जानना चाहा कि 'उन दिनों दिल्ली का राजा' कौन था, जवाब मिला–

'मालूम नहीं अपने को. . .
अपन को नहीं मालूम. . .''[78]

नागार्जुन भारतीय समाज के इस पक्ष को प्रस्तुत करना चाहते हैं जो मुख्य धारा से कट कर जी रहा है। भारतीय लोकतंत्र की मजबूती के लिए और आदिवासियों की तरक्की के लिए आवश्यक है इनके बीच शिक्षा का प्रसार, रोजगार के साधन तथा राजनैतिक जागरुकता के अवसर उत्पन्न किए जाएँ।

'तेरी खोपड़ी के अंदर'[79] शीर्षक कविता में मेरठ शहर को दंगे की परिस्थिति में दिखाया गया है। दंगे सामाजिक परिवेश को विषाक्त कर देते हैं। शंका, अविश्वास और अफवाह की भरमार के बीच रोजी–रोटी की असलियत क्या प्रभाव डालती है, यह देखने लायक है–

'यों तो वो/कल्लू था–/कल्लू रिक्शावाला
यानी कलीमुद्दीन . . ./मगर अब वो/'परेम परकास'
कहलाना पसंद करेगा. . ./कलीमुद्दीन तो/भूख की भट्ठी में
खाक हो गया था''[80]

कलीमुद्दीन को 'अक्किल फूटी है!' अब वह 'रूदराछ के मनके' पहनने लगा है। उसका विचार है कि 'चुटला भी रखेंगे माथे पे' और 'चंदन का टीका भी'। दंगे ने रिक्शावाला और यात्री को हिंदू–मुसलमान में बाँट दिया है। नागार्जुन सामाजिक जीवन के उस पहलू को सम्प्रदाय और रोजगार के अंतर्द्वन्द्व के संदर्भ में प्रस्तुत करते हैं। रोजगार की हक़ीकत के सामने वे सम्प्रदाय के जुनून को कमजोर बताते हैं। कल्लू साम्प्रदायिक सौहार्द के लिए 'परेम परकाश' नहीं बना है। साम्प्रदायिक सौहार्द की नाटकीय मानसिकता के प्रति कवि ने खीझ और निराशा ऐसी भाषा में प्रकट की है–

'बुड्ढ़े, अपना इलाज करवा !
तेरी खोपड़ी के अंदर
गू भर गयी है!''

सामाजिक जीवन से जुड़ी नागार्जुन की काव्य–भाषा की यह बानगी भर है। उसके विभिन्न रूपों के नमूने यहाँ रखे गए हैं। दूसरे विषयों से जुड़ी कविताओं में भी सामाजिक जीवन की काव्य भाषा मौजूद है। नागार्जुन समाज के प्रायः वृहत्तर रूप से जुड़े हैं।

सामाजिक जीवन की उनकी कविताओं की भाषा का विश्लेषण करते हुए हम कुछ बिन्दुओं की पहचान कर सकते हैं–

- काले धन के वैभव–प्रदर्शन की काव्य–भाषा।
- दरिद्रता की चरम सीमा पर जीने वालों के चित्रण की काव्य–भाषा।
- अमीरी–गरीबी के लिए जिम्मेदार व्यवस्था के प्रति व्यंग्य एवं आक्रोश की काव्य भाषा।
- विशेषण एवं क्रिया के प्रयोग से विशिष्ट बनी काव्य–भाषा।
- अभिधात्मक काव्य–भाषा में व्यंग्य की ताकत।
- सांस्कृतिक–धार्मिक शब्दावली में सामाजिक जीवन की काव्य–भाषा रचते हुए व्यवस्था के खिलाफ विद्रोह की प्रेरणा।
- सांस्कृतिक–धार्मिक शब्दावलियों में व्यतिक्रम उत्पन्न करके अथवा उन्हें नए संदर्भों से जोड़कर सामाजिक जीवन को व्यक्त करने वाली काव्य–भाषा।
- आक्रोश एवं विद्रोह के बावजूद भाषा में लालित्य बनाए रखना।
- तथाकथित भद्र लोगों की नफासत से भरी भाषा को निरर्थक बताकर काव्य–भाषा के सही रूप की पहचान।
- पुलिस और समाज के दूषित सम्बन्ध को अनेकशः उठाया गया है।
- हादसों की भाषा के बजाए बदली हुई भाषा में हादसों को व्यक्त करने वाली काव्य भाषा।
- मनुष्येतर प्राणियों के माध्यम से मनुष्य की अमानवीय स्थिति को व्यक्त करने वाली काव्य–भाषा।
- अफसरों और जनता के बीच अविश्वास की काव्य–भाषा।
- सामाजिक जीवन की परेशानियों को तलाशती हुई, सत्ता के खिलाफ व्यंग्यधर्मी काव्य–भाषा।
- छिछली भावुकता से मुक्त सहानुभूति और संवेदना की काव्य–भाषा।
- रेखाचित्र की काव्य–भाषा।
- लोक–भाषा से व्यंग्य की काव्य–भाषा की रचना।
- भाषा के भदेस रूप का सार्थक उपयोग।
- प्रसंगानुकूल भाषा के 'टोन' को पकड़ने वाली काव्य भाषा।
- चित्रात्मक भाषा के उपयोग से काव्य–भाषा को नए चित्रों के अनुकूल बनाना।
- वर्णित वर्ग के अनुकूल काव्य–भाषा।
- सामान्य प्रतिक्रियाओं–क्रियाओं को व्यक्त करने वाली काव्य–भाषा के कारण उत्पन्न विशिष्टता।
- तुकबन्दी का उपयोग व्यंग्य की धार को तेज करने

(ग) राजनीतिक व्यंग्य और काव्य–भाषा

नागार्जुन अपनी राजनीतिक कविताओं के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। आम आदमी की राजनीतिक भाषा में गहरी राजनीतिक चेतना को व्यक्त करने की क्षमता नागार्जुन अपनी काव्य–भाषा में विकसित करते हैं। इस मामले में वे हिंदी कवियों में अद्वितीय हैं। हिन्दी के अनेक दूसरे कवियों ने भी राजनीतिक कविताएँ लिखी हैं, किंतु आम आदमी की राजनीतिक भाषा को सबसे ज़्यादा अपनाने वाले नागार्जुन अकेले हैं।

नागार्जुन की राजनीतिक कविताओं की काव्य–भाषा की सबसे बड़ी शक्ति व्यंग्य के कारण हैं। मैनेजर पांडेय ने लिखा है, 'नागार्जुन ने कविता में व्यंग्य का राजनीतिक आलोचना के अस्त्र के रूप में प्रयोग किया है। और इस तरह कबीर तथा भारतेंदु हरिश्चंद्र की परम्परा का विकास किया है। उन्होंने स्वाधीनता आंदोलन और बाद के अधिकांश राजनीतिक नेताओं, दलों और विचारधाराओं की सार्थकता–निरर्थकता को व्यंग्य की अपनी कसौटी पर कस कर परखा है और उनकी असलियत को जनता के सामने रखा है। वे अपनी व्यापक सामाजिक, राजनीतिक संवेदनशीलता और जनता के जीवन–संग्राम की भाषा से गहरी आत्मीयता के कारण तात्कालिक विषयों पर सार्थक कविताएँ लिखते हैं। जबकि दूसरे कवि तात्कालिक विषयों पर कविता लिखने से बचते हैं या फिर अगर लिखते हैं तो कविता के नाम पर काव्याभास हमारे सामने आता है।''[81]

नागार्जुन के लिए व्यंग्य हथियार के रूप में है। इसे वे जनता का हथियार बनाते हैं। प्रजातंत्र में यद्यपि जनता की ही सत्ता होनी चाहिए, किंतु प्रजातंत्र की मौजूदा स्थिति में सत्ता की मनोवृत्ति निरंकुश बनने की होती है। ऐसी हालत में सत्ता की विसंगतियों की आलोचना का माध्यम नागार्जुन व्यंग्यात्मक कविताओं को बनाते हैं। ऐसी कविताओं की भाषा अनेक विशिष्टताओं से युक्त है। इन्हीं विशिष्टताओं का अध्ययन करना इस उप अध्याय का उद्देश्य है।

नागार्जुन अपने लेखन–काल के प्रारम्भ से ही राजनीतिक रूप से जागरुक कवि रहे हैं। जनवरी 1944 में 'बापू' तथा 'महामानव लेनिन' शीर्षक कविताएँ क्रमशः 'क़ौमी बोली' और 'लोकयुद्ध' में छपी थीं। महात्मा गाँधी की हत्या से विह्वल नागार्जुन ने जनवरी 1948 में ही 'तर्पण'[82] तथा 'शपथ'[83] शीर्षक कविताएँ लिखीं, जिनमें साम्प्रदायिक राजनीति की भर्त्सना की गयी है तथा स्वतन्त्र भारत की तत्कालीन कांग्रेसी सरकार के

रवैये पर व्यंग्य किया गया है। 'शपथ' के कारण नागार्जुन को जेल की सज़ा हुई थी। साम्प्रदायिक हिंदूवादी राजनीति को गाँधीजी की हत्या के लिए जिम्मेदार मानते हुए उन्होंने लिखा–

"काँटे कहाँ, कहाँ रोड़े हैं
कहाँ गढ़ा है, कहाँ रेत है
सभी साफ हो गया आज, जनता सचेत है
कोटि–कोटि कंठों से निःसृत सुन–सुनकर आक्रोश
भगवा–ध्वजधारी दैत्यों के उड़े जा रहे होश
लगे बदलने दुष्ट पैंतरे .....
.....
यातुधान की अद्‌भुत माया मुझसे कही न जाए
कौन बताए कालनेमि की लीला अपरम्पार
काली टोपी जला–जला वह आज कर रहा
तेरी जय–जयकार?"[84]

हिन्दूवादी राजनीति करने वाले राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ पर नागार्जुन का यह खुला आक्रमण है। वे उन्हें 'भगवा–ध्वजधारी दैत्य' कहते हैं। 'भगवा–ध्वजधारी' तो देवताओं और हिन्दू संस्कृति के संवाहकों को होना चाहिए, किन्तु गाँधीजी की हत्या करने वाले ये हिन्दूवादी 'दैत्य' ही हो सकते हैं। इस तरह व्यंग्य पैनापन लिए हुए है। गाँधीजी की लोकप्रियता और उनकी हत्या के आरोपों से घबराया आर.एस.एस. इस बात को सिद्ध करने लगा कि हत्यारे नाथूराम गोडसे से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है तथा संघ गाँधीजी का सम्मान करता है। आर.एस.एस. की इस चाल को नागार्जुन सांस्कृतिक प्रतीकों 'यातुधान', 'कालनेमि' जैसे शब्दों से व्यक्त करते हैं। 'काली टोपी जला–जला' में गहरा व्यंग्य अंतर्निहित है।

नागार्जुन सरकार की आलोचना सीधी व्यंग्योक्ति में भी करते हैं–

"क्या करते थे दिल्ली में बैठे पटेल सर्दार
जिसके घर में कोई घुसकर साधू को दे मार
वैसे गृहपति को धिक्कार।"[85]

'गृहपति' का अर्थ 'गृहमन्त्री' है। नागार्जुन शब्द को थोड़ा बदलकर व्यंग्य बोध को प्रभावशाली बना देते हैं– 'साधू' शब्द से सरदार पटेल की जिम्मेदारी बढ़ जाती है। सरकार चाहती है कि जनता शांत रहे। इस 'शांति' के पीछे मंशा होती है राजनीति के

अनुकूल जाँच–पड़ताल चले ताकि सत्तासीन पार्टी को अधिकाधिक लाभ मिल सके। नागार्जुन खामोश आक्रोश के साथ व्यंग्य करते हैं–

'ज़ोर ज़ोर से/खाँस–खाँसकर
शुरू हो गया नेताओं का/मधुर बुझावन मधुर सिखावन–
शांत रहे हम/हत्यारे को सज़ा मिलेगी
जो कुछ भी करना है सब सरकार करेगी
तत्पर हो सारी साजिश की जाँच और पड़ताल करेगी
शांत रहें हम/चुप बैठें हम
धरे हाथ पर हाथ/'हाय–हाय' कर सो भी आहिस्ते से पीटें माथ।''[86]

इसी क्रम में 'वाह, गोडसे!'[87] शीर्षक कविता को भी देखा जाना चाहिए। नाथूराम गोडसे को सांप्रदायिकता की राजनीति करनेवालों ने खूब समझा–बुझाकर तैयार किया कि तुम गाँधीजी की हत्या करके वास्तव में हिंदुत्व की रक्षा कर रहे हो। नागार्जुन की भाषा में इसका व्यंग्यात्मक विवरण देखने योग्य है–

'खिला–खिलाकर मक्खन–मिसरी/आसव और अरिष्ट पिलाकर
नानाविध अवलेह चटाकर/दाँव–पेंच सब सिखा–पढ़ाकर
देकर के पिस्तौल और छर्रों की पेटी/तुम्हें जिन्होंने
बना दिया था महावीर विक्रम बजरंगी''[88]

'महावीर विक्रम बजरंगी' 'हनुमान–चालीसा' की एक अर्धाली है जिसका उपयोग नागार्जुन गोडसे के लिए कर रहे हैं। धार्मिक आस्था का दुरुपयोग, सांप्रदायिक राजनीतिज्ञ, संवेदनाओं को विकृत बनाकर करते हैं।

स्वतंत्र भारत में किसानों की बदहाली समाप्त नहीं हुई। जमींदारी–प्रथा समाप्त होने के बावजूद जमींदारों का प्रभाव बना रहा। पुलिस, प्रशासन, नेता, पार्टी की भूमिका ऐसी नहीं बन पायी कि किसान आजादी को महसूस कर सकें। किसानों के लिए यह आजादी बहुत सार्थक रूप ग्रहण नहीं कर पायी। दूसरा पक्ष यह रहा कि किसानों को संगठित कर सशस्त्र विद्रोह तेलंगाना में हुए। नागार्जुन इस वामपंथी विद्रोह को नाम देते हैं– 'लाल भवानी'। हिंदू मान्यताओं में 'भवानी' लाल नहीं काली हैं। नागार्जुन इस क्रांति को सांस्कृतिक धरातल प्रदान करते हैं– 'लाल भवानी प्रकट हुई हैं सुना कि तैलंगाने में!'। 'लाल भवानी'[89] शीर्षक कविता में आजाद भारत की किसान–विरोधी परिस्थितियों को 'कागज की आजादी' कह कर नागार्जुन मजाक उड़ाते हैं–

'काग़ज की आजादी मिलती ले लो दो–दो आने में
लाल भवानी प्रकट हुई हैं सुना कि तैलंगाने में!''

नागार्जुन के राजनीतिक व्यंग्य–वाण सबसे ज़्यादा काँग्रेस और काँग्रेसियों पर चले हैं। लोक और शास्त्र से लेकर असंख्य स्रोतों से शब्द जुटाकर वे काँग्रेस पर व्यंग्य करते हैं। स्वाधीनता आंदोलन का नेतृत्व करने वाली सबसे बड़ी राजनीतिक पार्टी काँग्रेस स्वतंत्र भारत में सर्वाधिक समय तक सत्ता में रही। इसलिए उसकी जिम्मेदारी भी सबसे ज़्यादा मानी जाएगी। इसी तरह स्वतंत्र भारत में विपक्ष की भूमिका में सबसे ज़्यादा समय तक वामपंथी पार्टियाँ रहीं। नागार्जुन मार्क्सवादी होने के नाते सी.पी.आई. से जुड़े। बाद में सी.पी.एम. तथा सी.पी.आई. (एम.एल.) से जुड़े तथा अलग हुए। नागार्जुन का मार्क्सवाद से स्थायी सम्बन्ध रहा। कम्युनिस्ट पार्टियों से उनकी अनेक असहमतियाँ बीच–बीच में उभरती रहीं। उनकी राजनीतिक विचारधारा सदैव मार्क्सवादी रही, इसके लिए पार्टी से बँधे रहना उन्हें संभव नहीं लगा। यही कारण है कि वे वामपंथी पार्टियों पर भी व्यंग्य करते हैं। इन व्यंग्योक्तियों में उनकी राजनीतिक पक्षधरता स्पष्ट रूप से प्रकट होती है। वे राजनीतिक दृष्टि–दोष के शिकार कभी नहीं रहे।

1948 की कविता है– 'भुस का पुतला'[90]। इसमें काँग्रेस पार्टी की विचारधारात्मक कमियों पर व्यंग्य किया गया है। उसकी तुलना खेत में खड़े किए गए पुतले से की गई है, जो चिड़ियों को भगाने के काम आता है– 'दिल–दिमाग भुस का, खद्दर की थी खाल!'

काँग्रेस के दिल–दिमाग में भूसा भरा है तथा खादी की चमक से उसे ढँकने की कोशिश की जाती है। काँग्रेसी शासन के खोखलेपन को इस अन्योक्ति शैली में बड़े रोचक ढंग से रखा गया है–

''फैलाकर टाँग/उठाकर बाँहें
अकड़कर खड़ा है भुस–भरा पुतला/कर रहा है निगरानी
ककड़ी–तरबूज की/खीरा–खरबूज की
सो रहा होगा अपाहिज मालिक घर में निश्चिंत हो
खेत के नगीज़/कोई मत आना
हाथ मत लगाना/प्रान तो प्रिय है तो
भुस का पुतला खाँस रहा खोऽ खोऽ खोऽ''।[91]

'नगीज़', 'प्रान', 'खोऽ', के प्रयोग से प्रशासनिक चौकसी पर व्यंग्य की धार और गहरी होती है। खाँसकर और टाँग–बाँह फैलाने का स्वाँग भरकर देश की रखवाली की

जा रही है और आलम यह है कि ठीक रखवाले के निकट एक व्यक्ति/कवि बैठा है जिसका 'अपच के मारे बुरा था हाल।' शिष्टाचार के नाते इस तरह का व्यंग्य प्रायः नहीं किया जाता है, किंतु 'जनकवि' क्यों हकलाए, वह तो जनता की व्यंग्य–भाषा का सहारा लेगा ही।

सत्य और अहिंसा के सहारे राजनीतिक आंदोलनों को मुकाम तक पहुँचानेवाले महात्मा गाँधी के उत्तराधिकारी होने का दावा करने वाली काँग्रेसी सरकार स्वतंत्र भारत की सत्ता सँभालते ही कितनी बदल गयी है। नागार्जुन इसे 'रामराज'[92] कहकर व्यंग्य–बाण छोड़ते हैं–

"लाज–शरम रह गई न बाकी गाँधीजी के चेलों में
फूल नहीं लाठियाँ बरसतीं रामराज की जेलों में
भैया, लंदन ही पंसद है अज़ादी की सीता को–"[93]

नागार्जुन सांस्कृतिक–धार्मिक शब्दों के सहारे प्रायः व्यंग्य करे हैं– 'रामराज', 'सीता'। 'खद्दरधारी' नेताओं को 'विकट कसाई' कहते हैं। त्याग के प्रतीक नेताओं का स्वभाव अब विलासी हो गया है– 'खादी ने मलमल से अपनी साँठ–गाँठ कर डाली है'।

अमेरिका परस्ती और हथियारों की होड़ की आलोचना करते हुए नागार्जुन 'राष्ट्रगान' के 'भाग्य–विधाता' शब्द को गहरे व्यंग्य के साथ प्रस्तुत करते हैं–

हिंद आजकल अमरीका से बंदूकें मँगवाता है
ट्रू मैन ही मानो इस धरती का भाग्य–विधाता है।"[94]

'रामराज' की नयी तस्वीर यह है कि यहाँ 'कुम्भकरन का रावण का' गहरा नाता है और यहाँ 'रावन नंगा होकर नाचा है'। 'ण' की जगह 'न' का प्रयोग सोद्देश्य है, लोक–उच्चारण के लिए।

नागार्जुन राजनीतिक व्यंग्य की कविता बच्चों के खेल की भाषा–शैली में भी रचते हैं। 'बाकी बच गया अंडा'[95] वस्तुतः स्वाधीनता संग्राम का चरणबद्ध इतिहास है। आजादी की लड़ाई की शुरुआत शहादत से हुई, देश–निकाला, विभाजन, सत्ता–प्राप्ति और स्वतंत्र होकर अपने ही देशवासियों के दमन की प्रक्रिया की परिणति हुई– 'बाकी बच गया अंडा'। पूरी कविता को सामने रखने पर ही इसका भाषागत–व्यंग्य बोध खुल पाता है–

'पाँच पूत भारतमाता के, दुश्मन था खूँखार
गोली खाकर एक मर गया, बाकी रह गए चार

चार पूत भारतमाता के, चारों चतुर–प्रवीन
देश–निकाला मिला एक को, बाकी रह गए तीन
तीन पूत भारतमाता के, लड़ने लग गए वो
अलग हो गया उधर एक, अब बाकी बच गए दो
दो बेटे भारत माता के, छोड़ पुरानी टेक
चिपक गया है एक गद्दी से, बाकी बच गया एक
एक पूत भारत माता का, कंधे पर है झंडा
पुलिस पकड़ के जेल ले गई, बाकी बच गया अंडा!''[96]

नागार्जुन का आक्रोश व्यंग्य बनकर निकलता है सत्ता के प्रति। मुहावरेदार भाषा, भदेस क्रियाओं और मात्रिक छंद के प्रवाह के साथ इस व्यंग्य की अपील की ताकत बढ़ जाती है। 'स्वदेशी शासक'[97] की तस्वीर–

बात बनाओ/करो बहाने
गप्पें मारो/लो जँभाइयाँ
ताजा–ताजा माल उड़ाओ
चाँदी का मुँह, कंचन की है जीभ तुम्हारी
चरण तुम्हारे गगन विहारी
. . . . . .
हमें सीख दो शांति और संयत जीवन की
अपने खातिर करो जुगाड़ अपरिमित धन की
बेच–बेचकर गाँधीजी का नाम
बटोरो वोट/हिलाओ शीश
निपोड़ो खीस/बैंक–बैलेंस बढ़ाओ
राजघाट पर बापू की वेदी के आगे अश्रु बहाओ
तैरो घी के चह बच्चों में, अमरित की हौदी में बाबू खूब नहाओ''[98]

मध्यकालीन छंद मुकरी में राजनीतिक व्यंग्य लिखते हुए ब्रजभाषा का आभास दिलाने वाले शब्द–रूप आकर्षित करते हैं–

'बातन की फुलझड़ियाँ छोड़ै/बखत पड़े तो चट मुँह मोड़ै
छन में शेर, छन में गीदड़/क्या सखि साजन? ना सखि लीडर''[99]

'मैं कैसे अमरित बरसाऊँ' में स्वातंत्र्योत्तर निराशा और व्यंग्य है। कुछ लोगों (साहित्यकारों) को सरकारी लाभ मिलने के कारण प्रचार का चस्का चढ़ा कि सरकार के

पक्ष में कविताएँ रची जाएँ। 'जनकवि' जनता का हवाला देकर व्यवस्था पर व्यंग्य करता है कि–

'झड़े जा रहे बाल, किस तरह जुल्फ़ें मैं दिखाऊँ?
तुम्हीं बताओ मीत कि मैं कैसे अमरित बरसाऊँ?''[100]

इस कविता की भाषा में भी भदेस क्रियाओं के प्रयोग से अधिकतर व्यंग्य उत्पन्न किया गया है– झड़े, सरसाऊँ, घोंघा फूँक बजाऊँ, रबड़ी पुतवाऊँ आदि।

प्रचलित गीतों, छंदों, पंक्तियों को थोड़ा–बदलकर व्यंग्यपूर्ण काव्य–भाषा की रचना का कौशल नागार्जुन में बखूबी है। 'वैष्णव जण तो तेणे कहिए जे पीर पराई जाणे रे' नरसी मेहता का गुजराती भाषा में रचित भजन गाँधीजी को बहुत प्रिय था। गाँधीवाद के पोषक काँग्रेसियों पर इसी पंक्ति के सहारे थोड़ा परिवर्तन के साथ तिलमिलाने वाला व्यंग्य किया गया है–

'काँग्रेसजन तो तेणे कहिए, जे पीर आपणी जाणे रे
पर दुःख में अपना सुख साधे, दयाभाव न आणे रे''[101]

'ण' का प्रयोग इस तरह किया गया है कि गुजराती का प्रभाव छद्म रूप से दिखे और काँग्रेसियों का भी छद्म रूप प्रकट हो। इसी तरह अनेक शब्दों के रूप यहाँ देखने योग्य हैं– केनी, तेनी, अपनो, छन, बस्यों, मनमाँ, तनमाँ, तकंदीरन की ताली, बखाणै, हितमाँ आदि।

नागार्जुन विनोबा भावे के भूदान आंदोलन से सहमत नहीं थे। सामाजिक–राजनीतिक समस्याओं का आध्यात्मिक और नैतिक रास्ते से समाधान निकालने का अक्सर पाखण्ड किया जाता है। वस्तुतः समस्या के जिम्मेदार ताकतवर लोगों से टकराने की क्षमता जब सत्ता में नहीं होती है, तब कभी–कभी ऐसा पाखण्ड दिखायी पड़ जाता है। नागार्जुन भूदान को धार्मिक व्रत–त्योहार और कर्मकाण्ड के दान–दक्षिणा की भाषा में प्रस्तुत करके इसकी व्यर्थता के बिंदुओं की पोल 'हरगंगे'[102] शीर्षक कविता की दान–दक्षिणा वाली काव्य–भाषा में खोलते हैं–

''बाँझ गाय बाभन को दान हरगंगे
मन ही मन खुश है जजमान हरगंगे
ऊसर बंजर और श्मशान हरगंगे
संत विनोबा पावैं दान हरगंगे''[103]

'हरगंगे' की आवृत्ति इस कविता की सभी छियालीस पंक्तियों के अंत में है। दान–दक्षिणा की भाषा, टोन और लय को इस काव्य–भाषा में नागार्जुन महसूस कराते हैं।

चुनाव के दबाव में लोकप्रिय घोषणाएँ करना जन–प्रतिनिधियों की आदत, प्रवृत्ति और मजबूरी है। जनता के सामने नाटकीय अंदाज में संवेदनशील दिखने की कोशिश, भावुक हो जाने का छद्म, असंभव–सी लगनेवाली लुभावनी घोषणाएँ आदि से आम आदमी बखूबी परिचित है। नागार्जुन इस प्रकरण को अत्यंत सुलझी हुई व्यंग्यात्मक काव्य भाषा में व्यक्त करते हैं। नेताओं के हाव–भाव और हरकतों को 'अभी–अभी उस दिन' शीर्षक कविता के 'मिनिस्टर' में देख सकते हैं–

> "अभी–अभी उस दिन मिनिस्टर आए थे/बत्तीसी दिखलाई थी, वादे दुहराए थे
> भाखा लटपटाई थी, नैन शरमाए थे/छपा हुआ भाषण भी पढ़ नहीं पाए थे
> जाते वक्त हाथ जोड़ कैसे मुस्कुराए थे/अभी–अभी उस दिन . . . . ."[104]

बत्तीसी दिखलाई, भाखा लटपटाई, नैन शरमाए, कैसे मुस्कुराए– जैसे प्रयोगों के कारण यह काव्य–भाषा 'मिनिस्टर' के व्यक्तित्व को हास्यास्पद बनाकर जनता के व्यंग्य का निशाना बना दे रही है।

'खेतों में, खलिहानों में' 'यम की नानी' मँडरा रही है और 'गल्ले की सरकारी दुकानों में' ताला लटक रहा है। वस्तुतः 'गाँधी–टोपी' को 'किश्ती' बनाकर राजनीति का बाज़ार चमक रहा है। 'नेहरू के इन चेलों की लीला अपरम्पार' है कि किसान–मजूर और आम आदमी अभाव झेल रहा है, जबकि मिनिस्टरों की 'तीस हजारी कार' 'पीच रोड पर मचल रही है'–

> 'जाँता चुप है, चूल्हा ठंडा, हाड़ी–तौला खाली है
> फ़सलों की बर्बादी क्या थी, जनता की पामाली है
> मिनिस्टरों के गालों पर देखो तो फिर भी लाली है
> बात–बात पर बड़ी बात, पग–पग पर ख़ामख़याली है
> सौ का खाना एक खा रहा आती नहीं डकार
> नेहरू के इन चेलों की है लीला अपरम्पार
> पीच रोड पर मचल रही है तीस हज़ारी कार'[105]

जनता की भाषा में राजनीतिक वैभव की आलोचना 'तीस हजारी' और 'पीच रोड' में मौजूद है। 'नौलक्खा' की तर्ज पर 'तीस हजारी' और जाँता–चूल्हा का मानवीकरण जनकवि की खासियत है।

'पंडित जी जानेवाले हैं रानी के दरबार में'[106] शीर्षक कविता में कॉमनवेल्थ पर व्यंग्य की जो भाषा नागार्जुन ने अपनायी है, वह अपेक्षाकृत कठोर है–

कामनवेल्थी दुनिया क्या है, बूचड़ का बाज़ार है
प्रजातंत्र पर्दा है पर खूनी सरकार है
चर्चिल–ईडन–अटली–बीवन पूरा गुट खूँखार है
पग–पग पर आजाद हिंद भी उनका बरखुर्दार है
कॉमनवेल्थी दुनिया क्या है, बूचड़ का बाजार है।''[107]

नेहरू की विदेश–नीति पर व्यंग्य अन्य कविताओं में भिन्न–भिन्न काव्य–भाषा में मिलता है। 'बताऊँ?' शीर्षक कविता में नागार्जुन लिखते हैं–

'बताऊँ? / कैसी लगती है–
नेहरू की विदेशी–वाणिज्य–भक्ति?
धीरोदात्त नायक की सुदुर्लभ परकीया–रसाई!!''[108]

नायक–भेद के अंतर्गत नेहरू को धीरोदात्त की कोटि में रखना और मध्यकालीन शृंगार–बोध के परकीया प्रेम से नीतिगत प्रश्नों को जोड़ना– नागार्जुन की इस व्यंग्य–भाषा की यही प्रक्रिया है।

प्रसिद्ध काव्य–पंक्तियों के सहारे भी नागार्जुन संदर्भ बदल कर व्यंग्य करते हैं। 'झंडा ऊँचा रहे हमारा' झंडा गीत के रूप में स्वाधीनता आंदोलन के दौर में लोकप्रिय पंक्ति रही। इसके प्रथम टुकड़े 'विजयी विश्व तिरंगा प्यारा' को हटाकर नागार्जुन स्वतंत्र भारत की सरकार के दमन–चक्र पर ज़ोरदार व्यंग्य करते हैं–

''दस हज़ार, दस लाख मरें, पर झंडा ऊँचा रहे हमारा!
कुछ हो, काँग्रेसी शासन का डंडा ऊँचा रहे हमारा!''[109]

'हाथी घोड़ा पालकी जै कन्हैया लाल की / लकइवन के हाथी–घोड़ा बुढ़वन के पालकी / जै कन्हैया लाल की'–बच्चों को कंधे पर बिठाकर खेलाते हुए यह गीत बड़े लोग गाते हैं। बच्चों को उछाल–उछालकर एहसास कराते हैं कि तुम हाथी–घोड़े पर बैठे हो। नागार्जुन ने इस तर्ज का कलात्मक उपयोग नेहरू की आलोचना के लिए किया है। बच्चों के गीत में नेहरू की आलोचना का अर्थ हुआ नेहरू को बचकाना बताना। इंग्लैण्ड की रानी 1961 में भारत आईं और नेहरू जी के साथ–साथ पूरी सरकार ने पुराने इतिहास को भुलाकर स्वागत किया। 'आओ रानी, हम ढोएँगे पालकी' की भाषा बच्चों की

खेल–कूद से जुड़ी है। खेल–कूद की भाषा में विदेश–नीति पर टिप्पणी वास्तव में हास्यास्पद स्थिति को व्यक्त करने का प्रयास है–

"आओ रानी, हम ढोएँगे पालकी
यही हुई है राय जवाहर लाल की
रफू करेंगे फटे–पुराने जाल की
यही हुई है राय जवाहर लाल की
आओ रानी, हम ढोएँगे पालकी!
. . . . . .
भूखी भारतमाता के सूखे हाथों को चूम लो
प्रेसिडेंट की लंच–डिनर में स्वाद बदल लो, झूम लो
पद्म–भूषणों, भारत–रत्नों से उनके उद्‌गार लो
पार्लमेंट के प्रतिनिधियों से आदर लो सत्कार लो
मिनिस्टरों से शेकहैंड लो, जनता से जयकार लो।"[110]

नागार्जुन वैचारिक असहमति को व्यंग्य के द्वारा व्यक्त करते हैं। चीनी आक्रमण से क्षुब्ध नागार्जुन ने सी.पी.आई. की ढुलमुल विदेश–नीति पर करारा व्यंग्य किया है। चीनी नेताओं के नाम की तर्ज को व्यंग्य–भाषा का आधार बनाया–

आओ जी, आओ जी, आओ जी !
माओ–सी, शाओ–ची, चाओ–जी !
आओ जी, आओ जी, आओ जी !

हटा नहीं आँखों का पट्‌टर !/कामरेड हूँ कैसा कट्‌टर !
मुझे लील लो,/मुँह तो पूरा बाओ जी !
आओ जी, आओ जी ![111]

चाओ, आओ, बाओ, माओ का हास्य–बोध ध्यान खींचता है। 'कम्युनिज़्म के पंडे'[112] शीर्षक कविता में चीन के वामपंथ को मार्क्स–विरोधी बताने के लिए नागार्जुन कैसा दृश्य कल्पित करते हैं–

"मार्क्स, तेरी दाढ़ी में जूँ ने दिए होंगे अंडे
निकले हैं, उन्हीं से कम्युनिज़्म के चीनी पंडे"[113]

बौद्धिक रूप से खोखले और अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के नाम पर चीनी आक्रमण के प्रति खामोश वामपंथियों के प्रति नागार्जुन की गहरी नाराजगी है। ऐसे वामपंथियों को वे

'लाल पान के गुलाम' बताकर हँसी उड़ाते हैं। वामपंथी पार्टी ने नागार्जुन को पार्टी–विरोधी गतिविधियों में लिप्त माना। नागार्जुन की कसौटी थी, 'पुत्र हूँ भारतमाता का, और कुछ नहीं।'[114] देशविरोधी नीतियों को ढँकने के लिए वामपंथी दल विरोधी साथियों को अवसरवादी कहकर तिरस्कृत करने की कोशिश करता था। नागार्जुन इस वैचारिक गड़बड़ी को विशेषण–विपर्यय का सहारा लेकर व्यक्त करते हैं–

"कल था वामपंथी कम्युनिस्ट
आज हूँ कम्युनिस्ट दक्षिणपंथी"[115]

विचारधारा, वैचारिकता, बौद्धिकता, विमर्श आदि के 'टेबुल टॉक' में सहज बोध का तिरस्कार नागार्जुन को असह्य है। व्यवहार–शून्यता के खिलाफ़ नागार्जुन की काव्य–भाषा सक्रिय है। भारत की सार्वभौमिकता, अखंडता, एकता और अक्षुण्णता को परे करके कम्युनिस्ट इंटरनेशनल को मोहग्रस्त मानसिकता के साथ सर्वाधिक महत्त्व देना– वस्तुतः तत्कालीन वामपंथी पार्टी के अधिकारियों की ऐतिहासिक भूल थी, जिसे बाद में पार्टी ने स्वीकारा। भाषा के लोकप्रचिल रूप में नागार्जुन व्यंग्य करते हैं–

"जी हाँ, पेकिङ् ही रहते थे कल तक मेरे नाना'
जी हाँ, मैंने अपनी माता को अबके पहचाना"[116]

'नाना' और 'माता' का जिस रूप में हवाला दिया गया है, उसकी भाषा वस्तुतः पारिवारिक– घरेलू झगड़े की भाषा है। चीन ने भारत से बौद्ध धर्म को प्राप्त किया, जिसका मूलमंत्र है– अहिंसा और 'नमो बुद्धायः बुद्धं शरणं गच्छामि!' पर 'फाहियान के वंशधर'[117] अब बदल गए हैं। नागार्जुन उपर्युक्त सूत्र की भाषा में ही चीन के बदले हुए मूलमंत्र को व्यंग्य के साथ प्रस्तुत करते हैं–

'नमो युद्धायः युद्धं शरणं गच्छामि!'

मार्क्सवाद, चीनी वामपंथ और भारतीय राजनीति के त्रिकोण को 'आओ, इसे जिंदा ही कब्र में गाड़ दें!' शीर्षक कविता में क्रियाओं के सहारे व्यंग्य का निशाना बनाया गया है–

"कौन था बाघ, कौन था खूँखार?/माओ–चाओ–शाओ की कम्युनिस्ट सरकार!
दुख हुआ मार्क्स को, स्टालिन मुसकाया!/गाँधी के मुँह पर फीकापन छाया!!"[118]

इसी कविता की पंक्ति हैं 'लेनिन की लाश जँभाई नहीं लेती है।' और जुगुप्सा भरी भाषा का प्रयोग चीन के 'कमूनिस्ट कठमुल्ले' के लिए–

"आओ, इसको नफ़रत की थूकों से नहलाओ!!"

'फ़िक्र में पड़ गए कामरेड!' शीर्षक कविता में नागार्जुन 'इंडिया टुडे' के लेखक और वामपंथी विचारक रजनीपाम दत्त की राजनीतिक समझ पर विशिष्ट तुकबंदीवाली भाषा में व्यंग्य करते हैं–

"नाहक घिच्च–पिच्च की छोड़ो भी लत्त!
बोले हैं इंग्लिसिया तवारिश रजनी पामदत्त।"[119]

'दत्त' के साथ 'सुरक्षा परिषद् की छत्त', 'पानीपत्त', धत्तेरी, धत्तुम्हारी धत्त!', 'लार टपकत्त', 'साथ–साथ रहत्त', 'भड़कत्त', 'गलत्त' और अंत में 'सत्त नाम सत्त!' की तुकबंदी के कारण काव्य–भाषा का व्यंग्य–प्रभाव विशिष्ट हो गया है।

'महाप्रभु जान्सन (क)' शीर्षक कविता अमेरिका के राष्ट्रपति और अमेरिकी तानाशाही पर व्यंग्य है। इस व्यंग्य–भाषा की विशेषता है कि इसमें संत रविदास की प्रसिद्ध पंक्ति 'प्रभुजी, तुम चंदन हम पानी' की पैरोडी की गयी है। पैरोडी की भाषा स्वतः व्यंग्यात्मक होती है–

"हम काहिल हैं, हम भिखमंगे, तुम हो औढरदानी,
अबकी पता चला है प्रभुजी, तुम चंदन हम पानी
हम निचाट धरती निदाघ की, तुम बादल बरसाती।
अबकी पता चला है प्रभुजी, तुम दीपक हम बाती"[120]

इसी तरह 'चलो–चलो धरना दें चलकर' शीर्षक कविता में सुभद्रा कुमारी चौहान की प्रसिद्ध कविता 'झाँसी की रानी' की पैरोडी इंदिरा गाँधी के विरुद्ध नागार्जुन ने की है–

"खूब लड़ी मर्दानी वो तो चमकी थी तलवार में
यह मर्दानी दमक रही है डालर के अभिसार में
उसे फिरंगी झुका न पाए, आगे थी ललकार में
इसको तो वे बहा ले गए हमदर्दी की धार में
खूब लड़ी मर्दानी वो तो चमकी थी तलवार में।"[121]

'आए दिन बहार के' (तुमने कहा था, 1966) शीर्षक कविता की भाषा चर्चित रही है। रीतिकालीन कवि गुलाम नबी रसलीन का प्रसिद्ध दोहा है–

अमिय हलाहल मदभरे स्वेत स्याम रतनार।
जियत मरत झुकि झुकि परत जेहि चितवत इक बार।।

नायिका की आँखें इन विशेषताओं से युक्त हैं और इनका प्रभाव रसिकों पर पड़ रहा है। नागार्जुन के प्रयोग का वैशिष्ट्य बदला हुआ है–

"स्वेत–स्याम–रतनार' अँखियाँ निहार के/सिंडिकेटी प्रभुओं की पग–धूर झार के
लौटे हैं दिल्ली से कल टिकट मार के/खिले हैं दाँत ज्यों दाने अनार के
आए दिन बहार के!"[122]

चुनावी टिकट के इच्छुक पार्टी आलाकमान की 'स्वेत स्याम रतनार' अँखिया निहार रहे हैं। आलाकमान की आँखों में अमृत, जहर और शराब–तीनों हैं। कहाँ नायिका की आँखें और कहाँ आलाकमान की। व्यंग्य तो वैसे ही गहरा जाता है। नायिका की दंत पंक्तियाँ और टिकटार्थी की– अनार के दाने सौन्दर्य का नहीं, व्यंग्य का प्रतीक बन गए हैं। और तुकबंदी थियेटर के नाच वाले गाने से– आए दिन बहार के। विभिन्न स्रोतों से भाषा को व्यंजनात्मक बनाने में कवि को सफलता मिली है।

'गौडेस ऑफ लिबर्टी' की मूर्ति अमेरिका में लगी है तथा सबकी जनतांत्रिक आज़ादी का उद्घोष करती है। अमेरिका वियतनाम की संप्रभुता के लिए बीस वर्ष तक खतरा बना रहा। इसी तरह अनेक देशों में अमेरिकी हस्तक्षेप हिंसक रूप में आज तक बना है। नागार्जुन 'देवी लिबर्टी' और 'लिबर्टी मैया' कहकर अमेरिका की आलोचना करते हैं।

'आखिर . . . इंसान हैं . . . भाई मोरारजी'[123] में 'भाई मोरार जी!' की आवृत्ति सभी 28 पंक्तियों के अंत में है। इसी तरह 'लगता पागल हो जाएगी'[124] में 'छोटी बहन हमारी' की आवृत्ति सभी 28 पंक्तियों के अंत में है। मंत्रोच्चार के स्वाहा, फेरीवाले की पुकार, बाजार में माल बेचनेवालों की पद्यात्मक पुकार आदि से मिलता–जुलता प्रयोग इन आवृत्तियों में करके नागार्जुन प्रभावशाली व्यंग्य की भाषा रचते हैं।

'अब तक छिपे हुए थे उनके दाँत और . . .'[125] शीर्षक कविता सांप्रदायिक राजनीति के विरुद्ध हैं। राजनीतिक व्यंग्य का निशाना बनाने के लिए नागार्जुन लोक–भाषा, पौराणिक आख्यान, इतिहास आदि से शब्द लाते हैं। इन सबको मिलाकर अपनी शैली में व्यंग्य की गजब धारा वे पैदा कर देते हैं–

"मायावी हैं, बड़े घाघ हैं, उन्हें न समझो मंद !
तक्षक ने सिखलाए उनको 'सर्पनृत्य' के छंद !
अजी, समझ लो, उनका अपना नेता था जयचंद !
हिटलर के तंबू में अब वे लगा रहे पैबंद !
मायावी हैं, बड़े घाघ हैं, उन्हें न समझो मंद !"[126]

'तीनों बंदर बापू के'[127] कविता में शीर्षक की आवृत्ति तीस बार है। गाँधीवाद की काँग्रेसी परिणति स्वतंत्र भारत में आलोचना का विषय रही। इस आवृत्ति के कारण कविता की भाषा तमाशाई होकर व्यंग्य को धारदार बना रही है।

'मंत्र कविता'[128] बहुचर्चित है। मंत्रोच्चार की भाषा, टोन एवं लय में काँग्रेसी शासन की आलोचना नागार्जुन ने की है। इससे शायद यह भी प्रकट करना कवि का उद्देश्य है कि जैसे कर्मकांड में मंत्रोच्चार को कोई नहीं सुनता है वैसे ही काँग्रेसी सरकार को आलोचना से कोई फ़र्क नहीं पड़ता है–

"ओं दलों में एक दल अपना दल, ओं/ओं अंगीकरण, शुद्धिकरण, राष्ट्रीयकरण
ओं मुष्टीकरण, तुष्टीकरण, पुष्टीकरण/ओं एतराज, आक्षेप, अनुशासन
ओं गद्दी पर आजन्म वज्रासन/ओं ट्रिब्युनल, ओं आश्वासन
ओं गुटनिरपेक्ष सत्तासापेक्ष जोड़–तोड़/ओं छल–छद्म, ओं मिथ्या, ओं होड़महोड़
ओं बकवास, ओं उद्घाटन/ओं मारण–मोहन–उच्चाटन"[129]

शिवसेना सुप्रीमो बाल ठाकरे को 'बर्बरता की ढाल ठाकरे'[130] तथा 'प्रजातंत्र के काल ठाकरे' कहने का साहस नागार्जुन की राजनीतिक प्रतिबद्धता एवं साहस का प्रतीक है– 'चुप है कवि, डरता है शायद, खींच नहीं ले खाल ठाकरे !।

व्याकरण की भाषा में मोरारजी देसाई पर व्यंग्य–

"भाई मोरारजी घर के न घाट के/पुत्र की कृपा से खेल गए फाटके
एकवचन, द्विवचन, नाटक–नाटके/बहुवचन सो गया, लिंगों को डाँटके।"[131]

इंदिरा गाँधी के प्रति राजनीतिक व्यंग्य में नागार्जुन प्रायः कड़वाहट से भर जाते हैं। वे इंदिरा गाँधी को भला–बुरा कहने लगते हैं। 'देवी, तुम तो काले धन की बैसाखी पर . . .'[132] शीर्षक कविता के कुछ महत्त्वपूर्ण टुकड़े इस संदर्भ में रखे जा सकते हैं– डायन की बहुरूपी माया, ठगिनी, जाने क्या तू पीर पराई, ठगों–उच्चकों की मलिकाइन, प्रजातंत्र की हत्यारी, सुरसा, ठुमक रही है, दीन जनों का लहू पी रही आदि। इसी तरह 'अब तो बंद करो हे देवी, यह चुनाव का प्रहसन!'[133] में भी इंदिरा गाँधी के प्रति लगभग ऐसी ही भाषा का प्रयोग है–

(i) देवि, तुम्हारे स्टेनगनों से तरुण मुंड भुनते हैं
(ii) स्वाद मिला असली सत्ता का, क्यों न मचाएँ शोर
पूँछ उठाकर नाच रहे हैं, लोकसभाई मोर
(iii) डायन के गुर जान गई हो, चबा रही हो आँत
(iv) देवि, तुम्हारी छत्र–छाँह में चंड–मुंड पलते हैं
(v) तानाशाही रंगमंच पर प्रजातंत्र का अभिनय

कर्मकांड की भाषा में नागार्जुन के राजनीतिक व्यंग्य अपील की ताकत से भर जाते हैं। 'प्रजातंत्र का होम'[134] कुंडली छंद में विशिष्ट भाषा–प्रभाव से युक्त है–

"सामंतों ने कर दिया प्रजातंत्र का होम
लाश बेचने लग गए खादी पहने डोम"

प्रजातंत्र सामंती प्रभाव से मृत पड़ा है प्रजातंत्र के नेतृत्वकर्त्ता खादी पहने नेतागण अंत्येष्टि संस्कार के डोम की भूमिका में आ गए हैं जो आग जुटाकर प्रजातंत्र को फूँकने का काम कर रहे हैं।

नागार्जुन की प्रसिद्ध कविता है 'इंदुजी, क्या हुआ आपको?'[135] इंदिरा गाँधी की तानाशाही नीतियों के खिलाफ नागार्जुन ने घरेलू सम्बन्धों की भाषा को आधार बनाकर व्यंग्य साधा है। इन्दिरा गाँधी को 'इंदुजी' कहना और जवाहरलाल नेहरू को 'बाप' तथा संजय गाँधी को 'बेटे' के रूप में प्रस्तुत करके व्यंग्य की भाषा को नागार्जुन घरेलू एवं पारिवारिक रूप प्रदान कर देते हैं। पूरी कविता का टोन चिढ़ानेवाला है–

"क्या हुआ आपको?/क्या हुआ आपको?
सत्ता की मस्ती में/भूल गई बाप को
इंदुजी, इंदुजी क्या हुआ आपको?
बेटे को तार दिया, बोर दिया बाप को!
क्या हुआ आपको?/क्या हुआ आपको?"[136]

यदि इस काव्य–भाषा के टोन और नाटकीयता को ध्यान में रखकर कविता का पाठ किया जाए तो इसका शरारती प्रभाव उभर कर सामने आता है।

इंदिरा गाँधी के प्रति नागार्जुन व्यंग्य करते हुए कभी–कभी गँवई शैली में उतर कर लगभग गलियाने की भाषा अपना लेते हैं। यह क्रम इन पंक्तियों में देखा जा सकता है–

"इसके लेखे संसद–फंसद सब फिजूल हैं
इसके लेखे संविधान कागज़ी फूल हैं
. . . . . .
जय हो, जय हो, हिटलर की नानी की जय हो
जय हो, जय हो, बाघों की रानी की जय हो!
जय हो, जय हो, हिटलर की नानी की जय हो।"[137]

शुरू की दो पंक्तियों में व्यंग्य प्रारम्भ हो रहा है और 'हिटलर की नानी' तथा 'बाघों की रानी' में ग्रामीण शैली का व्यंग्य आ जा रहा है।

इसी क्रम में 'यह बदरंग पहाड़ी गुफा–सरीखा'[138] भाषा के उन अंशों को चिह्नित किया जा सकता है जहाँ गँवई शैली में व्यंग्य किया गया है–

(i) किस चुड़ैल का मुँह फैला है
(ii) देशी तानाशाही का पूर्णावतार है
(iii) महाकुबेरों की रखैल है यह चुड़ैल है
(iv) मुस्कानों में शहद घोलकर चुम्बन देती
दिल में तो विषकन्यावाला वही प्यार है
(v) सत्ता–मद की बेहोशी में हाँफ रही है
आँय–बाँय बकती है, कैसे काँप रही है

अन्योक्ति शैली में 'सत्य'[139] कविता लिखी गई है जहाँ 'इमर्जेन्सी का शॉक' लोकतंत्र के सत्य को लगा है। इस कविता की भाषा कथा और अखबारी खबर की भाषा से प्रभावित है।

नागार्जुन व्यक्तिगत जीवन को ध्यान में रखकर अत्यंत तिलमिलानेवाली भाषा में व्यंग्य करते हैं। 'हो गए बारह महीने'[140] शीर्षक कविता में मोरारजी देसाई पर ऐसी ही भाषा में व्यंग्य किया गया है–

"मूत्र अपना पी रहे हो / दिव्य जीवन जी रहे हो
क्या कहूँ जिद्दी रहे हो।"[141]

तथा,

"फैल गया है दिव्य मूत्र का लवण सरोवर
जादू क्या दिखलाएँ गंगाजल या गोबर।"[142]

हिंदूवादी नेता बाला साहब देवरस पर सांप्रदायिक राजनीति के संदर्भ में नागार्जुन का व्यंग्य उनके नाम को तोड़–मरोड़कर उत्पन्न किया गया है–

"देवरस–दानवरस / पी लेगा मानवरस"[143]

डॉक्टर और नवजातशिशु की माँ के बीच बातचीत की भाषा में 'इस गुब्बारे की छाया में'[144] शीर्षक कविता राजीव गाँधी की व्यक्तिगत राजनीतिक अयोग्यता के बावजूद चुनाव में प्रचंड बहुमत प्राप्त करने पर व्यंग्य करती है। माता बता रही है कि बच्चा वैसे तो बिल्कुल ठीक है, पर उसका माथा 'भारी–भड़कम गुब्बारे–सा दीख रहा है।' डाक्टर का उत्तर–

"सुन री माई, सुन री माई / यह प्रचंड बहुमत ही सचमुच
तेरे शिशु का महारोग है / ये ही इसको ले डूबेगा
नहीं काम का रहने देगा"[145]

बोफार्स के संदर्भ में 'गुपचुप हजम करोगे'[146] शीर्षक कविता की भाषा आम आदमी की बनायी तुकबंदी जैसी लगती है–

"कच्ची हजम करोगे/पक्की हजम करोगे
चूल्हा हजम करोगे/चक्की हजम करोगे
बोफोर्स की दलाली/गुपचुप हजम करोगे।"[147]

बच्चों के गीत और राइम की शैली में नागार्जुन ने 'नर्सरी राइम'[148] शीर्षक कविता की रचना की–

"एनी हेयर, एनी टाइम/क्राइम–क्राइम–क्राइम–क्राइम
ट्विंकिल–ट्विंकिल लिटिल स्टार/पीस–पीस, हाँ नेहवर वार
राजू भैया, राजू भैया/पार लगाएँ वतन की नैया।"[149]

'तुमको केत्ता मिला'[150] अवधी बोलने वाली 'सौ वर्ष पुरानी बुढ़िया' का कथन है। मतदान के लिए राजनीतिक दल मतदाताओं को रुपये देकर अपने लिए वोट बटोरते हैं। मतदान के इस पक्ष को व्यंग्य का विषय इस कविता में बनाया गया है। चुनाव, मतदान, चुनाव–प्रचार को वह बुढ़िया किस रूप में समझती है, यही इस कविता में राजनीतिक व्यंग्य बन गया है–

"बाबू क्या पाँच साल बाद/फिर वही खेल
खेलने आए हो आप लोग?/दिल्ली से आए हो?
चाँदी का गोल–गोल सिक्का/बिछाकर यह खेल–खेलते हैं
इस बार भी क्या वही राजा बनेगा?/क्या वही दरबारी होंगे?
सच–सच बतलाना/तुमको केत्ता रुपया मिला है?
कुछ हमको भी दिलवाना भइया।"[151]

नागार्जुन के राजनीतिक व्यंग्य की काव्य–भाषा के स्वरूप को इस उपअध्याय में सोदाहरण विवेचित–विश्लेषित करने का प्रयास किया गया। इस अध्ययन को निम्नलिखित बिंदुओं में रखा जा सकता है–

- व्यंग्य हथियार के रूप में।
- लोकतंत्र को बचाने और सत्ता को नियंत्रित रखने की कोशिश की भाषा।
- सांप्रदायिक राजनीति पर सांस्कृतिक शब्दावली में व्यंग्य
- राजनीतिक पदों के नाम आंशिक रूप से बदलकर निर्मित भाषा
- खामोश आक्रोश के साथ व्यंग्य की भाषा

- धार्मिक आस्था के साथ खिलवाड़ की राजनीति करने वालों के खिलाफ व्यंग्यात्मक भाषा।
- वामपंथी क्रांति को सांस्कृतिक शब्दावली प्रदान कर दमनकारी सत्ता के खिलाफ व्यंग्य की भाषा।
- जनता की बोलचाल की भाषा, जिसमें गालियाँ भी शामिल हैं, में व्यंग्य
- सांस्कृतिक–धार्मिक शब्दावली के सहारे राजनीतिक व्यंग्य
- लोक–उच्चारण एवं टोन के अनुकूल भाषा में व्यंग्य
- बच्चों के खेल की भाषा में व्यंग्य।
- मुहावरेदार भाषा, भदेस क्रिया और मात्रिक छंद के प्रवाह के साथ व्यंग्य।
- प्रचलित छंदों, जैसे–मुकरी, में मध्यकालीन काव्य–भाषा के आभास के साथ व्यंग्य।
- भदेस क्रियाओं का उपयोग उनकी व्यंग्य–भाषा का एक मुख्य आधार है।
- प्रचलित गीतों, छंदों या पंक्तियों को थोड़ा बदलकर व्यंग्यपूर्ण काव्य–भाषा की रचना करना।
- धार्मिक और कर्मकाण्डीय भाषा में व्यंग्य।
- तीखी, कड़वी और कठोर भाषा में सीधा व्यंग्य।
- संदर्भ बदलकर प्रसिद्ध पंक्तियों के सहारे व्यंग्य की भाषा।
- विशेषण–विपर्यय के सहारे व्यंग्य।
- पारिवारिक–घरेलू भाषा में व्यंग्य।
- जुगुप्सा–भरी भाषा में व्यंग्य।
- तुकबंदी विशेष के द्वारा व्यंग्य–भाषा की रचना।
- बाजारू खरीद–फरोख्त, फेरीवाला आदि की भाषा में व्यंग्य।
- तमाशा की भाषा में व्यंग्य।
- शरारती गँवई शैली में व्यंग्य।
- शिशु–गीत और राइम की भाषा में व्यंग्य।

(घ) आन्दोलनधर्मी कविता की भाषा

नागार्जुन बड़े जन आंदोलनों से लेकर जनता की आवाज़ बन जाने वाली छोटी–छोटी घटनाओं पर कविता लिखते हैं। तेलंगाना का सशस्त्र किसान विद्रोह, अपात्काल, सम्पूर्ण क्रांति, भूदान–आन्दोलन, कोरिया, वियतनाम, नेपाल आदि प्रसिद्ध विषयों के अलावा वे 'नवादा'– जैसी कविता लिखते हैं, जो किसी प्रसिद्ध घटना से जुड़ी हुई नहीं है। अरुण कमल ने 'मामूली घटना उनका विशिष्ट बिंब है' शीर्षक लेख में लिखा है, 'वे हिंदी के उन कवियों में हैं जो अविचल भारतीय जनता के संघर्षों के भागीदार रहे। दरभंगा किसान सभा के आंदोलनों से लेकर भोजपुर–नवादा के भूमिहीनों के संघर्ष तक नागार्जुन एकटक संघर्षशील गरीबों के साथ रहे। शायद ही दूसरा कोई कवि हो जिसने राजनीतिक घटनाओं–चरित्रों पर इतनी बड़ी संख्या में कविताएँ लिखीं। संभव है उनमें से कई कविताएँ कल हमें याद न रहें, लेकिन उन कविताओं के पीछे जो तड़प है और संघर्ष की जो गूँज है वह हमेशा याद की जाएगी। नागार्जुन ने कविता को जन–संघर्षों का हथियार बना दिया।''[152]

नागार्जुन ने आंदोलन से जुड़े नेताओं, महापुरुषों पर भी कविताएँ लिखी हैं। आंदोलनधर्मी कविता की भाषा के बारे में प्रायः यह टिप्पणी मिलती है कि वह अखबारी है, तात्कालिक है और समय के साथ भुला दिए जाने का खतरा वहाँ मौजूद है। नागार्जुन की ऐसी कविताओं को सामने रखकर उनकी भाषा की प्रकृति के विश्लेषण का प्रयास यहाँ किया जा रहा है। काव्य–भाषा के स्तर पर कहा जा सकता है कि नागार्जुन ऐसी कविताओं में भी कोई असावधानी नहीं बरतते। सांस्कृतिक बोध का सहारा नागार्जुन प्रायः नहीं छोड़ते। आंदोलनधर्मी अखबारी भाषा को सांस्कृतिक और लोकवादी स्पर्श से नागार्जुन स्तरीय काव्य–भाषा का दर्जा प्रदान करते हैं। घटना भले तात्कालिक हो, परन्तु नागार्जुन का नजरिया बड़ा होता है और भाषा जिम्मेदार होती है।

'गाँधी'[153] शीर्षक कविता महात्मा गाँधी की एक जनसभा की रिपोर्टिंग लगती है। आंदोलन के महान जननायक की उपस्थिति को जिस काव्य–भाषा में व्यक्त किया गया है, उसे तात्कालिक और अखबारी कहना गलत मूल्यांकन करना होगा। 'लगभग ग्यारह साल बाद' 'कल मैंने तुमको फिर देखा' लिखते हुए नागार्जुन जनता की ललक को व्यक्त कर रहे हैं–

'हे देव तुम्हारे दर्शन को/कल जुटे आदमी दस हजार''[154]

यह रिपोर्टिंग मात्र नहीं है। इस काव्य–भाषा का संदेश जनता में गाँधी जी की आंदोलनात्मक स्वीकृति है–

''कल तेरे दर्शन के निमित्त/थे जुटे आदमी दश हजार
इस दुखी देश के हे फकीर/हे खर्वकाय, हे कृश शरीर !
जिस सागर का मैं एक बिन्दु
तुम उसकी तुंग तरंगों का करने आए हो प्रतिनिधित्व
यद्यपि खुद भी तुम बिंदुमात्र/यद्यपि खुद भी तुम व्यक्तिमात्र
फिर भी लाखों जन से पाकर प्रेरणा बने हो महाप्राण
हे खर्वकाय, हे कृश शरीर !''[155]

यह कविता गाँधीजी का एक स्थायी मूल्यांकन है। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि उस जनसभा की स्मृति के लोप के साथ यह कविता भुला देने योग्य हो गयी हो। जनसभा के जिक्र के माध्यम से गाँधी जी के तत्कालीन प्रभाव को व्यक्त करने के कारण इस कविता की भाषा ऐतिहासिक महत्त्व रखती हैं। 1945 में जनता पर गाँधीजी के प्रभाव और उनकी स्वीकृति की भाषा इस कविता में मौजूद हैं। भाषा से गाँधीजी के प्रभाव के स्वरूप को जाना जा सकता है। नागार्जुन गाँधीजी के एक पक्षविशेष से असहमति भी दर्ज करते हैं। वह पक्ष है– गाँधीजी का पूँजीपतियों से तालमेल–

''देखा बिड़ला की कोठी का वह महाद्वार
तैनात वहाँ थी स्वयंसेवकों की कतार
हे धनकुबेर के अतिथि . . . .नहीं, हे जननायक !
कल तेरे दर्शन के निमित्त/थे जुटे आदमी दश हजार
इस दुखी देश के हे फकीर/हे खर्वकाय, हे कृश शरीर !''[156]

नागार्जुन जनता की भावना को अत्यंत सधी काव्य–भाषा में व्यक्त कर रहे हैं। जनता नहीं चाहती कि गाँधीजी धनकुबेर बिड़ला के अतिथि बनें, वे हमेशा 'जननायक' बने रहें। नागार्जुन गाँधीजी की इस बात के लिए प्रशंसा करते हैं कि–

''उस संघशक्ति को श्रद्धा से
दोनों हाथों को जोड़ किया
तुमने ही पहले नमस्कार''[157]

जनता का सम्मान जननायक कर रहा है। साथ ही जनता का धार्मिक विविधता के प्रति गाँधी जी की सजगता का जिक्र किए बिना नागार्जुन नहीं रहते–

"जय रघुपति राघव राम–राम !
बिस्मिल्ला हिर्रहमाने रहीम !
प्रार्थना सुनी, देखी नमाज"[158]

इस तरह नागार्जुन की आंदोलनधर्मी कविताओं की काव्य–भाषा तात्कालिक संदर्भ के अनुकूल रची जाती ज़रूर है, किन्तु कवि की विश्व–दृष्टि उसे व्यापक संदर्भ और फलक से जोड़कर कविता के इतिहास में अपरिहार्य बना देती है।

आंदोलनों से जुड़े महान् जननायकों की मृत्यु पर नागार्जुन ने अनेक कविताएँ लिखी हैं। कुछ कविताओं में इन नायकों की देन का मूल्यांकन है। विदेशी ज़मीन पर चल रहे जनआंदोलनों एवं उनके नायकों से सम्बन्धित कविताएँ नागार्जुन ने लिखी हैं। अनेक कविताएँ ऐसी हैं जिनका सम्बन्ध छोटी घटनाओं एवं गुमनाम शहादतों से है। इन कविताओं की काव्य–भाषा एक–सी नहीं है, इनकी विशेषताएँ समान नहीं हैं। एक समानता ज़रूर है, वह है कवि का आग्रह। कवि का जनोन्मुखी मनोयोग इन सभी कविताओं की भाषा में है। ऐसी कविताओं की एक छोटी–सी सूची दी जा सकती है–

साथी रुद्रदत्त भारद्वाज, साथी गणपति, माधवन् आनन्द शंकर, साथी स्टालिन, महामानव लेनिन, याद आता है तुम्हारा नाम ...; लेनिन, तुमको लाल सलाम; जोमो केन्याता, लुमुम्बा, छेदी जगन, ऐसा क्या अब फिर–फिर होगा, नवादा, नाजियों के बाप, मैं हूँ सबके साथ, तर्पण (गाँधी जी की मृत्यु पर लिखी गयी इसी शीर्षक की कविता से अलग), बंधु डॉ. जगन्नाथन्, त्यागमूर्ति–प्रज्ञा के सागर आदि।

'साथीर रूद्रदत्त भारद्वाज'[159] एक जननायक के अनवरत संघर्ष और अंततः शहादत को रेखांकित करने वाली कविता है। संघर्ष और बलिदान को मुहावरेदार भाषा में व्यक्त करते हुए राजनीतिक आलोचना की काव्य–भाषा रचने का प्रयास नागार्जुन ने किया है–

कारा के प्राचीर तुम्हारा स्वास्थ्य पी गए
गोरी नौकरशाही बाकी ख़ून पी गई
शेष बची थी सूखी ठठरी/उसे नेहरू और पंत ने
अस्पताल से बाहर लाकर/चूर–चूर कर बना दिया है चूना . . .
काम आएगा/व्यवस्थापिका सभा–भवन की पोची करवाने में . . .[160]

यह भाषा अखबारी सूचना या समाचार की भाषा नहीं है। अखबार की भाषा से भिन्न यह आह्वान की भाषा है। 'स्वास्थ्य पी गए', 'खून पी गई', 'चूर–चूर कर बना लिया है चूना' में कवि का आक्रोश भरा है। ऐसा आक्रोश अखबारी भाषा में नहीं होता है। 'साथी गणपति'[161] के हत्यारों को ललकारती हुई भाषा न तो अखबारी है और न मात्र तात्कालिक। तात्कालिकता उसका समय और संदर्भ है न कि सीमा। जुझारू 'साथी' की हत्या पर 'साथी' कवि की कविता वस्तुतः आत्मीय शोक–प्रस्ताव की काव्य–भाषा है। यह शोक–प्रस्ताव औपचारिक नहीं है।

लेनिन और स्टालिन जैसे बड़े नेताओं पर लिखी कविताओं में नागार्जुन प्रायः उनकी उपलब्धियों को याद करते हैं। ऐसी कविताओं की भाषा प्रायः छंदोबद्ध है। इनमें आंदोलनों को आदर–भाव से याद किया गया है और इन महापुरुषों के प्रति प्रायः कृतज्ञता–प्रदर्शन की काव्य–भाषा अपनायी गयी है–

स्वयं उत्पादक / स्वयं हम विभाजक
धन्य, हमें दिखलाया / तुम्हीं ने यह दिन
महामानव लेनिन! / क्रांति के अवतार
सम्मिलित हुंकार– / कोटि–कोटि जन के !
साथी मरण के / साथी जीवन के ![162]

आंदोलनों के बड़े नेताओं पर लिखी कविताओं की तुलना में आम कार्यकर्ता की शहादत पर लिखी गई कविताओं की भाषा भिन्न स्तर की है तथा काव्य–भाषा में कुछ नया जोड़ती है। पटना के बी.एन. कॉलेज में पुलिस की गोली से मारे गए छात्र दीनानाथ को नागार्जुन ने आम आदमी की गुमनाम शहादत से जोड़कर आंदोलनों के इतिहास के अधूरापन को कम कर दिया है। दीनानाथ से जुड़ी अनेक कविताएँ हैं– ऐसा क्या अब फिर–फिर होगा, नाजियों के बाप, मैं हूँ सबके साथ, तर्पण। नागार्जुन ऐसी कविताओं में आवेग की मात्रा बढ़ा देते हैं। लेनिन पर लिखी कविताओं में आवेग की मात्रा अपेक्षाकृत कम है। शहीद दीनानाथ का शव बी.एन. कॉलेज के बरामदे में पड़ा है और महिलाओं की अपार भीड़ अपनी करुण प्रतिक्रिया से कविता के परिवेश को आवेशित कर रही है। 'माताओं–बहनों–बहुओं' की 'निगाहें' इतनी बहुआयामी हैं कि इस भावोत्तेजक दृश्य के प्रभाव को संपूर्णता में व्यक्त करने के लिए नागार्जुन चौदह विशेषणों का प्रयोग एक ही विशेष्य 'निगाहें' के लिए कर देते हैं–

"रुकी निगाहें, झुकी निगाहें/क्रुद्ध निगाहें, क्षुब्ध निगाहें
अरुण निगाहें, करुण निगाहें/डरी निगाहें, भरी निगाहें
तरल निगाहें, सजल निगाहें/व्यथित निगाहें, मथित निगाहें
स्तब्ध निगाहें, शून्य निगाहें।"[163]

'नाज़ियों के बाप' शीर्षक कविता में 'दीनानाथ' को वे पुनः याद करते हैं– 'खून दीनानाथ का हम देखते ही रहेंगे चुपचाप?'[164] इसी तरह 'मैं हूँ सबके साथ'[165] में पुलिसिया उत्पीड़न की निंदा करते हुए नागार्जुन दीनानाथ की शहादत को याद करते हैं– 'सौ–सौ दीनानाथ मरें, पर निभे पुलिस की शान'। 'तर्पण'[166] में दीनानाथ के 'श्राद्ध दिवस' पर 'जनकवि की आँखों से आँसू बहे जा रहे' हैं। 'नवादा'[167] में 'गोली लगी/गिरा धरती पर/यहीं महेंदर/ वासुदेव भी यहीं गिरा था'।

गुमनाम हो जाने वाले शहीदों को नागार्जुन ने आवेगपूर्ण काव्य–भाषा में चित्रित किया। यह अखबारी घटना के चित्रण की काव्य–भाषा भर नहीं है, बल्कि हमारे आस–पास की घटना को शिद्दत से महसूस कराने वाली काव्य–भाषा है। महापुरुषों की शहादत के बरक्स इन शहादतों को रखने की जरूरत नहीं है। ये घटनाएँ जन–जन के जागने और संघर्षरत होने के प्रमाण हैं।

वियतनाम पर अमरीकी हमलों के खिलाफ नागार्जुन की काव्य–भाषा में केवल वामपंथी आक्रोश भर नहीं है। पूरी आत्मीयता और देशीपन के साथ ऐसी कविताएँ लिखी गयी हैं। विदेशी संदर्भ को औपचारिक न रहने देकर विश्व नागरिकता की जिम्मेदारी निभाने वाली भाषा को रचने का हुनर नागार्जुन के पास है। 'टपकती है लार', 'लानत है सौ बार', की तुकबंदी में विश्वनागरिकता और देशीपन की प्रभावशाली काव्य–भाषा सृजित हुई है।[168]

'शासन की बंदूक' की भाषा मूलतः व्यंग्यात्मक है। देशी शब्द 'चाँपकर' और संस्कृतशब्द 'नभ में विपुल विराट–सी' को आमने–सामने रखकर जनता और सत्ता के अलोकतांत्रिक सम्बन्ध को सफलतापूर्वक व्यक्त किया गया है। 'गुमान', 'थूक', 'कानी', 'बधिरता', 'दगने', 'जली ठूँठ', 'बाल न बाँका' की सहायता से जो काव्यभाषा रची गयी है, उसमें आंदोलनरत जनता का सत्ता के प्रति व्यंग्यात्मक आक्रोश तथा अपनी जीत का आत्मविश्वास भरा है।

नागार्जुन के जीवन में सबसे बड़ा आंदोलन इमरजेंसी और सम्पूर्ण क्रांति से जुड़ा हुआ है। लम्बे समय तक सक्रिय प्रभाववाला यह आंदोलन 'खिचड़ी विप्लव देखा हमने' काव्य–संग्रह की अनेक कविताओं में कवि की प्रतिक्रिया के साथ मौजूद हैं। इतना व्यंग्य सम्भवतः अन्य आंदोलनों से जुड़ी कविताओं में नहीं है।

शब्द–चयन, छंद प्रवाह और टोन के समग्र प्रभाव को ध्यान में रखा जाए तो इन कविताओं की काव्य–भाषा का स्वरूप अनेक कारणों से विशिष्ट दिखायी पड़ता है। 'इंदु जी, क्या हुआ आपको?'[169] – इन कविताओं में से एक प्रसिद्ध कविता है। इंदिरा गाँधी को 'इंदुजी' बना देना भाषिक समझदारी है। 'इंदुजी' में नेहरू–गाँधी–टैगोर से प्राप्त परवरिश की दुहाई है। शुरू की पाँच पंक्तियों में चार प्रश्नवाचक चिन्ह हैं– सभी सवाल 'इंदुजी' को चिढ़ाते हुए पूछे जा रहे हैं। चिढ़ाना, बेबसी प्रकट करना और आक्रोश के साथ व्यंग्य करना कि 'बेटे को तार दिया, बोर दिया बाप को!' जनता की अदालत की कल्पित भाषा मानो यहाँ काव्य–भाषा बन गयी है। जनता अपनी अदालत में हुकूमत की आलोचना करती रहती है और बेलाग आरोप की भाषा अपनाती है। आरोप की भाषा का काव्यभाषा में रूपान्तरण आन्दोलनधर्मी कविताओं में अनेकशः मौजूद हैं 'छात्रों के खून का नशा चढ़ा आपको'।

लोकतंत्र की बेखौफ भाषा में कविता लिखना शायद नागार्जुन के लिए ही संभव था। प्रधानमंत्री को 'बाघिन'[170] कहना और बिल्कुल गाँव–गिराँव की चुभनेवाली मुहावरेदार भाषा का प्रयोग जोखिम भरा है। नागार्जुन जोखिम की भाषा में कला रचते हैं। जोखिम उठाते हुए वे महज 'पॉलिटिकल' नहीं रह जाते या यह भाषा 'पॉलिटिकल स्टंट' भर नहीं है। आंदोलनकारियों के आक्रोश की भाषा के काव्य–भाषा का दर्जा देते हुए नागार्जुन हिंदी में इमरजेंसी के सबसे बड़े कवि हैं– 'चबा चुकी है ताज़े शिशुमुंडों को गिन–गिन' कर क्योंकि सत्ता के लिए वह 'बाघिन' बदहवास है– 'पकड़ो, पकड़ो अपना ही मुँह आप न नोचे !' आक्रोश के उतार–चढ़ाव में भाषा का स्तर गालियों को छूने लगता है। नागार्जुन सीधी गालियों से काव्य–भाषा को बचाने का प्रयास तो करते हैं, किन्तु पाठक/श्रोता इतन ज़रूर महसूस करने लगता है कि कवि का मन गालियों से भरा है और सभ्यता के नाते बच–बचाकर वह अपनी बात कह रहा है। इन कविताओं की काव्य–भाषा अपनी आंतरिकता में गालियों का तीखापन लिए हुए है। 'जाने, तुम कैसी डायन हो', 'इसके लेखे संसद–फंसद सब फिजूल हैं'[171] जैसी कविताएँ इसका नमूना हैं।

नागार्जुन जीवन–भर आंदोलनों के प्रति सचेत रहे। इमरजेंसी के बाद नक्सलवाद या किसानों के सशस्त्र विद्रोह उनकी आंदोलनधर्मी कविताओं में प्रमुख हैं। ऐसी कविताएँ नागार्जुन की राजनीतिक प्रतिबद्धता और मानवीय पक्ष को दर्शाती हैं। इन कविताओं की काव्य–भाषा में तात्कालिकता, छंदोबद्धता, जन–आक्रोश, आशावादिता आदि मौजूद हैं। काव्य–भाषा की दृष्टि से इन कविताओं में आंदोलनधर्मी अन्य कविताओं की भाषागत विशेषताएँ ही मौजूद हैं।

नागार्जुन की विशिष्ट पहचान है आंदोलन का कवि होना। यह कवि नेता नहीं है जनता है। इसका भरोसा जनता की आशा–आकांक्षा से जुड़ा है। उसकी विश्व–दृष्टि अंततः वहीं से बनी है। संस्कृत, बँगला, मैथिली और हिंदी का पांडित्य नागार्जुन की काव्य–भाषा पर हावी नहीं हो पाता। उनकी काव्य–भाषा का स्वरूप अंतिम रूप से जनता के दरबार में निर्धारित हो पाता है।

सन्दर्भ :

1. कल के लिए, अक्टूबर–दिसम्बर, 1995, पृ. 27.
2. वही, पृ. 09.
3. वही, पृ. 10.
4. वही, पृ. 18.
5. वही, पृ. 24.
6. वही, पृ. 25, केदारनाथ सिंह
7. वही, पृ. 26.
8. वही, पृ. 26.
9. वही, पृ. 13.
10. मेरे समय के शब्द– केदारनाथ सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1993, पृ. 57-58.
11. वही, पृ. 58.
12. अथातो काव्य जिज्ञासा– सं. डॉ. मंजुल उपाध्याय, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र.सं., 1996, पृ. 86-87.
13. वही, पृ. 83-84.
14. नागार्जुन रचनावली–1, संपादन–संयोजन–शोभाकांत, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र.सं. 2003,, पृ. VI.
15. वही, पृ. 21.
16. दीपक, अगस्त, 1937.
17. वही, पृ. 21.
18. सतरंगे पंखोंवाली, 1938
19. युगधारा, जुलाई 1939, सरस्वती अक्टूबर, 1940.
20. वही, पृ. 22.
21. वही, पृ. 24, 26.
22. वही, पृ. 25.
23. हजार हजार बाँहों वाली, सरस्वती, जून, 1943.
24. वही, पृ. 39.
25. पुरानी जूतियों का कोरस, दीपक, सितम्बर, 1943.
26. वही, पृ. 41.
27. पुरानी जूतियों का कोरस, कौमी बोली, अप्रैल 1944.
28. वही, पृ. 58.
29. वही, पृ. 58.
30. वही, पृ. 61-62.
31. युगधारा, 1941.
32. वही, पृ. 29.
33. नागार्जुन रचनावली–2, पृ. 464-465.
34. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 73, हंस, अगस्त, 1946, युगधारा।
35. वही, पृ. 73-74.

36. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 288, हजार–हजार बाँहों वाली / नया पथ, सितम्बर–अक्टूबर 1956.
37. वही, पृ. 137-138, अगस्त, 1949 / युगधारा
38. वही, पृ. 275.
39. वही, पृ. 275-276, हजार–हजार बाँहों वाली / धारा, जून 1955.
40. नागार्जुन रचनावली–2, पृ. 126, खिचड़ी विप्लव देखा हमने, 1976.
41. नागार्जुन रचनावली–2, पृ. सं. 361, आखिर ऐसा क्या कह दिया मैंने, 1984.
42. 05 मार्च 1976.
43. नागार्जुन रचनावली–2, पृ. 130-131.
44. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 324 / प्यासी पथराई आँखें / 1959.
45. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 67–68, हजार–हजार बाँहोंवाली / हंस, अगस्त, 1945.
46. नागार्जुन रचनावली–2 पृ. 109–110, खिचड़ी विप्लव देखा हमने, 1975.
47. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 253–254, हजार–हजार बाँहों वाली, 1954.
48. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 170–172, युगधारा / नवयुग, 17 सितम्बर 1950.
49. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 226, सतरंगे पंखों वाली, 1952.
50. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 254, हजार हजार बाँहोंवाली, 1954.
51. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 131–132, युगधारा / जून 1949.
52. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 255–256, इस गुब्बारे की छाया में, 1954.
53. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 218, जयति–जयति जय सर्वमंगला, इस गुब्बारे की छाया में। हंस, 1952.
54. वही, पृ. 224.
55. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 168–169, हजार हजार बाँहोंवाली, नई चेतना, अगस्त 1950.
56. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 246, हजार हजार बाँहों वाली / नयापथ, अक्टूबर, 1953.
57. वही, पृ. 247.
58. वही, पृ. 247.
59. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 249–251, हजार हजार बाँहों वाली, 1953.
60. वही, पृ. 251.
61. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 256–257, सतरंगे पंखोंवाली, 1954.
62. वही, पृ. 257.
63. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 305–307, सतरंगे पंखोंवाली, 1957.
64. वही, पृ. 305.
65. वही, पृ. 306.
66. वही, पृ. 307.
67. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 323–324, प्यासी पथराई आँखें, 1959.
68. वही, पृ. 324.
69. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 351–352, प्यासी पथराई आँखें, 1961.
70. वही, पृ. 351.
71. वही, पृ. 352.
72. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 361–362, प्यासी पथराई आँखें, 1961.

73. वही, पृ. 362.
74. वही, पृ. 361.
75. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 369–370, इस गुब्बारे की छाया में/मुक्ता, नवम्बर 1962
76. वही, पृ. 370.
77. नागार्जुन रचनावली–2, पृ. 75–76, तुमने कहा था, 1973
78. वही, पृ. 76.
79. नागार्जुन रचनावली–2, पृ. 328–332, ऐसे भी हम क्या! ऐसे भी तुम क्या!, 1983.
80. वही, पृ. 370.
81. कल के लिए– सं. डॉ. जयनारायण, अक्टूबर–दिसम्बर, 1995, पृ. 12.
82. युगधारा/जनशक्ति, जनवरी 1948.
83. युगधारा/जनशक्ति, जनवरी 1948.
84. नागार्जुन रचनावली -1, पृ. 96-97.
85. नागार्जुन रचनावली -1, पृ. 98.
86. वही, पृ. 96-97.
87. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 99, हंस, मार्च 1948.
88. वही, पृ. 99.
89. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 100, हजार–हजार बाँहोंवाली/हंस, अप्रैल, 1948.
90. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 107, 24 अगस्त, 1948, युगधारा/हंस, मार्च 1949.
91. वही, पृ. 107-108.
92. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 132, इस गुब्बारे की छाया में/हंस, जून 1949.
93. वही, पृ. 132.
94. वही, पृ. 133.
95. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 182, हजार–हजार बाँहोंवाली, नई चेतना, 1950.
96. वही, पृ. 182.
97. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 193, युगधारा/हंस, फरवरी, 1951.
98. वहीं, पृ. 193-194.
99. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 209, मुकरियाँ/नवयुग, 22 जुलाई 1951.
100. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 211, हज़ार–हज़ार बाँहोंवाली/नवयुग, 5 अगस्त 1951.
101. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 213, इस गुब्बारे की छाया में/हुंकार, 17 दिसम्बर 1951.
102. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 227-229, विद्यपति के देश में, 1952.
103. वही, पृ. 227.
104. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 236, इस गुब्बारे की छाया में, 1953.
105. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 237, हज़ार–हज़ार बाँहोंवाली, 1953.
106. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 240-241, पुरानी जूतियों का कोरस/जनयुग, 24 मई, 1953.
107. वही, पृ. 240-241.
108. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 243, हज़ार–हज़ार बाँहोंवाली/नया पथ, अगस्त 1953.
109. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 282, हज़ार–हज़ार बाँहोंवाली/खून और शोले, 1955.
110. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 347-348, प्यासी पथराई आँखें/हिंदी टाइम्स, जनवरी, 1961.
111. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 371, कट्टर कामरेड उवाच, धर्मयुग, 23 दिसम्बर, 1962.

112. वही, 372.
113. वही, 372.
114. वही, 373.
115. वही, पृ. 373, धर्मयुग, 23 दिसम्बर 1962.
116. वही, पृ. 376, धर्मयुग, 26 जनवरी 1963.
117. वही, पृ. 377, धर्मयुग, 26 जनवरी 1963.
118. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 377-378, धर्मयुग, 26 जनवरी, 1963.
119. वही, पृ. 406, हज़ार हज़ार बाँहोंवाली/ज्योत्स्ना, जनवरी 1966.
120. वही, पृ. 408, तुमने कहा था, जनशक्ति, 20 फरवरी 1966.
121. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 421, पुरानी जूतियों का कोरस, जनयुग, 23 अगस्त, 1966.
122. वही, पृ. 423.
123. नागार्जुन रचनावली–2, पृ. 26, पुरानी जूतियों का कोरस, मुक्तधारा, 29 अगस्त 1968.
124. नागार्जुन रचनावली–2, पृ. 27 जनयुग, 1 सितम्बर 1968.
125. नागार्जुन रचनावली–2, पृ. 37, पुरानी जूतियों का कोरस, जनशक्ति, 7 सितम्बर 1969/ 21 सितम्बर 1969.
126. वही, पृ. 38.
127. वही, पृ. 44, तुमने कहा था, 1969.
128. वही, पृ. 46, 1969.
129. वही, पृ. 47.
130. वही, पृ. 50, जनयुग, 7 जून 1970.
131. नागार्जुन रचनावली–2, पृ. 61, तुमने कहा था, 1972 शीर्षक–'देख लो, इनके कई–कई माथ हैं. . .
132. वही, पृ. 61-66 पुरानी जूतियों का कोरस, उत्तरार्ध–6, 1973/10 अक्टूबर 1972.
133. वही, पृ. 66-70, तुमने कहा था/सामयिकी, 1972.
134. वही, पृ. 72, तुमने कहा था, 1973.
135. नागार्जुन रचनावली–2, पृ. 81, खिचड़ी विप्लव देखा हमने, 1974.
136. वही, पृ. 81.
137. नागार्जुन रचनावली–2, पृ. 92-93 खिचड़ी विप्लव देखा हमने, 1975.
138. नागार्जुन रचनावली–2, पृ. 94, खिचड़ी विप्लव देखा हमने, 1975.
139. नागार्जुन रचनावली–2, पृ. 97-98, खिचड़ी विप्लव देखा हमने, 12 अगस्त 1975.
140. नागार्जुन रचनावली–2, पृ. 191-193, तुमने कहा था/जनसंचार, 9 अप्रैल 1978.
141. वही, पृ. 192.
142. वही, पृ. 225 तुमने कहा था, 1979.
143. वही, पृ. 204, खिचड़ी विप्लव देखा हमने, 1978.
144. नागार्जुन रचनावली–2, पृ. 365-369/ 21 जनवरी, 1985.
145. वही, 366.
146. नागार्जुन रचनावली–2, पृ. 387, इस गुब्बारे की छाया में, 21 सितम्बर 1987.
147. वही, पृ. 387.
148. नागार्जुन रचनावली–2, पृ. 391, इस गुब्बारे की छाया में, वर्तमान साहित्य, मई 1988.

149. वही, पृ. 392.
150. वही, पृ. 404, भूल जाओ पुराने सपने, जनसत्ता, 5 नवम्बर, 1989.
151. वही, पृ. 405.
152. परिषद–पत्रिका– सं. डॉ. मिथिलेश कुमारी मिश्र, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना, दिसम्बर, 1999 पृ. 57.
153. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 68, हजार–हजार बाँहोंवाली, हंस, सितम्बर, 1945.
154. वही, पृ. 68.
155. वही, पृ. 70.
156. वही, पृ. 70.
157. वही, पृ. 68-69.
158. वही, पृ. 69.
159. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 104; हज़ार हज़ार बाहों वाली/ जनयुग, 11 अप्रैल 1948.
160. वही, पृ. 104.
161. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 136-137, पुरानी जूतियों का कोरस/ नया साहित्य, अगस्त 1949.
162. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 46, पुरानी जूतियों का कोरस/लोकयुद्ध, 6 जनवरी 1944.
163. नागार्जुन रचनावली–1,पृ. 276-277, सतरंगे पंखोवाली/खून और शोले, 1955, शीर्षक– ऐसा क्या अब फिर–फिर होगा?
164. वही, पृ. 279.
165. वही, पृ. 284.
166. वही, पृ. 286.
167. वही, पृ. 278.
168. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 410, हज़ार–हज़ार बाँहोंवाली/जनशक्ति, 27 मार्च 1966.
169. नागार्जुन रचनावली–2, पृ. 82, खिचड़ी विप्लव देखा हमने, 1974.
170. नागार्जुन रचनावली–2, पृ. 85, खिचड़ी विप्लव देखा हमने, 1974.
171. नागार्जुन रचनावली–2, पृ. 92, 93/ 1975.

***

पंचम अध्याय

नागार्जुन की काव्य-कला

(क) मूर्तविधान

(ख) प्रतीक-योजना

(ग) अप्रस्तुत योजना

(घ) मुहावरे, लोकोक्तियाँ और शैली

नागार्जुन की काव्य-कला

नागार्जुन की काव्य–भाषा का यह दूसरा अध्याय कला पक्ष से सम्बन्धित है। प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के दौर में विकसित हुई काव्य–चेतना के परस्पर विरोधी माहौल में प्रायः मान लिया गया कि कला–पक्ष तो केवल प्रयोगवादी कविता का समृद्ध है। प्रगतिवादी कवि काव्य–वस्तु के प्रति अधिक जागरुक रहा। यह एक सपाट निष्कर्ष है। कलात्मक सौन्दर्य के बिना सर्जनात्मक रचना अच्छी नहीं हो सकती। नए सौन्दर्यबोध और अभिरुचि को विकसित करके कलात्मकता की नई दिशाओं की पहचान की जा सकती है। जनांदोलनों के दबाव में लिखी गयी कविताएँ विशिष्ट कलात्मकता को जन्म देती है। परंपरागत या स्वीकृत कला–बोध को ऐसी कविताओं में बचाने की चिंता कर पाना संभव नहीं हो पाता है। कला की प्रत्यक्ष चिंता न करने वाले साहित्यिक दौर में प्रायः नई कलात्मकता का विकास होता है। यदि कलात्मकता नहीं रहेगी तो वह दौर भी जल्दी ही भुला दिया जाएगा। कलात्मकता काव्य–भाषा का अटूट हिस्सा है। काव्य–भाषा के अंतर्निहित तत्त्वों में कलात्मकता है। यह कलात्मकता ही काव्य–भाषा को सर्जनात्मक बनाती है। काव्य–वस्तु को प्राथमिक तौर पर महत्त्व देनेवाले प्रगतिवादी कवियों ने जो कुछ यादगार रचा है, विश्लेषण करने पर हम पाते हैं कि उन कविताओं में अपने ढंग की कलात्मक विशेषताएँ मौजूद रहती हैं। कला–पक्ष की रूढ़ि या रीति का पालन करना ही कला की रक्षा करना नहीं होता है। काव्य–वस्तु की सफल–सुन्दर अभिव्यक्ति कलात्मकता की स्वतः रक्षा करती है।

नागार्जुन की लोकप्रियता उनकी कविता की काव्य–वस्तु और कला दोनों की सफलता के कारण ही संभव हो पाई है। नामवर सिंह नागार्जुन को प्रयोगधर्मी, कविता के विविध कलात्मक आयामों को उभारने वाले कवि के रूप में याद करते हैं, "नागार्जुन की गिनती न तो प्रयोगशील कवियों के संदर्भ में होती है, न नई कविता के प्रसंग में; फिर भी कविता के रूप सम्बन्धी जितने प्रयोग अकेले नागार्जुन ने किए हैं, उतने शायद ही किसी ने किए हों। कविता की उठान तो कोई नागार्जुन से सीखे और नाटकीयता में तो वे जैसे लाजवाब ही हैं। जैसी सिद्धि छंदों में, वैसा ही अधिकार बेछंद या मुक्तछंद की कविता पर। उनके बात करने के हजार ढंग हैं। और भाषा में भी बोली के ठेठ शब्दों से लेकर संस्कृत की संस्कारी पदावली तक इतने स्तर हैं कि कोई भी अभिभूत हो सकता है।

तुलसीदास और निराला के बाद कविता में हिन्दी भाषा की विविधता और समृद्धि का ऐसा सर्जनात्मक संयोग नागार्जुन में ही दिखाई पड़ता है। वैसे, नागार्जुन में ऊबड़–खाबड़पन भी कम नहीं है और इसके कारण कवि–कोविदों के बीच उन्हें प्रतिष्ठा प्राप्त होने में भी विलंब हुआ, किन्तु भाव स्थिर होने और सुर सध जाने पर ऐसी ढली–ढलाई कविता निकली है कि बड़े–से–बड़े कवि को भी ईर्ष्या हो। कहना न होगा कि नागार्जुन में ऐसी कलापूर्ण कविताएँ काफी हैं।"[1]

नागार्जुन पर कला–सम्बन्धी असावधानी के आरोप का यह सटीक जवाब है। कला की चिंता का जिक्र करने और फिक्र करने वालों की तुलना में कला की समृद्धि के लिए काम करने वाले नागार्जुन का महत्त्व बढ़ जाता है। उन्होंने काव्यवस्तु और कला–दोनों की चिंता की। कला की सूक्षमता की सिफारिश करके व्यर्थ की कविता लिखने वालों से नागार्जुन की घनघोर असहमति है। पैने व्यंग्यों से भरी हुई उनकी कविता 'माँजो और माँजों' बार–बार उद्धृत की जाती रही है–

"नहीं–नहीं, अभी नहीं/अभी तो सिरिफ श्री गणेश है
अपने पदों को बार–बार माँजो/माँजो और माँजो, माँजते जाओ
लय करो ठीक, फिर–फिर गुनगुनाओ/मत करो पर्वाह – क्या है कहना
कैसे कहोगे, इसी पर ध्यान रहे/चुस्त हो सेंटेंस, दुरुस्त हों कड़ियाँ
पकें इत्मीनान से गीत की बड़ियाँ/ऐसी जल्दी भी क्या है?
उस्ताद पुराना, भले शागिर्द नया है/नैतिक–अनैतिक, सामाजिक–असामाजिक
भला या बुरा कुछ भी क्यों न हो/तलकर घोलकर बघारकर कहो
वस्तु है भूसी, रूप है चमत्कार/ध्वनि और व्यंग्य पर मरता है संसार
वाच्य या आशय पर कौन देता ध्यान/तर्ज और तरन्नुम है शायरी की जान
एक–एक शब्द है दुधारू गाय/उसका दुरूपयोग करना न हाय
हाय रे दैव ! हाय भगवान !/शब्द को दिया क्यों अर्थ का दान
ध्वनि–ही–ध्वनि देते, देते मात्र लय–तान
भावों की दलदल में आकण्ठमग्न काव्यकला
त्राहि–त्राहि कर रही/उद्धार करो उसका।"[2]

नागार्जुन का साफ मंतव्य है कि काव्य–वस्तु पर पहले ध्यान देना है। काव्य–वस्तु की प्रकृति के अनुसार कला का चयन ताकि अभिव्यक्ति संप्रेषणीय और प्रभावशाली बन सके। कला अपने आप में लक्ष्य नहीं हो सकती, परन्तु सर्जनात्मक माध्यम अपनाने के

कारण कवि का कलावन्त होना जरूरी है। नागार्जुन कला की बारीकियों को बखूबी समझते हैं। उनकी चिढ़ उन लोगों से है जो कला के नाम पर व्यर्थ का साहित्य रच रहे हैं। नागार्जुन की कविताओं पर सरलीकरण के आरोप लगे। तात्कालिकता, अखबारीपन, काव्येतर विषयों के चयन आदि के आरोपों को नागार्जुन की काव्य–कला झुठला चुकी है। मंगलेश डबराल का विचार है, "नागार्जुन कोई सरलीकृत कवि नहीं हैं। वे भी जटिलताओं के कवि हैं और आप ये देखेंगे कि उनकी कविताओं में भी संस्कृत की परंपरा, उनकी अपनी मैथिली की परंपरा और हिन्दी की अपनी जो एक संघर्षशील परम्परा है उन सबका अंतर्गुम्फन है। इस प्रकार नागार्जुन में कई चीजें संश्लिष्ट रूप में दिखायी पड़ती हैं। अतः मुझे नहीं लगता कि वे एक सरल या सरलीकृत कवि हैं। लेकिन यह अवश्य लगता है कि नागार्जुन किसी भी अनुभव को कविता में ढाल देते हैं जबकि मुक्तिबोध और शमशेर के साथ यह बात नहीं है। वे बहुत ही चुने हुए अनुभवों को लेते हैं। या यूँ कहिए कि हजार चीजों को छानकर उसमें से वे एक विषय चुनते हैं। नागार्जुन एक साथ सैकड़ों अनुभवों में जी सकते हैं और उन्हें अपनी कविता में ढाल सकते हैं। हाँ, इसी से कोई कमजोर रचना भी हो सकती है और यह बात थोड़ी या ज़्यादा हर कवि के बारे में कही जा सकती है। कोई भी कवि हर वक्त तो महान् रचनाएँ करता नहीं है।"[3]

नागार्जुन की कलात्मक सरलता के भीतर कला की बहुस्तरीयता का जादू छिपा होता है। उनकी सभी प्रसिद्ध कविताओं में कला की बारीकी अंतर्धारा की तरह सन्निहित है। 'अकाल और उसके बाद' में अकाल की विभीषिका को मानवेतर प्राणियों के माध्यम से चित्रित करने की कलात्मक बारीकी की प्रशंसा बार–बार हो चुकी है। 'हरिजन–गाथा' की बहुस्तरीय भाषा किसी भी श्रेष्ठ कविता की भाषा की श्रेणी में रखी जा सकती है। 'तीन दिन तीन रात' या 'इंदु जी, क्या हुआ आपको?' जैसी कविताओं को चुटकी बजा–बजाकर सुनाने की कला भी विशिष्ट सावधानी को परिलक्षित करती है। 'घिन तो नहीं आती?' में वक्तव्य, हरकतें, व्यंग्य और मिजाज के क्रम को रखना केवल काव्य–वस्तु का विषय नहीं है, बल्कि यह खास ढंग की नागार्जुनी कला है।

केदारनाथ सिंह नागार्जुन की काव्यकला को इन शब्दों में व्यक्त करते हैं, "अत्यंत सीधी और सरल–सी दिखनेवाली नागार्जुन की कविता अपनी पूरी बनावट में उतनी सरल नहीं होती, जितनी सामान्यतः उसे मान लिया जाता है। उनकी हर रचना के तल में एक गहरी उथल–पुथल का भावात्मक तथा वैचारिक आवेग कभी भी उस घटना या स्थान तक सीमित नहीं होता, जिसका वर्णन किया जा रहा है। हालाँकि पहली दृष्टि में कवि

प्रभाव यही डालना चाहता है कि वह एक खास स्थान या घटना का वर्णन कर रहा है। मैं 'वर्णन' शब्द पर ज़ोर देना चाहता हूँ, क्योंकि नागार्जुन आमतौर पर अपनी कविता में 'चित्रण' नहीं करते। वे सिर्फ वर्णन करते हैं और वर्णन करने की जो ठेठ भारतीय क्लासिकी परंपरा है– पुराने काव्य, पुराकथाओं या लोक–साहित्य में– उसका भरपूर इस्तेमाल करते हैं। शिल्प के स्तर पर वह पहला बिन्दु है, जहाँ वे नयी कविता या आधुनिकतावादी कविता या एक हद तक पूरी समकालीन कविता से अलग होते हैं।"[4] नागार्जुन की कला किसी का अनुकरण नहीं है। किसी भी साहित्यिक आंदोलन या धारा को नागार्जुन आँख मूँदकर नहीं अपनाते। उनके जीवन में अनेक साहित्यिक धाराओं के दौर चले। छायावादोत्तर कविता, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नयी कविता, समकालीन कविता आदि अनेक धाराएँ प्रवाहित हुईं। इनमें से सर्वाधिक प्रभाव प्रगतिवाद का नागार्जुन पर रहा। परन्तु प्रगतिवाद के कलात्मक ढाँचे के अनुकरण से नागार्जुन बचते हैं। वे कविता को नारा बनने से बचाने के साथ–साथ कलात्मकता की रक्षा करने के प्रति सजग हैं।

ऐसा भी कहा जाना ठीक नहीं है कि नागार्जुन की कला अनायास है। यह ठीक है कि वे काव्य–वस्तु का ज़्यादा ख्याल करते हैं, परंतु अभिव्यक्ति–कौशल को हजार तरीके से माँजने की महारत नागार्जुन को हासिल है। यह यूँ ही नहीं है कि नागार्जुन अंत तक छंदोबद्ध कविता रचते रहे। पंक्तियों की आवृत्ति को लेकर नागार्जुन की ख़ास टेकनीक है। 'मंत्र', 'इंदुजी, क्या हुआ आपको?', 'मायावती–मायावती' आदि कविताओं में शब्दों या पंक्तियों की ख़ास ढंग से आवृत्ति करके वे प्रभाव को बढ़ा देते हैं। छोटे से बड़े छंद तक के प्रयोग, संस्कृतनिष्ठ से लेकर गाली–गलौज की भाषा तक के प्रयोग, गीत–प्रगीत–छंदोबद्ध–मुक्तछंद–छंदमुक्त में काव्य–रचना, काव्य–परंपरा से प्राप्त प्रतीकों से लेकर 'नेवला' को अप्रतीकात्मक बनाए रखने की कोशिश की प्रतीकात्मकता, उद्देश्यहीन लगने वाली कविताएँ, खुद पर हँसने वाली कविताएँ आदि न जाने कितने पक्ष हो सकते हैं जिनसे बाबा नागार्जुन की काव्य–कला की व्यापकता को पहचाना और स्वीकार किया जा सकता है। काव्य–कला का इतना बड़ा प्रयोक्ता अपनी काव्य–वस्तु की प्रबलता की ओट में प्रायः छिपा रह जाता है। इस अध्याय में नागार्जुन की कलात्मक विशेषताओं एवं प्रयोगधर्मिताओं को प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा है।

(क) मूर्त विधान

मूर्त विधान की परिभाषा 'हिन्दी साहित्य कोश, भाग–1' में इस प्रकार दी गयी है, "काव्य में चित्र कभी विशेषण द्वारा निर्मित होते हैं, कभी उपमा–रूपक आदि अलंकारों द्वारा, कभी शब्द–विशेष द्वारा, कभी अनेक वाक्यों द्वारा, कभी संपूर्ण कृति द्वारा। चित्रात्मकता को काव्य का गुण माना जाता है। कुछ विचारकों के अनुसार तो काव्य की सबसे बड़ी शक्ति उसके चित्रों में ही होती है और कवि की श्रेष्ठता का परिचय भी उसके काव्य में उपलब्ध चित्रों से ही मिलता है। चित्रात्मकता को चित्रमयता, मूर्ति–विधान या बिम्ब–विधान भी कहा जाता है।"[5]

बिम्बों के प्रयोग से कविता की सुगमता और प्रभविष्णुता बढ़ जाती है। विचार, भाव या कल्पना को बिम्बों के माध्यम से व्यक्त करने पर मूर्तिमयता के कारण ग्राह्यता बढ़ जाती है। विचार की सपाटबयानी उसे कविता बनने से रोकती है। बिम्बों के उपयोग से भाषा की सर्जनात्मकता में वृद्धि होती है। शब्द–चित्र कवि को कल्पनाशील होने के अवसर प्रदान करते हैं। ऐंद्रिक बोध को बिम्बों के बिना व्यक्त करना मुश्किल काम है। ऐंद्रिकता कविता को जीवंत बनाती है, ऐंद्रिकता जीवन का महत्वपूर्ण पक्ष है। ऐंद्रिकता की अभिव्यक्ति के लिए बिम्बों का सहयोग आवश्यक हो जाता है।

बिम्ब और प्रतीक में अंतर को स्पष्ट करने के लिए अजय तिवारी की इन पंक्तियों को देखा जा सकता है, "अक्सर यह मान लिया जाता है कि बिम्ब और प्रतीक समानार्थक हैं, क्योंकि दोनों कला को चित्रमय बनाते हैं। इसमें संदेह नहीं कि बिम्ब और प्रतीक दोनों चित्रों और मूर्तियों की उद्‌भावना करते हैं इसलिए रचना के विषय में संक्षिप्तता और रूप में गठन एवं मूर्तता लाते हैं, लेकिन इस आधार पर दोनों को एक मान लेना संगत नहीं है। बिम्ब हमारे ज्ञान का प्राथमिक आधार है। बिम्ब केवल चाक्षुष नहीं होते, उन्हें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध के पाँच संवर्गों में विश्लेषित किया गया है। इसलिए बिम्ब हमारे संवेदनात्मक बोध के सभी रूपों, प्रकारों के मूल घटक हैं लेकिन प्रतीक हमारे संवेदनात्मक बोध से अधिक संवेदनात्मक उद्देश्य से जुड़े होते हैं। संक्षेप में बिम्ब बाह्य जगत् से हमारे साक्षात्कार की, बाह्य जगत को आत्मसात् करने की मूल युक्ति हैं और प्रतीक बाह्य पर आत्म का प्रक्षेपण। मूर्ति–विधान अथवा चित्र–निर्माण दोनों का मध्यवर्ती सम्बन्ध सूचक बिन्दु हैं।"[6]

बिम्ब का प्रयोग प्रायः सभी कवि करते हैं। बिम्बों की विशेषता है कि इनकी आवृत्ति नहीं की जा सकती। उपमाएँ खूब दुहराई जाती हैं, प्रतीकों का उपयोग एक ही अर्थ में बार–बार किया जाता है। उपमाएँ लंबे समय तक चल सकती हैं। 'मुख' को 'कमल' कहने की परंपरा न जाने कब से चली आ रही है। रामायण, महाभारत के पात्रों का प्रतीकात्मक उपयोग आज तक हो रहा है। बिम्ब प्रायः दुहराए नहीं जाते। प्रत्येक कवि नए बिम्ब रचता है। शमशेर बहादुर सिंह को तो 'बिम्बों का कवि' ही कहा जाता है। बिम्बों की रचना के लिए तुलनात्मक कल्पनाशीलता की क्षमता की ज़रूरत पड़ती है। औपम्य विधान की गहरी समझ के बिना अच्छी बिम्ब–रचना संभव नहीं है। बिम्ब शब्द–चित्र है, इसलिए शब्द–क्रम का ध्यान रखना आवश्यक पहलू है। कभी–कभी पूरी कविता पढ़ जाने पर बिम्ब स्पष्ट हो पाता है। 'पीली शाम' शीर्षक कविता में शमशेर ने पूरी कविता को एक बिम्ब में ढाला है। बिम्ब बहुस्तरीय भी होता है। कविता पढ़ते जाइए और बिम्ब के घटक एक–एक कर सामने आते हैं और अंततः बिम्ब अपनी संपूर्णता में हमारे सामने होता है। बिम्बों के प्रायः तीन भेद बताए गए हैं– ऐन्द्रिय बिम्ब, भाव बिम्ब एवं क्रिया बिम्ब। ऐन्द्रिय बिम्ब के पाँच रूप हैं– दृश्य, श्रव्य, स्पृश्य, घ्राण, आस्वाद्य अर्थात् रूप, रस, गंध, स्पर्श, दृश्य, स्वर आदि से संबंधित बिम्ब। बिम्ब की ग्राह्यता के माध्यम के आधार पर नामकरण किए गए हैं।

नागार्जुन की कविताओं में सभी तरह के बिम्ब मौजूद हैं। बिम्ब के सभी रूपों को नागार्जुन की कविता में देखने के बाद उनकी बिम्बधर्मिता की विशेषताओं पर विचार किया जा सकता है।

'बादल को घिरते देखा है' में देखने का भाव अत्यन्त प्रबल है। यह चाक्षुष अथवा दृश्य बिम्ब का सुंदर उदाहरण है–

> "तुंग हिमालय के कंधों पर/छोटी–बड़ी कई झीलें हैं,
> उनके श्यामल–नील सलिल में/समतल देशों से आ–आकर
> पावस की ऊमस से आकुल/तिक्त–मधुर बिस–तंतु खोजते
> हंसों को तिरते देखा है/बादल को घिरते देखा है।"[7]

हिमालय के जिन दृश्यों का चित्रण इन पंक्तियों में मौजूद है उससे दृश्य बिम्ब सृजित हुआ है। कवि ने इन (चित्रों) को देखा है।

श्रव्य बिम्ब का सुंदर उदाहरण 'सुन रहा हूँ' शीर्षक कविता की इन पंक्तियों में देखने योग्य है–

"सुन रहा हूँ/पहर–भर से/अनुरणन–
मालवाही खच्चरों की घंटियों के/निरंतर यह
टिलिङ्–टिङ्–टाङ्/टिङ् टिङा–टङ्–टाङ्
सुन रहा हूँ अनुरणन।"[8]

घंटियों की आवाज को शब्द–बद्ध करने की कोशिश श्रव्य–बिम्ब की रचना कर रही है। यह बिम्ब बिल्कुल नया है। इस श्रव्य–बिम्ब या ध्वनि–बिम्ब को पढ़ते हुए सुमित्रानन्दन पंत का यह बिम्ब ध्यान हो आता है–

"बाँसो का झुरमुट–/संध्या का झुटपुट
हैं चहक रही चिड़ियाँ/टी–वी–टी–टुट्–टुट् !"[9]

चिड़ियाँ की यह आवाज़ 'टी–वी–टी–टुट्–टुट् !' पहली बार हिन्दी कविता में सुनाई पड़ी थी।

घ्राण बिम्ब का सम्बन्ध गंध से है। प्रायः दुर्गन्धों के बिम्ब नागार्जुन की कविताओं में बिखरे पड़े हैं। 'नथने फुला–फुला के' शीर्षक कविता में इत्र की गंध का बिम्ब मौजूद है–

"यहाँ, मुलुंड में इत्र का कारखाना लगा है
मराठा व्यवसायी एक कोई केलकर साहब ने
सौरभ–द्रव्यों का अपना अभिनव उत्पादन–केन्द्र
आरंभ किया है यहाँ मुलुंड में/प्रतिदिन, संध्याकाल
पवनदेव की अनुकंपा से/ईदगिर्द बीसियों किलोमीटर
हो उठते हैं मुअत्तर .../यह सुरभित सांध्य समीर
हमारे मुलुंड की बहुत बड़ी ख़ासियत है ...."[10]

सुगंध का 'बीसियों किलोमीटर' में फैलकर 'मुअत्तर' करना– 'नथने फुला–फुला के' सुगंध को महसूस करना और 'प्राध्यापक मित्र' के द्वारा कवि के लिए यह कहा जाना–

"आपकी गंध–चेतना ठस तो नहीं हुई?
अभी तो सत्तर के न हुए होंगे आप।"[11]

सुगंध को महसूस करने और महसूस न कर पाने का अनुमान– इन सबमें घ्राण बिम्ब सक्रिय है। घ्राण बिम्ब की रचना करना मुश्किल काम है। गंध को चित्रित करना कठिन कार्य है। इस प्रयास में बिम्बत्व के समाप्त होने की संभावना रहती है। नागार्जुन ने नथने फुलाने और 'मुअत्तर' के सहयोग से इस दुर्लभ बिंब को संभव बनाया है।

स्पृश्य बिम्ब स्पर्शजनित संवेगों/संवेदनाओं से निर्धारित होता है। स्पर्श की संवेदना को चित्रमय बनाना एक कठिन काम है। स्पर्श की अनुभूति का कोई स्थिर स्वरूप नहीं होता। यह असीमित और बहुआयामी कल्पनाशीलता को जन्म दे सकती है। मन में कई तस्वीरें बना सकती है। 'तन गई रीढ़' शीर्षक अपने आप में बिम्ब है। रीढ़ के तन जाने के जो कारण बताए गए हैं उनमें से दो कारणो का सम्बन्ध स्पर्श से है। स्पर्श से रीढ़ का तन जाना– पाठक को शब्द–चित्र के साथ अनेक अर्थों तक पहुँचाता है। अधेड़ उम्र के कवि को युवती का स्पर्श मिला तो तन गई रीढ़। नागार्जुन मनोवेगों का सच्चा और स्वस्थ वर्णन करते हैं। युवती के स्पर्श के प्रभाव को कवि बेबाक बता रहा है लेकिन मन को गर्हित होने से बचाते हुए। नागार्जुन से ही शब्द लें तो किसी भी तरह से 'बुढ़भस' को बढ़ावा देने का प्रयास नागार्जुन नहीं कर रहे हैं। स्पृश्य बिम्ब को इन पंक्तियों में इसी अर्थ में देखने की जरूरत है–

"झुकी पीठ को मिला/किसी हथेली का स्पर्श
तन गई रीढ़/महसूस हुई कंधों को/पीछे से
किसी नाक की सहज उष्ण निराकुल साँसें/तन गई रीढ़।"[12]

आस्वाद्य बिम्ब सामान्य कोटि के होते हैं। आस्वादिता को शब्द–चित्र में ढालना और काव्यानुकूल बनाना– इसमें कवि का उद्देश्य रहता है। नागार्जुन ने 'बंधु डॉ. जगन्नाथन्' कविता में बड़े ही सहज भाव से तमिलनाडु के व्यंजनों का शाब्दिक लुत्फ उठाया है। इन पंक्तियों को पढ़ते हुए व्यंजनों के स्वाद से जुड़ने की अनुभूति आस्वाद्य बिंब की सृष्टि कर रही है–

"और अब मैं निकट भविष्य में ही/तमिलनाडु पहुँचूँगा
आपके साथ घूम–घूमकर देखूँगा उधर के ग्रामांचल
आपके साथ ही बैठकर/किसान परिवारों के बीच
ओतप्पम् का नाश्ता करूँगा/काली कॉफी के घूँट भरूँगा
चुस्कियाँ लूँगा नींबूवाली चाय की
बिना कत्थे के पान का बीड़ा मुँह के अंदर घुलता रहेगा
पान के उस पत्ते में गुलाबी चूना लगा होगा
कच्चे नारियल की बुकनी और/कच्ची सुपारी की छालिया
पान के उस बीड़े के अंदर ज़रूर होंगी।"[13]

सूक्ष्म भावों को संप्रेषित करने के लिए भाव–बिम्ब की ज़रूरत होती है। भावों के मूर्तिकरण से सुबोधता बढ़ती है। नागार्जुन की कविताओं में भाव–बिम्बों की कोई कमी

नहीं है। 'सिंदूर तिलकित भाल' को परदेशी/प्रवासी नागार्जुन भावाकुलता में याद करते हैं। पत्नी से दूर प्रवासी के दर्द को इस भाव–बिम्ब में नागार्जुन ने बखूबी ढाला है–

"किन्तु जीवन–भर रहूँ फिर भी प्रवासी ही कहेंगे हाय !
मरूँगा तो चिता पर दो फूल देंगे डाल/समय चलता जाएगा निर्बाध अपनी चाल
सुनोगी तुम तो उठेगी हूक/मैं रहूँगा सामने (तसवीर में) पर मूक
सांध्यनभ में पश्चिमांत–समान/लालिमा का जब करुण आख्यान
सुना करता हूँ, सुमुखि उस काल/याद आता तुम्हारा सिंदूर तिलकित भाल।"[14]

क्रिया बिम्बों की सहायता से कवि बाह्य एवं आंतरिक गति का चित्रण करता है तथा मानसिक द्वन्द्वों को व्यक्त करने में मदद लेता है। क्रियाओं के उपयोग से कविता की गतिशीलता बढ़ती है। नागार्जुन की प्रसिद्ध कविता 'अकाल और उसके बाद' में क्रिया–बिम्बों की बहुतायत है। चूल्हा रोया, चक्की उदास रही, कानी कुतिया उनके पास सोई, छिपकलियों की गश्त लगी, चूहों की हालत शिकस्त रही आदि क्रियाओं के उपयोग के बाद क्रियाओं की दूसरी फेहरिश्त– दान आए, धुआँ उठा, चमक उठीं, कौए ने खुजलाईं पाखें।' क्रियाओं की बहुतायता से यह कविता बनी है। आठ पंक्तियों में नौ क्रियाएँ मिलकर क्रियाबिम्ब का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत कर रही हैं–

"कई दिनों तक चूल्हा रोया, चक्की रही उदास
कई दिनों तक कानी कुतिया, सोई उनके पास
कई दिनों तक लगी भीत पर छिपकलियों की गश्त
कई दिनों तक चूहों की भी हालत रही शिकस्त

दाने आए घर के अंदर कई दिनों के बाद
धुआँ उठा आँगन से ऊपर कई दिनों के बाद
चमक उठीं घर भर की आँखें कई दिनों के बाद
कौए ने खुजलाईं पाँखें कई दिनों के बाद।"[15]

इस तरह बिम्ब–विधान के तमाम भेदों को नागार्जुन की काव्य–भाषा स्वयं में समेटे हुए हैं। इन भेदापभेदों को छोड़कर यदि हम नागार्जुन की बिम्बधर्मी भाषा का प्रत्यक्षीकरण करें तो स्थिति अत्यन्त रोचक एवं प्रभावशाली होगी। बिम्बों की भेद–परिधि से काफी आगे बढ़कर नागार्जुन बिम्ब–शृंखला रचते हैं। बिम्ब–माला की प्रवृत्ति नागार्जुन की कई कविताओं में है। 'ऐसा क्या अब फिर–फिर होगा?' शीर्षक कविता में 'निगाहों'

को आधार बनाकर दुर्लभ बिम्ब–सृष्टि–क्रम प्रस्तुत किया गया है। बी.एन. कॉलेज, पटना का विद्यार्थी दीनानाथ पुलिस की गोली का शिकार हुआ है। खून से लथपथ वह जगह जहाँ दीनानाथ की लाश पड़ी थी, इन निगाहों को कितने रूप प्रदान करती है–

"ग्रामवासिनी–नगरवासिनी/माताओं–बहनों–बहुओं की
रुकी निगाहें, झुकी निगाहें/क्रुद्ध निगाहें, क्षुब्ध निगाहें
अरुण निगाहें, करुण निगाहें/डरी निगाहें, भरी निगाहें
तरल निगाहें, सजल निगाहें/व्यथित निगाहें, मथित निगाहें
स्तब्ध निगाहें, शून्य निगाहें।"[16]

खिड़की से छुपकर दुनिया को देखती हुई लड़की पर अनेक कविताएँ मिलती हैं। नागार्जुन ने पहली बार ऐसी लड़की के लिए एक नया बिंब रचा– 'एक फाँक आँख, एक फाँक नाक !' यह केवल चाक्षुष बिम्ब नहीं है। इसमें कवि का पुरुष मन अपनी स्वाभाविक मुद्रा में है। अकुंठ भाव से पुरुष मन के खिंचाव को व्यक्त करने में नागार्जुन अद्‌भुत रूप से शालीन नज़र आते हैं। बिना किसी झूठ के, अश्लीलता से साफ बचते हुए, वे सक्षम तरीके से इस आकर्षण और प्रभाव को व्यक्त कर जाते हैं। मैथिली से अनूदित इस कविता का हिन्दी रूप ही रखा जा रहा है–

"कैसे भूल जाऊँ भला/झटके में देखी उस रात, वहाँ की
एक फाँक आँख, एक फाँक नाक !/कैसे भूल जाऊँ भला?

गया था सिनेमा, सेकेंड शो/आ रहा था वापस
.....
खिड़की के पास आते ही नज़र हुई ऊपर
कि बस, देखा झटके से, गोरे गोल मुखचंद्र का अर्द्धांश
सावधान सचेत एक फाँक आँख/साथ ही एक फाँक नाक
झटके में दीख गई/और बस बंद हो गई खिड़की
आकर अंगन्यास किया, मगर/कितनी देर तक रही नाचती
कपाल के भीतर की कटोरी में/धारण किए क्रमशः तकली का रूप
एक फाँक आँख ...../एक फाँक नाक .....।"[17]

नागार्जुन की काव्य–भाषा बिम्बों से भरी पड़ी है। वे बिम्बों को रचते नहीं है, बल्कि उनकी भाषा के स्वाभाविक अंग के रूप में सहज तरीके से वे आ जाते हैं। शमशेर की बिम्ब निर्मित हैं। वे सोच–विचारकर बिम्बों को गढ़ते हैं। नागार्जुन के लिए बिम्ब लक्ष्य

नहीं हैं। अपनी बात को ठीक ढंग से व्यक्त करने के क्रम में वे बिम्ब रचते हैं। 'इस गुब्बारे की छाया में' शीर्षक कविता में गुब्बारे के माध्यम से जो बिम्ब रचा गया है वह पूरी कविता का मूल भाव है। राजीव गाँधी को मिले प्रचंड बहुमत को खोखला बताने के लिए बड़े माथे वाले नवजात शिशु का रूपक लिया गया है। नागार्जुन का लक्ष्य इस कविता में बिम्ब की रचना करना नहीं है बल्कि अपने राजनैतिक मंतव्य को ठीक से समझाने के लिए वे व्यंग्यात्मक बिम्ब की रचना करते हैं।

नागार्जुन की बिम्बधर्मिता के मुख्य हिस्से को व्यंग्यात्मक बिम्ब कहा जा सकता है। व्यंग्यात्मक काव्य–भाषा की सहायता से वे प्रायः बिम्बों की रचना करते हैं। इन व्यंग्यात्मक बिम्बों का यदि अलग से अध्ययन किया जाए तो संभवतः यह निष्कर्ष आ सकता है कि हिन्दी कविता में इतनी संख्या में और इतने रूपों में किसी अन्य कवि ने व्यंग्यात्मक बिम्बों की रचना नहीं की होगी। 'जयप्रकाश पर पड़ी लाठियाँ लोकतंत्र की', 'बाघिन', 'जाने, तुम कैसी डायन हो', 'सूरज सहमकर उगेगा', 'इर्द–गिर्द संजय के, मेले जुड़ा करेंगे', 'यह बदरंग पहाड़ी गुफा–सरीखा' आदि अनेक कविताएँ हैं जिनमें इंदिरा गांधी के विरुद्ध व्यंग्यात्मक बिम्बों की रचना की गयी है।

नागार्जुन की भाषा चुटीली है, अतः बिम्बों का प्रभाव तिलमिलाने वाला है। उनके बिम्ब उनकी व्यंग्यात्मक क्षमता को बढ़ाते हैं। केवल एक उदाहरण यहाँ रखकर बताया जा सकता है कि नागार्जुन के व्यंग्यात्मक बिम्ब उनकी काव्य–भाषा की मारक क्षमता को इतना बढ़ा देते हैं कि केदारनाथ सिंह की मान्यता को स्वीकार करना पड़ता है कि नागार्जुन में 'खतरनाक ढंग से कवि होने का साहस' मौजूद है। 'यह बदरंग पहाड़ी गुफा–सरीखा' शीर्षक कविता इंदिरा गांधी के खिलाफ इमरजेंसी के कारण नागार्जुन ने लिखी। इसकी व्यंग्यात्मक बिम्बधर्मी भाषा देखने योग्य है–

> "देखो, यह बदरंग पहाड़ी गुफा–सरीखा / किस चुड़ैल का मुँह फैला है!
> देखो, ये जबड़े लगते कैसे डरावने / देखो, इस विकराल बदन के अंदर कैसे
> सारा ही कानूनी ढाँचा खिंचा आ रहा / संविधान का पोथा, देखो
> पूरा का पूरा ही कैसे लील रही है! / यह चुड़ैल है !
> देशी तानाशाही का पूर्णावतार है / महाकुबेरों की रखैल है
> यह चुड़ैल है / मुस्कानों में शहद घोलकर चुंबन देती
> दिल में तो विषकन्यावाला वही प्यार है / देशी तानाशाही का पूर्णावतार है
> सारे झंडे चबा रही है / सूरज–चाँद–सितारे सबको चाँप रही

महा कुबेरों की रखैल है/सच पुछो तो यह चुड़ैल है'है, दबा रही है
दलवालों–बे–दलवालों के उन प्रतीक–चिह्नों को यह तो लील रही है
लोकतंत्र के मानचित्र को रौंद रही है, कील रही है
सत्ता–मद की बेहोशी में हाँफ रही है/आँय–बाँय बकती है, कैसे काँप रही है
चह चुड़ैल है !/महाकुबेरों की रखैल है !!"[18]

पूरी कविता बिम्ब को चारों तरफ से सम्भालकर एक संदेश दे रही है। कविता की भाषा व्यंग्य और जोखिम से भरकर बिम्बों को रच रही है। नागार्जुन पारंपरिक बिम्बों को समेटे हुए तो हैं ही, इतने सारे नए बिम्ब वे रचते हैं कि भेदोपभेद की सीमा टूटने लगती है।

इस तरह नागार्जुन की काव्य–भाषा बिम्बों से समृद्ध है। उसमें बिम्ब–रचना की प्रक्रिया के नए–नए सूत्र मौजूद हैं। बिम्बों के उपयोग के बावजूद बोधगम्यता को जटिल न होने देना, उनकी काव्य–भाषा की पहचान है। नागार्जुन के बिम्ब न तो गढ़े हुए होते हैं, न रचे हुए, न जड़े हुए; वे उनकी काव्य–भाषा के स्वाभाविक अंग के रूप में सुशोभित हो रहे हैं।

(ख) प्रतीक–योजना

प्रतीक काव्य का अनिवार्य अंग है। सादृश्य–विधान काव्य–भाषा का अटूट हिस्सा है। कल्पना की सहायता से सादृश्य–विधान की योजना की जाती है। काव्य–भाषा की इसी शक्ति का एक महत्वपूर्ण पक्ष है– प्रतीक–योजना या प्रतीक विधान या प्रतीकात्मकता। प्रतीक एक तरह से विशेष प्रकार का बिम्ब या उपमान है। उपमान अथवा बिम्ब लगातार प्रयोग में आने के कारण जब रूढ़ हो जाते हैं तथा उनसे विशिष्ट अर्थ की प्राप्ति होने लगती है, तो वे प्रतीक बन जाते हैं। काव्य–परंपरा में प्रयुक्त उपमानों के अलावा नए उपमानों को प्रतीक के रूप में व्यवहृत किया जा सकता है। प्रतीक बहुआयामी अर्थ रख सकते हैं। उपमानों की तुलना में इनका अर्थ–क्षेत्र भिन्न हो सकता है। बिम्ब और प्रतीक के अंतर को स्पष्ट करना आवश्यक है–

1. बिम्ब प्रायः नया होता है, प्रतीक बनने के लिए उपमान का रूढ़ होना आवश्यक है।
2. बिम्बों के द्वारा चित्रण किया जाता है, प्रतीक संकेतात्मक होते हैं।
3. बिम्ब प्रायः प्रत्यक्ष स्पष्टता रखते हैं, संकेतात्मक होने के कारण संदर्भ जानने पर ही प्रतीक में स्पष्टता आती है। प्रतीकों के निर्माण का संदर्भ पृष्ठभूमि में होता है। प्रतीक को समझने के लिए उसके संदर्भ/पृष्ठभूमि को जानना आवश्यक होता है।

प्रतीकों के माध्यम से कविता में संक्षिप्तता, संकेतात्मकता एवं प्रभावात्मकता बढ़ती है। एक हद तक इनके उपयोग से काव्य की गुणवत्ता बढ़ती है। प्रतीकों के निर्माण में सावधानी एवं काव्यात्मक विवेक की ज़रूरत होती है। इनके ज़्यादा उपयोग से काव्य की सुबोधता प्रभावित होती है। प्रतीकों में मुख्यार्थ की अपेक्षा लक्ष्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ की सिद्धि होती है। कल्पना की तरह ही प्रतीक का उपयोग बड़े पैमाने पर होता है। 'हिन्दी साहित्य कोश, भाग 1' में प्रतीक के बारे में लिखा गया है, "प्रतीक शब्द का प्रयोग उस दृश्य (अथवा गोचर) वस्तु के लिए किया जाता है, जो किसी अदृश्य (अगोचर या अप्रस्तुत) विषय का प्रतिविधान उसके साथ अपने साहचर्य के कारण करती है, अथवा कहा जा सकता है कि किसी अन्य स्तर की समानुरूप वस्तु द्वारा किसी अन्य स्तर के विषय का प्रतिनिधित्व करनेवाली वस्तु प्रतीक है। अमूर्त, अदृश्य, अश्रव्य, अप्रस्तुत विषय का प्रतीक प्रतिविधान मूर्त, दृश्य, श्रव्य, प्रस्तुत विषय द्वारा करता है। . . . प्रतीकों की दो विशेषताएँ होती हैं। प्रतीक सदैव किसी–न–किसी मध्यस्थ प्रकार के व्यापार का प्रतिनिधि होता है।

इसका आशय यह है कि सभी प्रतीकों में ऐसे अर्थ निहित होते हैं, जिनको केवल प्रत्यक्ष अनुभव के सदर्भ में नहीं जाना जा सकता। दूसरी यह कि प्रतीक शक्ति को घनीभूत कर देता है, प्रतीक की तुच्छता और उसके द्वारा निर्दिष्ट वास्तविक महत्त्व के परिणाम में कोई सम्बन्ध नहीं होता।"[19]

प्रतीक काव्य–भाषा को विशिष्टता प्रदान करते हैं। कवि को इनके कारण अभिव्यक्ति की सहूलियत होती है। नए प्रतीकों को रचते समय व्याख्या की ज़रूरत होती है। महादेवी वर्मा ने अपनी कविताओं में 'दीपक' को प्रतीक बनाया। काव्य–संग्रहों की भूमिकाओं में उन्होंने इस प्रतीक की व्याख्या भी की ताकि इस नए प्रतीक का अर्थ वांछित दिशा में ही लगाया जाए और कविता में संगति बैठ सके। प्रतीकों की रचना में कल्पना–शक्ति सक्रिय रहती है। कल्पना–शक्ति और साम्य–भावना के महत्त्व को, कुछ काव्यपंक्तियों के प्रतीकात्मक शब्दों को रेखांकित करने के बाद, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं, "इन प्रयोगों का आधार या तो किसी–न–किसी प्रकार की साम्य भावना है अथवा किसी वस्तु का उपलक्षण या प्रतीक के रूप में ग्रहण। दोनों बातें कल्पना ही के द्वारा होती है। उपलक्षणों या प्रतीकों का एक प्रकार का चुनाव है जो मूर्तिमत्ता, मार्मिकता या आतिशय्य आदि की दृष्टि से होता है– जैसे, शोक या विषाद के स्थान पर अश्रु, हर्ष और आनन्द के स्थान पर हास, प्रिय–प्रेमी के लिए मुकुल–मधुप, यौवन काल या संयोग काल के लिए मुधमास, शुभ्र के स्थान पर रजत या हंस, दीप्त के स्थान पर स्वर्ण इत्यादि। यह सारा व्यवसाय कल्पना ही का है।"[20]

शुक्ल जी प्रतीक की सीमा को विस्तृत करते हुए बताते हैं कि साम्य–भावना ऊपरी स्तर पर न होकर कभी–कभी आंतरिक स्तर पर होती है तब भी प्रतीक– योजना सम्पन्न होती है, "कहीं–कहीं तो बाहरी सादृश्य या साधर्म्य अत्यंत अल्प या न रहने पर भी आभ्यंतर प्रभाव साम्य लेकर ही अप्रस्तुतों का सन्निवेश कर दिया जाता है। ऐसे अप्रस्तुत अधिकतर उपलक्षण के रूप में या प्रतीकवत् (simbolic) होते हैं– जैसे, सुख, आनंद, प्रफुल्लता, यौवनकाल इत्यादि के स्थान पर उनके द्योतक उषा, प्रभात, मधुकाल; प्रिया के स्थान पर मुकुल; प्रेमी के स्थान पर मधुप; श्वेत या शुभ्र के स्थान पर कुंद, रजत; माधुर्य के स्थान पर मधु; दीप्तिमान् या कांतिमान के स्थान पर स्वर्ण; विषाद या अवसाद के स्थान पर अंधकार, अँधेरी रात, संध्या की छाया, पतझड़; मानसिक आकुलता या क्षोभ के स्थान पर झंझा, तूफान; भावतरंग के लिए झंकार; भावप्रवाह के लिए संगीत या मुरली का स्वर इत्यादि।"[21]

प्रतीक मनुष्य की साम्य–भावना को व्यवस्थित रूप प्रदान करते हैं। प्रस्तुत के संप्रेषण को अधिक प्रभावशाली बनाने का काम प्रतीकों के माध्यम से किया जाता है। प्रतीकों के स्रोत प्रायः प्रकृति, धर्म, भावना या मनोविकार, इतिहास, लोक–जीवन, संस्कृति, विज्ञान–तकनीक आदि हो सकते हैं। कहने का आशय यह है कि प्रतीकों के स्रोत निर्धारित एवं सीमित नहीं हैं। काव्य–परंपरा में प्रतीकों का विश्लेषण करें तो इसके अनेक स्रोत प्राप्त होते हैं।

नागार्जुन के प्रतीक विशिष्ट हैं। प्रायः उनके व्यंग्यात्मक प्रतीकों को ही सामने लाया गया है। परंतु ऐसा करना उनकी प्रतीक–योजना के अन्य पक्षों को छोड़ देना होगा। उनके काव्य–संसार में अनेक प्रतीक ऐसे हैं जो व्यंग्य से सम्बन्धित नहीं है। एक और बात ध्यान देने योग्य है कि नागार्जुन की कई कविताओं में प्रतीक–योजना प्रत्यक्ष न होकर अप्रत्यक्ष है। मतलब यह कि ये प्रतीक अनायास रूप से आए हैं। 'कालिदास'[22] शीर्षक कविता का विषय प्रत्यक्ष रूप से कालिदास के साहित्य से सम्बन्धित है जहाँ अज, रति और यक्ष प्रसंगवश रोए थे। नागार्जुन पूछते हैं कि ये पात्र रोए थे या कालिदास, तुम रोए थे? इस कविता की व्याख्या प्रतीकात्मक बनाकर करने पर नया अर्थ खुलता है कि अपनी रचनाओं में कवि का व्यक्तित्व किस हद तक शामिल होता है। वह अपने पात्रों के साथ किस हद तक तादात्म्य रखता है। ऐसी स्थिति में 'कालिदास' यहाँ कवियों के प्रतीक बन जाते हैं। बिना प्रतीक बनाए भी इस कविता की मार्मिकता अपनी जगह कायम है। इस तरह नागार्जुन की यह प्रतीक–योजना अनायास है।

'पाषाणी'[23] केवल अहल्या का विशेषण नहीं है। नागार्जुन ने 'पाषाणी' को प्रतीक बना दिया है। पुरुषवादी मानसिकता की उपेक्षा से पीड़ित होकर स्त्री 'पाषाणी' हो जाती है। मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र का यह आश्वासन कि मैं न तो दूसरा विवाह करूँगा और न ही किसी स्त्री को क्रीतदासी बनाकर अपमानित करूँगा– अहल्या/स्त्री जाति को 'पाषाणी' से जीवित स्त्री बनने की चेतना प्रदान करती है–

> ''छू कर, अम्ब, तुम्हारे दोनों पैर/होता राघव राम प्रतिज्ञाबद्धः
> 'जीवन–भर वह तुम्हें रखेगा याद/नारी के प्रति कभी न होगा क्रूर
> नहीं करेगा वह दूसरा विवाह/सदा रहेगा एक पत्निव्रत–शील
> . . . . . .
> नहीं करूँगा सपने में भी अम्ब,/क्रयक्रीत दासी का भी अपमान . . .''[24]

अहल्या पत्थर बन गयी थी। रामकथा के इस प्रसंग को 'पाषाणी' प्रतीक के माध्यम से स्त्री–विमर्श के निकट लाने का काम 1947 ई. में नागार्जुन ने किया। ऐतिहासिक रूप से कवि का यह प्रयास सराहनीय है। पत्थर को 'पाषाणी' में बदलकर दैवी चमत्कार की जगह आधुनिक विमर्श को प्रस्तुत करने का काम प्रतीकात्मक तरीके से किया गया है। नागार्जुन का यह सशक्त प्रतीक उनके व्यंग्यात्मक प्रतीकों से भिन्न है।

'लाल भवानी'[25] नागार्जुन के प्रसिद्ध प्रतीकों में से एक है। किसानों का सशस्त्र विद्रोह आज़ाद भारत के तैलंगाना (आन्ध्र प्रदेश) में हुआ। इस विद्रोह के वामपंथी मिजाज़ और ग्रामीण जनता के परंपरागत धार्मिक मन को 'लाल भवानी' प्रतीक में एक साथ पिरोया गया है। वामपंथी जॉर्गन में 'भवानी' शब्द को शामिल करना संभव नहीं था। नागार्जुन अपने मिजाज़ से चलनेवाले कवि रहे हैं। इस प्रतीक की व्याख्या में धार्मिक पक्ष को छोड़ देना ठीक नहीं है। 'भवानी' काली या शक्ति का एक नाम है। 'भवानी' को लाल रंग प्रदान करना नागार्जुन की अपनी सूझ–बूझ है। क्रांति और धर्म की पृष्ठभूमि को साथ मिलाकर नागार्जुन ने किसानों के सशस्त्र विद्रोह को संभवतः उचित शब्दावली दी है–
'लाल भवानी प्रकट हुई हैं सुना कि तैलंगाने में !'

'पाषाणी' की तरह 'तालाब की मछलियाँ'[26] भी स्त्री–विमर्श से जुड़कर प्रतीक बन गयी हैं–

"हम भी मछली, तुम भी मछली/दोनों ही उपभोग की वस्तु हैं
. . . . . .
इसीलिए तो/हमें इन्होंने कैद कर लिया तालाबों में
इसीलिए तो/तुम्हें इन्होंने कैद कर लिया
सात–सात डेवढ़ियों वाली हवेलियों में/सुविधा औ सामर्थ्य मुताबिक
अपनी–अपनी रुचि के ही अनुसार वे भी
रसना–रति के लेलिहान उस अग्निकुण्ड में/भून–भूनकर हमें खा गए . . ."[27]

नागार्जुन की प्रतीक–योजना का बड़ा हिस्सा ऐसा है जिसका सम्बन्ध व्यंग्य से नहीं है।

'विजयी के वंशधर'[28] में रामलीला की नौटंकी के माध्यम से पतनशील सामंती शान पर गहरा व्यंग्य किया गया है। इस कविता में राम–रावण सब प्रतीक बन गए हैं–

"मरे हुए रावण को फिर–फिर मारने/खस्ता सामंती शान बघारने
निकले हैं बाहर/. . . . . .

राक्षसराज रावण को मार दिया सींक से !
हिमालय को मात किया सर्दी से, छींक से !''[29]

सामंती अवशेषों पर व्यंग्य करते हुए कवि ने रामकथा के प्रतीकों का उपयोग किया है। 'बजट–वार्त्तिक'[30] में भी 'रामराज' के साथ कई प्रतीक आए हैं–

''गंगा–यमुना के कछार में/आ–आकर अंडे देंगी अब
दुनिया–भर की जोंकें/रामराज की सरल प्रजा का तरल रक्त
कितना सस्ता है !![31]

'बाकी बच गया अंडा'[32] शीर्षक कविता पूरी तरह प्रतीकात्मक है। दस पंक्तियों की यह कविता भारतीय स्वाधीनता आंदोलन से आजादी तक के इतिहास को प्रतीकात्मक ढंग से रखती है। भारतमाता के 'पाँच पूत' (एकता का प्रतीक), मिलकर लड़ाई लड़ते हैं और अंततः एक पूत गद्दी हथिया लेता है और दूसरे को जेल भेज देता है। आज़ाद भारत और सत्ताधारी पार्टी कांग्रेस की भूमिका को प्रतीकात्मक तरीके से यहाँ प्रस्तुत किया गया है।

'स्वदेशी शासक'[33] के चरित्र को प्रतीकों के व्यंग्य का निशाना नागार्जुन ने बनाया–

''चाँदी का मुँह, कंचन की है जीभ तुम्हारी/चरण तुम्हारे गगन विहारी
राजाओं के राजा हो तुम/. . . . . ..
बेच–बेचकर गाँधी जी का नाम/बटोरो वोट
हिलाओ शीश/निपोड़ो खीस/बैंक–बैलेंस बढ़ाओ।''

यह कविता प्रतीकों से भरी है। नागार्जुन की उपमाएँ प्रतीकों का काम करने लगती हैं। रूढ़ प्रतीकों के बजाय वे नए प्रतीकों का उपयोग ज्यादा करते हैं। 'मैं कैसे अमरित बरसाऊँ?'[34] में भी उपमाएँ प्रतीक बन गयी हैं। यहाँ भी नए प्रतीकों को सजाया गया है। पूरी कविता प्रतीकों से पटी हुई है–

– बजरंगी हूँ नहीं कि निज उर चीर तुम्हें दरसाऊँ !
– गज की जैसी चाल, हरिण के नैन कहाँ से लाऊँ?
बौर चूसती कोयल की मैं बैन कहाँ से लाऊँ?
झड़े जा रहे बाल, किस तरह जुल्फें मैं दिखलाऊँ?

नागार्जुन के प्रतीक प्रायः रूढ़ नहीं होते हैं। सामान्य भाव–बोध में प्रचलित शब्दों को अप्रस्तुत–विधान में प्रयुक्त कर मुहावरेदार भाषा रचने का कौशल उनमें मौजूद है। इस मुहावरेदार भाषा का विश्लेषण करने पर उसमें उपमा, प्रतीक और बिम्ब की

सर्जना–प्रक्रिया की सहजता का मानो मानक रूप दिखाई पड़ता है। उपर्युक्त पंक्तियों से 'बजरंगी' शब्द को लें। यह यहाँ अप्रस्तुत है। कह सकते हैं कि उपमान है, उपमेय स्वयं कवि है, 'निज उर चीर' सामान्य गुणधर्म है। पर क्या यह प्रतीक नहीं है। अपनी सच्चाई को प्रकट करने के लिए हनुमान ने छाती चीर कर दिखाया था। पर यह चमत्कार मिथकीय कथाओं में संभव है। 'बजरंगी' के निषेध से कवि अपने हृदय की सच्चाई की प्रामाणिकता को कविता में रखना चाहता है। यहाँ 'बजरंगी' राम–कथा के अभिधात्मक पात्र के रूप तक सीमित नहीं है, बल्कि सच्चाई को व्यक्त करने की उनकी शैली को प्रतीकात्मक बना लिया गया है। इस शैली के निषेध के साथ 'बजरंगी' को प्रतीक के रूप में व्यवहृत किया गया है। इसी तरह 'गज की चाल', 'हरिण के नैन', 'बौर चूसती कोयल' के प्रयोग में अर्थ–व्याप्ति उपमा अलंकार तक सीमित नहीं है। इसके पीछे विशिष्ट काव्य–परंपरा के सौन्दर्य–बोध की मानसिकता की इतनी बड़ी अर्थ–राशि समाहित है कि ये सब प्रतीक बन गए हैं।

नागार्जुन के लिए उपमा, रूपक, प्रतीक आदि भाषा के अतिरिक्त तत्त्व नहीं है। ये सब उनकी भाषा के तेवर में शामिल हैं। व्यंग्य, मज़ाक, उपहास, चुहल, चिकोटी आदि जितने भी नाम दिए जाएँ, ये सब उनकी भाषा की मूल पहचान हैं। औपचारिक अभिधात्मक भाषा नागार्जुन के स्वभाव में प्रायः नहीं है। इसलिए उनकी भाषा की प्रकृति ऐसी है कि उसमें प्रतीकों का बड़ा संसार सृजित होगा ही। उनके अधिकतर प्रतीक रूढ़ या परंपरागत सीमा से बँधे हुए नहीं हैं। जाने–पहचाने शब्दों को प्रतीक बनाने के बावजूद नागार्जुन उनमें अपनी छाप के साथ नया अर्थ और प्रभाव भर देते हैं।

बिहार के तत्कालीन मुख्यमन्त्री श्री कृष्ण सिंह पर व्यंग्य की बानगी–

> "कान फूँकते उल्लू, गीदड़ चाँप रहे हैं गोड़ !
> ओ बिहार–केशरी, तुम्हारी बुढ़भस है बेजोड़ !!"[35]

चुनावी टिकट पाने की होड़ का नमूना–

> "स्वेत–स्याम–रतनार' अँखियाँ निहार के / सिंडिकेटी प्रभुओं की पग–धूर झार के
> लौटे हैं दिल्ली से कल टिकट मार के / खिले हैं दाँत ज्यों दाने अनार के
> आए दिन बहार के !"[36]

इन दोनों काव्यांशों के प्रतीकों पर विचार करें तो हम पाते हैं कि ये बिल्कुल परिचित प्रतीक हैं, किन्तु इनके अर्थ और प्रभाव से हम नया परिचय प्राप्त करते हैं।

'उल्लू' मूर्खता का और 'गीदड़' कायरता/धूर्तता के प्रतीक रहे हैं। नागार्जुन इतना अर्थ परंपरा से लेते हैं और इनमें इतना ज़्यादा जोड़ देते हैं कि ताजगी उत्पन्न हो जाती है। 'उल्लू' कान फूँक रहे हैं और 'गीदड़' गोड़ (पैर) चाँप रहे हैं। 'बिहार–केशरी' की बुढ़भस को बेजोड़ बनाने में प्रतीकों के उपर्युक्त प्रयोग सहायक हो रहे हैं। 'उल्लू' की क्रिया भी मुहावरेदार रखी गयी है– कान फूँकना।

रीतिकाल के कवि गुलाम नबी रसलीन के प्रसिद्ध दोहे से नागार्जुन 'स्वेत–स्याम–रतनार' टुकड़ा उठाते हैं–

अमिय हलाहल मद भरे स्वेत–स्याम–रतनार।
जियत मरत झुकि झुकि परत जेहि चितवत इक बार।।

रसलीन के इस छंद में नायिका की आँखों के तीन रंगों और तीन प्रभावों को बताया गया है। नायिका की आँखों में अमृत (स्वेत), हलाहल (स्याम) और मद (रतनार) के रंग हैं और उनके प्रभावस्वरूप कोई जी जाता है, कोई मर जाता है तो कोई अपने होश खो बैठता है। कहाँ नायिका की आँखें और कहाँ 'सिंडकेटी प्रभुओं' नेताओं की आँखें ! मगर प्रभाव तो इन आँखों के भी समान हैं। इन प्रभुनेताओं की आँखों में किसी के लिए अमृत है तो किसी के लिए ज़हर और किसी के लिए सब्ज़बाग भर।

रसलीन के दोहे में 'स्वेत–स्याम–रतनार' विशेषण हैं। इनकी व्याख्या 'अमिय हलाहल मद' और 'जियत मरत झुकि झुकि परत' में स्वयं कवि के द्वारा ही कर दी गयी है। नागार्जुन जब इस टुकड़े को अपनी कविता में 'फिट' करते हैं तो ये यहाँ विशेषण–मात्र नहीं हैं। रसलीन और नागार्जुन के भावबोध को जोड़ देने पर व्यंग्य और हास्य का प्रभाव बढ़ जाता है। इस टुकड़े में व्यंग्य की इतनी बड़ी अर्थराशि समा जाती है कि इनका स्थान प्रतीक की कोटि का बन जाता है।

नागार्जुन के प्रतीकों का संसार व्यापक है। उनकी प्रतीक–शैली प्रसिद्ध है। उनके कुछ अन्य प्रतीकों की संक्षिप्त चर्चा यहाँ की जा सकती है– भुस का पुतला, दशकंधर रावण, भस्मासुर, दुर्गा, काली, कुबेर, खर–दूषण आदि। 'हो गए बारह महीने', 'फैल गया है दिव्य मूत्र का लवण सरोवर' प्रतीक शैली की कविताएँ हैं।

नागार्जुन के प्रतीकों पर विचार करते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की निम्नलिखित पंक्तियाँ याद हो आती हैं जो सूरदास के कवित्व के बारे में लिखी गयी हैं, "सूरदास जब अपने प्रिय विषय का वर्णन शुरू करते हैं तो मानो अलंकारशास्त्र हाथ

जोड़कर उनके पीछे–पीछे दौड़ा करता है। उपमाओं की बाढ़ आ जाती है, रूपकों की वर्षा होने लगती है। . . . पद–पद पर मिलने वाले अलंकारों को देखकर भी कोई अनुमान नहीं कर सकता, कि कवि जान–बूझकर अलंकारों का उपयोग कर रहा है। पन्ने–पर–पन्ने पढ़ते जाइए : केवल उपमाओं और रूपकों की घटा, अन्योक्तियों का ठाठ, लक्षणा और व्यंजना का चमत्कार– यहाँ तक कि एक ही चीज दो–दो, चार–चार, दस–दस बार तक दुहराई जा रही है, फिर भी स्वाभाविक और सहज प्रवाह कहीं भी आहत नहीं हुआ। . . . काव्यगुणों की इस विशाल वनस्थली में एक अपना सहज सौन्दर्य है। वह उस रमणीय उद्यान के समान नहीं, जिसका सौन्दर्य पद–पद पर माली के कृतित्व की याद दिलाया करता है; बल्कि उस अकृत्रिम वनभूमि की भाँति है, जिसका रचयिता रचना में ही घुल–मिल गया है।''[37] नागार्जुन अपनी काव्य–भाषा की कला में इसी प्रकार घुल–मिल गए हैं।

(ग) अप्रस्तुत योजना

अप्रस्तुत योजना पर विचार करते हुए हिन्दी साहित्यकोश भाग–एक में लिखा गया है, "अप्रस्तुत योजना का विशेष महत्त्व है। यह काव्य का प्राणतत्त्व है। इससे काव्य में रसार्द्रता, प्रभविष्णुता, प्रेषणीयता एवं मर्मस्पर्शिता का संचार होता है। इसी 'अप्रस्तुत योजना' के द्वारा काव्यगत भाव प्रमाता के लिए संवेदनीय बनता है। 'अप्रस्तुतयोजना' से प्रकृष्ट रूप में संयोजित कविता पाठक एवं श्रोता को काव्यानन्द प्रदान करने में समर्थ होती है। कवि जितना ही भावप्रवण और सहृदय होगा, उतनी ही उसकी अप्रस्तुत योजना मार्मिक एवं अखण्ड आनन्द का स्रोत होगी।"[38] अप्रस्तुत योजना वस्तुतः अलंकारों के चमत्कारिक प्रयोग तक सीमित नहीं है। अलंकार गिनवाने का कौशल आधुनिक काल की कविताओं की प्रवृत्ति नहीं है। 'अलंकार' शब्द आधुनिक काव्य की समीक्षा की भाषा में प्रायः दिखाई नहीं पड़ता है। मध्ययुगीन काव्य की टीकाओं में यह एक महत्त्वपूर्ण पक्ष रहा है।

अप्रस्तुत योजना काव्य–भाषा का एक खास रूप है। यह रूप इतना अनिवार है कि इसके बिना कविता रचना चुनौती को बढ़ाना है। इसके बिना कविता की 'कविताई' प्रभावहीन लगने लगती है। भाषा की जिस विशिष्टता के कारण हम छंद मुक्त/गद्यात्मक पंक्तियों को भी कविता कह पाते हैं, वह विशिष्टता प्रायः अप्रस्तुत विधान ही है।

अप्रस्तुत विधान काव्य–भाषा की संप्रेषणीयता को समृद्ध करता है। उसकी सुंदरता इसी में है कि कविता की बोधगम्यता बढ़े। काव्य–भाषा की चित्रमयता और बिम्ब–धर्मिता का आधार अप्रस्तुत–विधान ही है। कल्पना का सुंदरतम विकास इसी में दिखाई पड़ता है। कविता में कल्पना के महत्त्व को स्थापित करने में सर्वाधिक सहयोग इसी विधान का रहता है।

नागार्जुन की काव्य–भाषा में अप्रस्तुत विधान का सौन्दर्य बहुआयामी एवं निरंतरता में है। अलंकारों का चमत्कारिक उपयोग तो आधुनिक कविता की प्रवृत्ति है ही नहीं, किंतु अप्रस्तुत–विधान की ज़रूरत हमेशा बनी रही है। अलंकारयुक्त काव्य–भाषा को अप्रस्तुत–विधान के अंग के रूप में देखा जा सकता है। यदि केवल अलंकारों को ध्यान में रखा जाए तो नागार्जुन की प्रारम्भिक और अंतिम कविताओं की भाषा में अलंकारों के प्रयोग को रेखांकित कर उनकी काव्य–भाषा पर, इस संदर्भ में, टिप्पणी की जा सकती

है। 'नागार्जुन रचनावली' के अनुसार नागार्जुन की तीसरी कविता 'कालिदास' है और अंतिम कविता 'मायावती–मायावती'। 'कालिदास' 1938 ई. की और 'मायावती–मायावती' 1997 ई. की रचना है। इन दोनों कविताओं में अलंकार–प्रयोग की स्थिति को सामने रखते हुए कवि की काव्य–भाषा की प्रकृति पर विचार–क्रम को आगे बढ़ाया जा सकता है।

'कालिदास' में कुल 29 पंक्तियाँ हैं। इनमें से 18 पंक्तियों में अलंकारों का प्रयोग हुआ है। वीप्सा, विरोधाभास, अनुप्रास और मानवीकरण से युक्त इन पंक्तियों का प्रभाव कविता की काव्य–भाषा पर असंदिग्ध है। 'मायावती–मायावती' में कुल 34 पंक्तियाँ हैं। इनमें से 18 पंक्तियों में कोई न कोई अलंकार मौजूद हैं।

नागार्जुन की इस लंबी काव्य–यात्रा के प्रारम्भ से अंत तक अलंकारों की भरमार मौजूद है। इसके बावजूद यह नहीं कहा जा सकता कि नागार्जुन की काव्य–भाषा का मुख्य हिस्सा अलंकार–विधान है। नागार्जुन का लक्ष्य आलंकारिक काव्य–भाषा लिखना नहीं है। दरअसल उनकी काव्य–भाषा के स्रोत जहाँ से जुड़े हैं उनकी प्रकृति व्यंजनात्मक भाषा की है। यही कारण है कि नागार्जुन की भाषा अलंकार के लक्ष्य तक नहीं रुकती, बल्कि शब्द की व्यंजना–शक्ति का उपयोग कर अर्थ को विस्तार पाने का पूरा अवसर प्रदान करती है।

उपर्युक्त दोनों कविताओं में अनुप्रास की भरमार है। अनुप्रास का उपयोग यहाँ नाद–सौन्दर्य के लिए नहीं हुआ है। इस तरह नागार्जुन के अनुप्रास, शब्दालंकार की सीमा का अतिक्रमण कर नए नामकरण की मानो माँग करने लगते हैं।

यदि अलंकारों की परिभाषाओं के अनुसार नागार्जुन की कविता में अलंकार प्रयोगों की खोज की जाए, तो निश्चय ही अनेक अलंकार इनमें मिल जाते हैं। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, विरोधाभास, असंगति, अनुप्रास, मानवीकरण, विशेषण–विपर्यय, भ्रांतिमान आदि अलंकारों के उदाहरण इनके काव्य में बिखरे पड़े हैं। 'भस्मांकुर' खंडकाव्य एवं पौराणिक संदर्भ से जुड़ी रचनाओं में तो नए–पुराने सभी प्रकार के अलंकारों को अपनाया गया है।

नागार्जुन की कविताओं से उदाहरण लेकर अलंकारों को सिद्ध करने की पद्धति भी यहाँ अपनायी जा सकती है। परन्तु इससे विशेष कुछ हासिल होने वाला नहीं है। आवश्यक यह है कि नागार्जुन की काव्य–भाषा के अंश के रूप में अप्रस्तुत विधान की चर्चा की जाए। उनकी काव्य–भाषा को रचने में अप्रस्तुत विधान के योगदान को रेखांकित किया जा सकता है।

'इस गुब्बारे की छाया में'[39] शीर्षक कविता की बनावट लगभग अन्योक्तिपरक है। सद्यःप्रसूता माता और डॉक्टर साहा के बीच बातचीत की भाषा को, राजीव गाँधी के नेतृत्व में भारी बहुमत प्राप्त करने की स्थिति पर विचार करने के लिए, अपनाया गया है। रोग–बीमारी को एक देहाती माँ की भाषा में व्यक्त करके वस्तुतः अन्योक्ति का काम लिया जा रहा है। यह अनलंकृत भाषा कविता को औपम्य–विधान से जोड़ रही है–

"हाथ–पैर तो ठीक–ठाक हैं / ठीक–ठाक हैं
गर्दन–कंधे /बाँह–बूँह की ठीक–ठाक हैं
लेकिन देखो, सिर कैसा है / भारी–भड़कम गुब्बारे–सा
दीख रहा है/ जाने क्या तो रोग ढुक गया
पैदा होते ही यह बबुआ/ भद्दा–भद्दा लगा दीखने"[40]

इन पंक्तियों में केवल एक ही प्रत्यक्ष अप्रस्तुत/उपमान है– 'गुब्बारे–सा'। शेष पंक्तियों में कोई उपमान नहीं है। परन्तु इन पंक्तियों की काव्यभाषा अप्रस्तुत विधान से रची गयी है।

नागार्जुन की भाषा का कौशल है कि वे प्रस्तुत वर्णन से अप्रस्तुत की व्याख्या कर रहे हैं। परम्परागत अलंकृत काव्यभाषा में अप्रस्तुत के वर्णन से प्रस्तुत की व्याख्या की जाती रही है। अन्योक्ति की पद्धति का भी वे पूरा पालन यहाँ नहीं कर रहे हैं। डॉक्टर साहा के कथन में प्रस्तुत बदल जाता है। वे बच्चे की बात कम कर रहे हैं, चुनावी परिणाम पर अपने विचार अपेक्षाकृत ज़्यादा रख रहे हैं–

"सुन री माई, सुन री माई / यह प्रचंड बहुमत ही सचमुच
तेरे शिशु का महारोग है/ये ही इसको ले डूबेगा
नहीं काम का रहने देगा/यह प्रचंड बहुमत ही
–इसको ले डूबेगा/यही गले का ढोल बनेगा
इस गुब्बारे की छाया में/तस्कर–मेला जमा करेगा"[41]

इन पंक्तियों में अन्योक्ति छूट जा रही है। डॉक्टर आलंकारिक भाषा में बात कर रहा है कि प्रचंड बहुमत तेरे शिशु का महारोग है। कविता के कथ्य की दृष्टि से विचार करें तो यह कथन अप्रस्तुत न होकर प्रस्तुत है। इसत तरह नागार्जुन की काव्य–भाषा इस कविता में माँ की अनलंकृत भाषा को अप्रस्तुत विधान का दर्जा प्रदान करती है और डॉक्टर की अलंकृत भाषा को प्रस्तुत के वर्णन का माध्यम बना देती है। नागार्जुन की उपलब्धि है कि वे अलंकार–विधान के नूतन प्रयोगों से काव्यभाषा को नया रूप प्रदान कर रहे थे।

अज्ञेय की यह चिंता प्रसिद्ध है कि 'उपमान मैले हो गए हैं'। वे नई उपमाओं के चयन में सजग–सावधान दीखते हैं– 'कलगी बाजरे की' आदि। वे उपमाओं के चयन को श्रमसाध्य भी महसूस करते हैं। यह ठीक भी है। अज्ञेय की काव्य–भाषा की प्रकृति में यह काम सावधानीपूर्वक किया गया मालूम भी पड़ता है।

नागार्जुन की काव्य–भाषा नई उपमाओं से भरी पड़ी हैं। तुकबंदी में लगी उपमाएँ भी सम्पन्नता में किसी से कम नहीं हैं। उनकी उपमाएँ प्रायः दुहराई हुई भी नहीं हैं। लोक–जीवन और सांस्कृतिक संदर्भों से वे प्रायः उपमान चुनते हैं। विशेषण जोड़कर उपमाओं को विलक्षण बना देने की उनमें अद्‌भुत क्षमता है।

'वाह भई, मंडल'[42] शीर्षक कविता में नागार्जुन बिहार के तत्कालीन मुख्यमंत्री बी. पी. मंडल के लिए व्यंग्यात्मक भाषा में उपमाओं की झड़ी लगा देते है–

वाह भई, मंडल! /
वाह भई, विरोधाभासों का बंडल!
वाह भई, बिहारी कालनेमि का कमंडल!
वाह भई, शोषित–शिरोमणि . . .
. . . . . .
दम साधकर देखती रही दुनिया
शोषक का भंडारा, शोषित का भोज
पतितों की सज–धज, फरेबियों का पोज

विशेषणों से युक्त ये उपमाएँ परम्परा से नहीं ली गयी हैं। 'विरोधाभासों का बंडल' में अंग्रेजी और संस्कृतनिष्ठ हिन्दी को ऐसा मिलाया गया है कि सटीक व्यंग्यात्मक उपमा की सृष्टि हो रही है। 'बिहारी कालनेमि का कमंडल', 'शोषित–शिरोमणि', 'शोषक का भंडारा', 'शोषित का भोज', 'पतितों की सज–धज', 'फरेबियों का पोज' में अप्रस्तुत–विधान का कौशल अंतर्निहित है। औपम्य–विधान की यह प्रवाहमयता नागार्जुन की काव्य–भाषा का स्वभाव है।

'देवी लिबर्टी'[43] का उपयोग नागार्जुन अमेरिका की विस्तारवादी विदेशी–नीति पर चोट करने के लिए करते हैं। 'गॉडेस ऑफ लिबर्टी' को वे अनेक कविताओं में याद करते हैं। अमेरिका दूसरे देशों की सम्प्रुभता के लिए कई बार खतरा बना है। 'लिबर्टी' की देवी को आदर्श माननेवाला अमरीका दूसरों की लिबर्टी के प्रति संवेदनशील नहीं है। नागार्जुन की कविता में 'लिबर्टी' देवी कहीं भी अपने अभिधात्मक अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुई है। वह

अमेरिका के प्रति अपनायी गयी व्यंग्यात्मक भाषा में अप्रस्तुत विधान के द्वारा नया अर्थ ग्रहण कर ले रही है–

"देवि लिबर्टी, तुमको प्रिय है / कटे सिरों की धवल मालिका?
अपनी ओर ज़रा तो देखो / बड़ी बनी हो विश्व–पालिका!"[44]

व्यंग्य इतना गहरा है कि शब्दों के प्राथमिक अर्थ यहाँ गौण हो जा रहे हैं। विरोधाभास, असंगति, अन्योक्ति की शब्दावली में इन पंक्तियों की व्याख्या संभव नहीं है। अप्रस्तुत–विधान का इतना सांकेतिक प्रयोग काव्य–भाषा को नयी शैली में अलंकृत कर रहा है।

'लगता पागल हो जाएगी'[45] में 'छोटी बहन हमारी' पदबंध का उपयोग सभी अठाईस पंक्तियों के अंत में है। राजनीतिक विवरणों से भरी यह कविता 'छोटी बहन हमारी' को पुनरूक्ति या वीप्सा या अनुप्रास की भाषा से अलग खड़ी करती है। वह स्वयं प्रस्तुत बनकर अनेक अप्रस्तुतों को चुटीले अंदाज में सामने आने का अवसर प्रदान कर रही है।

'अब तक छिपे हुए थे उनके दाँत और . . .' 'तीनों बंदर बापू के', 'घर के बाहर निकलेगी कैसे लजवंती', 'देवी, तुम तो काले धन की बैसाखी पर . . .', 'अब तो बंद करो हे देवी, यह चुनाव का प्रहसन! आदि अनगिनत कविताओं की काव्य–भाषा को बनाने में अप्रस्तुत–विधान की महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

नागार्जुन की लोकवादी पृष्ठभूमि उनकी काव्य–भाषा को सहज तरीके से कलात्मक बना देती है। उनकी कलात्मकता का सम्बन्ध कलावाद से नहीं है। कलात्मक होने के लिए उनकी भाषा को अवसर की तलाश नहीं होती। मादा सूअरनी को 'मादरे हिंद की बेटी है' कहकर वे अलंकृति की तरह ही चमत्कृत करतें हैं।

(घ) मुहावरे, लोकोक्तियाँ और शैली

नागार्जुन की काव्य–भाषा में मुहावरों और लोकोक्तियों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनकी सहायता से भाषा की लाक्षणिकता और व्यंजकता में वृद्धि हुई है। ग्रामीण और शहरी मुहावरों–लोकोक्तियों से युक्त नागार्जुन की काव्य–भाषा में नए मुहावरों की गढ़ने की क्षमता मौजूद है।

नागार्जुन रचनावली–1 तथा 2 में कुल मिलाकर 694 कविताएँ हैं जो 928 पृष्ठों में प्रकाशित हुई हैं। इनमें से शायद ही कोई कविता होगी जिसमें कोई मुहावरा नहीं आया हो। नागार्जुन के मुहावरों को प्रयोग और अर्थ के साथ यदि संगृहीत किया जाए तो एक कोश–पुस्तक तैयार हो सकती है। प्रगतिशील कवियों में सभवतः नागार्जुन की काव्य–भाषा में मुहावरों की संख्या सर्वाधिक होगी। अनुमान लगाने के लिए, नमूने के तौर पर, नागार्जुन रचनावली–1 के कुछ पृष्ठों का सर्वेक्षण किया जा सकता है। पृष्ठ संख्या–21 पर पहली कविता 'निर्वासित' तथा दूसरी कविता 'बेकार' संगृहीत है। पृष्ठ संख्या 21, 50, 100, 150 और 200 पर प्रकाशित काव्यांशों या कविताओं में प्रयुक्त मुहावरों की सूची बनाकर नागार्जुन के काव्य में मुहावरों की संख्या का अनुमान लगाया जा सकता है। आँकड़े तैयार करने के लिए यहाँ यादृच्छिक पद्धति (Random Pattern) से पृष्ठ संख्या का चयन किया गया है। उपर्युक्त पाँच पृष्ठों में प्रयुक्त मुहावरों को क्रम से दिया जा रहा है–

पृष्ठ संख्या–21 (i) तनिक न बढ़ने पाए तेरा आँसू का वह झरना!
(ii) माँ तिल–तिल करके मत जलना आनखशिख–आपाद!
(iii) मुँह लटकाए उन मित्रों का वह अस्फुट–सा क्रोध!
(iv) और अपरिचित हितैषियों के बिना तार के तार!
(v) सिर पर लगा चला हूँ तेरी चरण–धूल बस थोड़ी!
(vi) एक–एक दाने के खातिर सौ–सौ पापड़ बेले!

पृष्ठ संख्या–50 (i) बढ़ गई बहुत बात
(ii) अंदर की बात भाँप
(iii) साँप ने चुन–चुनकर
(iv) पैर थे पटकते
(v) एक–एक करके

पृष्ठ संख्या– 100 (i) झूठ–मूठ सुजला–सुफला के गीत न हम अब गाएँग,
(ii) गाँव–गाँव पाँतर–पाँतर को हम भू–स्वर्ग बनाएँग;
(iii) नाहक ही हम पिटते आए, व्यर्थ लाठियाँ खाई हैं
(iv) पहचाना अब, चोर–चोर सब वे मौसेरे भाई हैं
(v) होशियार, कुछ देर नहीं है लाल सबेरा आने में,
(vi) लाल भवानी प्रकट हुई हैं सुना कि 'तैलंगाने में!
(vii) सदियों तक लूटता रहा है, जमा किया है खाएगा;
(viii) गूँज रहा है दसों दिशा में भूखे खेतिहरों का स्वर
(ix) अंग्रेजी, अमरीकी जोंकें, देशी जोंकें एक हुईं,
(x) नेताओं की नीयत बदली भारतमाता टेक हुईं;
(xi) कागज़ की आज़ादी मिलती ले लो दो–दो आने में,

पृष्ठ संख्या– 150 (i) स्वजन–परिजन से नाता तोड़
(ii) हुए हो, बिल्कुल वे–घर–बार
(iii) नहीं है शूल, नहीं है फूल
(iv) कि यश फैला है चारों ओर
(v) शरण आए हैं लाखों लोग

पृष्ठ संख्या–200 (i) कहाँ की कलमुँही मेरे सिर चढ़ आई
(ii) अपनों को खा–पका
(iii) आ गई छुच्छी आग बरसाने
(iv) छीन लिया इसने सब
(v) छाती पर लिटाकर पिलाया है दूध अरे,
मैंने, इस नागिन को अपने ही हाथों
(vi) पकड़कर राँड़ को
(vii) रहेगा न बाँस और बजेगी न बाँसुरी. . .

उपर्युक्त पाँच पृष्ठों पर क्रमशः 06, 05, 11, 05, और 07 मुहावरे प्रयुक्त हुए हैं। कुल मिलाकर 05 पृष्ठों में 34 मुहावरे हुए। प्रति पृष्ठ औसतन 07 मुहावरों के प्रयोग से नागार्जुन की काव्य–भाषा सृजित हुई है। रचनावली के 928 पृष्ठों में प्रकाशित नागार्जुन की कविताओं के बारे में अनुमान लगाया जा सकता है कि इनमें मुहावरों की संख्या छह–साढ़े छह हजार के करीब होगी। छह हजार मुहावरों और उनके काव्य–प्रयोगों को कोश का रूप दिया जा सकता है। ध्यातव्य है कि उपर्युक्त ३४ मुहावरों में एक भी दुहराया हुआ नहीं है।

अन्य प्रगतिशील कवियों की तुलना में नागार्जुन की काव्य–भाषा को सृजित करने में मुहावरों का ज्यादा योगदान है। केदारनाथ अग्रवाल, शमशेर, मुक्तिबोध की काव्य–भाषा में इतने मुहावरे नहीं मिलते। एक अंतर और है कि नागार्जुन परम्परागत मुहावरों से ज्यादा नए मुहावरे गढ़ते हैं। उनके मुहावरे नए होने के बावजूद अपनी माटी–पानी से सम्बन्ध बनाए रखते हैं।

लोक–जीवन और लोक–भाषा से प्राणशक्ति प्राप्त करने वाली नागार्जुन की काव्य–भाषा में लोकोक्तियों/कहावतों का उपयोग नहीं के बराबर हुआ है। लोकोक्तियों का उपयोग मुहावरों की तुलना में विशिष्ट होता है। कहावत की पंक्ति प्रायः लम्बी होती है, जैसे– 'सत्तर/सौ चूहे खाकर बिल्ली हज को चली'। काव्य–पंक्ति में इस कहावत का उपयोग करते हुए ध्यान रखना पड़ेगा कि इसके सात शब्दों में से कोई छूटने न पाए या इस तरह छोड़ा जाए कि पाठक अपनी तरफ से जोड़कर समझ ले। काव्य–पंक्ति में कहावत को इस तरह रखना होता है कि लय/प्रवाह में बाधा उत्पन्न न हो तथा कहावत का स्वरूप भी प्राभावित न हो। मुहावरे गढ़े जा सकते हैं। लोकोक्तियों को गढ़ना आसान नहीं होता।

नागार्जुन की कविताओं में काफी खोजने पर कुछ लोकोक्तियाँ मिलती हैं, जैसे–

i) 'पहचाना अब, चोर–चोर सब ये मौसेरे भाई है,' ('लाल भवानी') I/100

ii) 'खाते हैं गुड़, गुलगुले से रखेंगे परहेज?' (अमलेंदु एम.एल.ए.) I/272

आधुनिक हिन्दी काव्य–भाषा में शैली का प्रश्न शास्त्रीय स्तर पर नहीं उठाया गया है। हिन्दी आलोचना में शैली के विश्लेषण को लेकर सैद्धान्तिक शब्दावली का विकास नहीं हो पाया है। प्रायः काम चलाऊ या तात्कालिक आवश्यकता के अनुसार शैलियों के नामकरण किए गए हैं। इन शैलियों की परिभाषा ठीक–ठीक निर्धारित रूप में नहीं मिल पाती है। वर्णनात्मक शैली, चित्रात्मक शैली, उद्‌बोधनात्मक शैली आदि नाम से शैलियों का वर्गीकरण किसी शास्त्रीय आधार पर नहीं किया गया है।

नागार्जुन की शैली के बारे में आलोचकों की शब्दावली भिन्न–भिन्न मिलती है। केदारनाथ सिंह उनकी कविताओं में 'वर्णन' के बजाय 'चित्रण' की प्रधानता मानते हैं। यह शैलीगत विशेषता ही है। मुरली मनोहर प्रसाद सिंह नागार्जुन की शैली के प्रश्न को इस प्रकार सुलझाते हैं, "नागार्जुन कहीं तो छन्दोबद्ध रचनायें करते हैं और कहीं बातचीत की शैली में निपट संवाद की शैली में रचनायें करते हैं। इसलिए नागार्जुन छन्द कौन–सा

चुनेंगे, रूप–विधान कौन–सा चुनेंगे, यह इस बात पर निर्भर करता है कि वे कहना क्या चाहते हैं? इसलिए वे अपने कथ्य के अनुरूप रूप–विधान को ढालते हैं। वे रूप विधान से बँधे हुए नहीं हैं। और इसीलिए उनकी भाषा के भी अनेक रूप दिखाई देते हैं। कहीं तद्भव शब्दों की भरमार होती है तो कहीं तत्सम शब्दों की भरमार होती है, कहीं मुहावरेदानी खास प्रकार की होती है तो इसलिए नागार्जुन की कविताओं का जो लय–विधान है या छन्दों का रूप है या बातचीत की अन्विति का रूप है या रोजमर्रा के मुहावरे के इस्तेमाल का रूप है। यह सबकुछ किसे सम्बोधित करना है और क्या कहना है इस पर निर्भर करता है।"[46]

मुरली मनोहर प्रसाद सिंह के उपर्युक्त विचार के आधार पर नागार्जुन की शैलियों के नाम इस प्रकार हो सकते हैं– संवाद शैली, तद्भव शब्द–प्रधान शैली, तत्सम शब्द–प्रधान शैली, मुहावरेदार भाषा से युक्त शैली। हिन्दी आलोचना में शैली का प्रश्न गंभीर विश्लेषण की माँग करता है। यह प्रश्न प्रत्येक कवि के बारे में उठाया जाता है, किन्तु हल्के–फुल्के विश्लेषण के साथ औपचारिकता पूरी कर ली जाती है। शैली वस्तुतः भाषा की बुनावट के विविध रूपों से सम्बन्धित होती है। तत्सम, तद्भव या देशज शब्दों के रूप में इसकी प्राथमिक पहचान भी नहीं बन पाती है। यहाँ शब्दों की प्रजाति की वही भूमिका है जो भाषा की इकाई के रूप में हैं। शब्द, शब्द–क्रम, वाक्य का टोन, शब्द के अर्थ, वाक्य का अभिप्राय आदि मिलकर शैली का निर्माण करते हैं। शैली का नामकरण अस्पष्टता लिए हुए नहीं होना चाहिए, जैसा कि हिंदी में मौजूद है।

प्रायः कहा जाता है कि नागार्जुन की शैली व्यंग्यात्मक है। यह भी कहा गया है कि नागार्जुन मुहावरेदार शैली में व्यंग्य करते हैं। तत्सम शब्द–प्रधान शैली, तद्भव शब्द–प्रधान शैली आदि का प्रयोग वे व्यंग्य के लिए करते हैं। इस तरह की शब्दावली से अभिप्राय तो समझ में आ जाता है, किन्तु शैली का प्रश्न उलझ जाता है। शैली का आधार कभी शब्द को बना लिया जाता है, कभी मुहावरे को, कभी कथ्य को तो कभी 'टोन' को। 'मंत्र' कविता को मंत्र शैली की कविता बताने का आधार 'टोन' ही है। शैली के वर्गीकरण का आधार स्पष्ट होना चाहिए। नागार्जुन अनेक शैलियों में व्यंग्य करते हैं। ऐसी स्थिति में 'व्यंग्य शैली' नामकरण भ्रम उत्पन्न करता है। 'अनेक शैलियों में व्यंग्य' और 'व्यंग्य शैली' में पर्याप्त अंतर है पहले से अर्थ निकलता है कि शैली और व्यंग्य भाषा के भिन्न उपकरण हैं जबकि दूसरे से अर्थ निकलता है कि 'व्यंग्य शैली' एक विशिष्ट भाषा–रूप है।

सन्दर्भ :

1. नागार्जुन : प्रतिनिधि कविताएँ– सं. नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 9.
2. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 137-138. /युगधारा/अगस्त 1949.
3. कल के लिए– सं. डॉ. जयनारायण, त्रैमासिक, अक्टूबर–दिसम्बर 1995, बहराइच, पृ. 26.
4. मेरे समय के शब्द– केदारनाथ सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली 1993, पृ. 55.
5. हिन्दी साहित्य कोश, भाग–1, सं. धीरेन्द्र वर्मा, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, 1985, पृ. 246.
6. प्रगतिशील कविता के सौन्दर्य–मूल्य– अजय तिवारी, परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, 1984, पृ. 206.
7. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 25.
8. नागार्जुन रचनावली–2, पृ. 377.
9. 'चिड़िया' शीर्षक कविता, चाँद, जुलाई 1936, पृ. 213.
10. नागार्जुन रचनावली–2, पृ. 196-197/ हज़ार हज़ार बाँहों वाली, 1978.
11. वही।
12. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 300/ सतरंगे पंखों वाली, 1957.
13. नागार्जुन रचनावली–2, पृ. 121/ खिचड़ी विप्लव देखा हमने, 10.01.1976-20.1.1976.
14. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 43/सतरंगे पंखों वाली, 1943.
15. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 226/सतरंगे पंखों वाली, 1952.
16. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 276/ सतरंग पंखों वाली, 1955.
17. नागार्जुन रचनावली–3, पृ. 175.
18. नागार्जुन रचनावली–2, पृ. 94-95/ खिचड़ी विप्लव देखा हमने, 1975.
19. हिन्दी साहित्य कोश, भाग–1, सं. धीरेन्द्र वर्मा, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, 1985, पृ. 398-399.
20. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ग्रंथावली–2, रसमीमांसा, सं. ओमप्रकाश सिंह, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, 2007, पृ. 177.
21. वही, पृ. 201.
22. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 22.
23. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 83, 1947.
24. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 89/युगधारा, रत्नगर्भ, भूमिजा, जून, 1947.
25. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 100, 1948.
26. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 110/इस गुब्बारे की छाया में, 1948.
27. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 113.
28. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 127/युगधारा, 1948.
29. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 129-130.
30. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 165/युगधारा, 1950.
31. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 166-167.
32. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 182/हज़ार–हज़ार बाँहों वाली, 1950
33. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 193/युगधारा, 1951.

34. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 211/ हज़ार हज़ार बाँहों वाली, 1951.
35. नागार्जुन रचनावली–1,पृ.285/हजार–हजार बाँहों वाली/खून और शोले, 1955;शीर्षक : मैं हूँ सबके साथ।
36. नागार्जुन रचनावली–1, पृ. 423/तुमने कहा था, 1966, शीर्षक : आए दिन बहार के।
37. हिन्दी साहित्य : उद्‌भव और विकास– हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1990, पृ. 107-108.
38. हिन्दी साहित्य कोश, भाग–एक, सं०– धीरेन्द्र वर्मा, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, 1985, पृ. 37.
39. नागार्जुन रचनावली–2, पृ. 365, 21 जनवरी, 1985.
40. वही, पृ. 365.
41. वही, पृ. 366.
42. नागार्जुन रचनावली–2, पृ. 19 पुरानी जूतियों का कोरम/जनयुग, 24 मार्च, 1968.
43. नागार्जुन रचनावली–2, पृ. 23-25/जनयुग, 30 जून 1968.
44. वही, 1 पृ. 23.
45. नागार्जुन रचनावली–2, पृ. 27-28/जनयुग, 1 सितम्बर 1968.
46. कल के लिए– सं० डॉ. जयनारायण, अक्टूबर–दिसम्बर, 1995, पृ. 28.

***

उपसंहार

उपसंहार

शोध-प्रबंध को पूरा कर लेने के बाद यह देखा जा सकता है कि नागार्जुन की अनुपस्थिति में हिंदी काव्य-भाषा किन विशेषताओं से वंचित रह जाती। इस प्रक्रिया से जाना जा सकता है कि नागार्जुन ने हिंदी काव्य-भाषा को ऐसा क्या दिया जो अमूल्य और असमानांतर है। नागार्जुन की पहचान 'जनकवि' के रूप में तो ठीक है, 'जनवादी' या 'प्रगतिवादी' कवि के रूप में उनकी पहचान को सीमित करना उचित नहीं है। उनकी पक्षधरता का वैचारिक आधार मार्क्सवाद से जुड़ता जरूर है, किंतु उनकी काव्य-भाषा के स्रोत प्रगतिशील आंदोलन के दायरे के बाहर भी हैं। उनकी राजनीतिक समझ मार्क्सवादी है, किंतु उनकी राजनीतिक कविताओं की भाषा आम आदमी की गैर-मार्क्सवादी भाषा से भी बुनी गयी है।

मार्क्सवादी विचारधारा के रचनाकारों पर आरोप लगाए जाते हैं कि परंपरा, संस्कृति को वे ठीक से नहीं समझते। नागार्जुन की काव्य-भाषा को बनाने में संस्कृत और कालिदास का गहरा योगदान है। भाषा पर धर्म का प्रभाव स्पष्ट तौर पर पड़ता है। नागार्जुन की काव्य-भाषा में परंपरा, संस्कृति और धर्म के व्यापक संदर्भ भरे पड़े हैं। उनका सांस्कृतिक बोध गहरे स्तर का है। उनकी काव्य-भाषा इस अर्थ में सबसे अलग है कि उसमें संस्कृति के बोध और राजनीति की चेतना के बीच कोई उलझन नहीं है।

नागार्जुन का बहुभाषी कविकर्म उनकी दुर्लभ उपलब्धि है। हिंदी को बनाने में जनपदीय भाषाओं की भूमिका को काव्य-भाषा के स्तर पर घटित होते हुए यहाँ देखा जा सकता है। सांस्कृतिक भाषा संस्कृत, मातृभाषा मैथिली और जनपदीय भाषा बँगला को साधने वाला यह कवि जातीय भाषा हिंदी को इनकी सहायता से समृद्ध करता है। इस समृद्धि के विस्तार में उनकी हिंदी काव्य-भाषा कहीं से भी आयातित सिद्ध नहीं हो सकती।

नागार्जुन स्थानीयता को व्यापकता प्रदान करने वाली भाषा में कविता रचकर तात्कालिकता के आरोप का सटीक जवाब देते हैं। वैचारिक निर्द्वंद्वता की स्पष्ट भाषा को काव्य-भाषा बनाने वाला ऐसा कवि जनवादी चरित्रवाली भाषा का सफल प्रयोक्ता है, चाहे

वह संस्कृत, मैथिली अथवा बँगला में ही क्यों न लिखे। देशीपन अथवा स्थानीयता के बावजूद उनकी भाषा 'शब्दपाक' की क्षमता रखती है। अनुभूति, विचार और अभिव्यक्ति की एकात्मकता से निखरी हुई काव्य-भाषा लिखने की उपलब्धि नागार्जुन के पास मौजूद है।

अकाव्यात्मक एवं गद्यात्मक काव्य भाषा का उपयोग करते हुए नागार्जुन कुछ शब्दों को इस प्रकार दुहराते हैं कि कविताई की अनुभूति पाठक को होने लगती है। चलती भाषा को काव्यात्मक बना देने की उनकी क्षमता अद्‌भुत है। नए शब्दों की तलाश या पुराने शब्दों के नए उपयोग का प्रयास उनकी काव्य भाषा की नूतनता का एक आधार है।

सांस्कृतिक-धार्मिक शब्दावली में व्यतिक्रम उत्पन्न करके 'अथवा उन्हें नए संदर्भों से जोड़कर सामाजिक जीवन को व्यक्त करने वाली काव्य-भाषा रचते हुए वे आक्रोश एवं विद्रोह के बावजूद लालित्य को बनाए रखते हैं। हादसों की भाषा के बजाए बदली हुई भाषा में हादसों को व्यक्त करनेवाली काव्य भाषा रचने वाले नागार्जुन मनुष्येतर प्राणियों के माध्यम से मनुष्य की अमानवीय स्थिति को व्यक्त करने का कौशल रखते हैं।

नागार्जुन की काव्य-भाषा के कलात्मक पक्ष भी अपरंपरागत हैं। बिंब, प्रतीक, अप्रस्तुत योजना उनकी काव्य-भाषा के सहज अंग हैं। मुहावरों का खजाना उनकी कविताओं में मौजूद है। व्यंग्य उनकी काव्य-भाषा की एक बड़ी शक्ति है।

नागार्जुन की काव्य-भाषा हिंदी कविता के इतिहास की एक सुदीर्घ उपलब्धि है। अपनी सहजता, सरलता, स्थानीयता, तात्कालिकता को शक्ति-पुंज बना देने की त्वरा रखने वाली उनकी काव्य-भाषा हिंदी कविता की अनेक निशानियों को अपने भीतर समेटे हुए है।

ग्रंथानुक्रमणिका

चयनित ग्रंथों की सूची (Selected Bibliography)

अवस्थी, रेखा : प्रगतिवाद और समानांतर साहित्य, मैकमिलन कंपनी ऑफ इण्डिया लिमिटेट, दिल्ली, 1978

अग्रवाल, महावीर (सम्पादक) : नागार्जुनःविचार सेतु, श्री प्रकाशन, कसारीडीह, दुर्ग (म.प्र.), 1996

अज्ञेय : कवि–दृष्टि, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1983

तारसप्तक (संपादित), भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 1995

आप्टे, वामन शिवराम : संस्कृत–हिन्दी कोश, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1987

उपाध्याय, डॉ. मंजुल (संपा.) अथातो काव्य जिज्ञासा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1996

कमलेश्वर : नयी कहानी की भूमिका, शब्दकार, नयी दिल्ली, 1978

गुप्त, प्रकाशचन्द्र : नया हिन्दी साहित्य : एक भूमिका, सरस्वती प्रेस, बनारस, 1953

गुप्त, मन्मथनाथ : प्रगतिवाद की रूपरेखा, आत्माराम एंड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली, 1952

गुप्त, सुरेशचंद्र : आधुनिक हिन्दी–कवियों के काव्य–सिद्धान्त, हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली, 1960

चतुर्वेदी, रामस्वरूप : हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1996

: हिंदी काव्य संवेदना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2003

: काव्य–भाषा पर तीन निबंध, सं. डॉ. सत्यप्रकाश मिश्र, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1989

चौहान, कर्ण सिंह : प्रगतिवादी आंदोलन का आलेखात्मक इतिहास, नेहर प्रकाशन, मुकर्जी नगर, दिल्ली, 1985

जैन, निर्मला : आधुनिक हिन्दी काव्य : रूप और संरचना, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली, 1984

: आधुनिक हिन्दी काव्य में रूप विधान, नेशनल पब्लिशिंग, दिल्ली, 1963

: पाश्चात्य साहित्य–चिंतन, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1994

जैन, निर्मला	:	साहित्य का समाजशास्त्रीय चिंतन (सम्पादित), हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली, 1992
तलवार, वीरभारत	:	रस्साकशी, सारांश प्रकाशन, दिल्ली, 2002
तिवारी, अजय	:	नागार्जुन की कविता, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1990
	:	प्रगतिशील कविता के सौंदर्य–मूल्य, परिमल प्रकाशन, अल्लापुर, इलाहाबाद, 1984
	:	समकालीन कविता और और कुलीनतावाद, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1994
त्रिलोचन	:	प्रतिनिधि कविताएं : त्रिलोचन, संपा. – केदारनाथ सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1996
देवराज	:	छायावाद : उत्थान, पतन, पुनर्मूल्यांकन, कल्पकार प्रकाशन, लखनऊ, 1975
द्विवेदी, हजारी प्रसाद	:	हिंदी साहित्य : उद्‌भव और विकास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1990
नगेन्द्र	:	आस्था के चरण, भाग–एक (1980), भाग–दो (1992) नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली
	:	हिन्दी साहित्य का इतिहास (सम्पादित), मयूर पेपर बैक्स, नोएडा, 1993
नवल, नंद किशोर	:	मुक्तिबोध : ज्ञान और संवेदना, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1993
नागार्जुन	:	नागार्जुन रचनावली, खंड 1 एवं 2, संपा. – शोभाकांत, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003
		प्रतिनिधि कविताएं : नागार्जुन, संपा. – नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1996
निराला, सूर्यकांत त्रिपाठी	:	निराला रचनावली, भाग 1एवं 5, संपा. – नंदकिशोर नवल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली 1998
पंत, सुमित्रानंदन	:	पल्लव, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1963
पाण्डेय, मैनेजर	:	शब्द और कर्म,, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1997
	:	साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़, 1989
	:	आलोचना की सामाजिकता, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008
	:	साहित्य और इतिहास–दृष्टि, पीपुल्स लिटरेसी, दिल्ली, 1981

पाण्डेय, सुधाकर (संपा.) : हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास, खंड–9, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी, संवत् 2034

प्रसाद कालिका, सहाय, राजवल्लभ श्रीवास्तव, मुकुन्दीलाल : बृहत् हिन्दी कोश, ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी, 1989

प्रेमशंकर : हिन्दी स्वच्छंदतावादी काव्य, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, 1974

भट्ट, प्रकाशचंद्र : नागार्जुन : जीवन और साहित्य, सेवा सदन प्रकाशन, रामपुरा, मन्दसौर (म.प्र.), 1974

भर्तृहरि : भर्तृहरि (वाक्यपदीय का एक अध्ययन), लेखक : के.ए. सुब्रह्मण्य अय्यर, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 1991

माचवे, प्रभाकर (सं.) : आज के लोकप्रिय कविः नागार्जुन, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, 1977

मिश्र, गौरीशंकर : हिन्दी साहित्य का छंदोविधान, बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना, 1975

मिश्र, शिवकुमार : नया हिन्दी काव्य, अनुसंधान प्रकाशन, 1962

: प्रगतिवाद, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1966

मिश्र, शोभाकांत (संचयन, संपादन एवं संयोजन) : नागार्जुन की चुनी हुई रचनाएँ (1,2,3), वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1993

रहवर, हंसराज : प्रगतिवाद–पुनर्मूल्यांकन, नवयुग प्रकाशन, दिल्ली, 1966

राय, लल्लन : हिन्दी की प्रगतिशील कविता, हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़, 1989

वर्मा, कृष्णचंद्र : छायावादी काव्य, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 1972

वर्मा, धीरेन्द्र : हिन्दी साहित्य कोश (भाग– 1,2) ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी, 1985

वर्मा, लक्ष्मीकांत : नयी कविता के प्रतिमान, भारतीय प्रेस, इलाहाबाद, संवत् 2014

वाजपेयी, अशोक : कवि कह गया है, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2000

वाजपेयी, नंददुलारे : हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1995

शर्मा, देवेन्द्रनाथ : पाश्चात्य काव्यशास्त्र (मयूर पेपर बैक्स, नोएडा), नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, नयी दिल्ली, 1995

शर्मा, रामविलास : नयी कविता और अस्तित्ववाद, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1993

: मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1994

: भाषा, युगबोध और कविता, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1981

: परम्परा का मूल्यांकन, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1995

: रूपतरंग और प्रगतिशील कविता की वैचारिक पृष्ठभूमि, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1990

शुक्ल, रामचन्द्र : चिंतामणि, भाग–१, इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद, 1989

: रस–मीमांसा, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संवत् 2048

: हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संवत् 2045

: आचार्य रामचंद्र शुक्ल ग्रंथावली, भाग–2, संपा. – ओमप्रकाश सिंह, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2007

सिंह, केदारनाथ : आधुनिक हिन्दी कविता में बिम्ब–विधान, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1994

: मेरे समय के शब्द, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1993

सिंह, तेज : नागार्जुन का कथा–साहित्य, पराग प्रकाशन, दिल्ली, 1993

सिंह, नामवर : आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1995

: इतिहास और आलोचना, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006

: कविता के नए प्रतिमान, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1993

: छायावाद, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1995

: वाद–विवाद–संवाद, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1991

सिंह, बच्चन : हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाश्न, नई दिल्ली, 1997

सिंह, विजय बहादुर : जनकवि (सम्पादित), राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1984

हंस, कृष्णलाल : प्रगतिवादी काव्य–साहित्य, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 1971

हरिश्चंद्र, भारतेन्दु : भारतेंदु समग्र, संपा. – हेमंत शर्मा, हिंदी प्रचारक संस्थान, वाराणसी, 1989

'हीरा', राजवंश सहाय	:	भारतीय साहित्यशास्त्र कोश, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना, 1973
	:	भारतीय आलोचनाशास्त्र, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना, 1976
त्रिपाठी, विश्वनाथ	:	हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, NCERT, नई दिल्ली, 1998
त्रिलोचन	:	काव्य और अर्थ–बोध, संपादक–अवधेश प्रधान, साहित्य वाणी, इलाहाबाद, 1995
श्रीवास्तव, परमानन्द	:	नयी कविता का परिप्रेक्ष्य, नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, 1968
	:	समकालीन कविता का व्याकरण, शुमदा प्रकाशन, दिल्ली, 1980

ENGLISH REFERENCE BOOKS

Erlich, Victor	:	Russian Formalism, New Haven and London, Yale University, Press, 1981
Williams, Raymond	:	Keywords, Fontana Press, London, 1983
Simpson, J.A. and Weiner, E.S.C.	:	The Oxford English Dictionary, Clarendon Press, Oxford, 1989

पत्र–पत्रिकाएँ (Journals)

1. आजकल
2. आलोचना
3. कथादेश
4. पहल
5. वर्तमान साहित्य
6. वागर्थ
7. हंस
8. कल के लिए
9. उद्‌भावना
10. परिषद् पत्रिका, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना
12. नई कविता